UNIVERSAL LIBRARY

OU_182240

UNIVERSAL LIBRARY

तुलसीकृत विनयपत्रिका एवं त्यागराज-कीर्तन में भक्ति-रस

लीला ज्योति

182240

H 81
L 47 T

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 L47T

Accession No. PGH 9767

Author लीला ज्योती

Title तुलसीकृत विनयपत्रिका एवं योगवाशिष्ठ

This book should be returned on or before the date last marked below. कोलन में आर्थिक रस

तुलसीकृत विनयपत्रिका एवं त्यागराज
कीर्तन में भक्ति-रस

कठिनाई नहीं होती। राम को भी ज्ञानी पुत्र से अधिक भक्ति पुत्र प्रिय है। इसीलिए दोनों साधकों ने अपनी साधना का रूप भक्ति के अंतर्गत ही रखा है। इनकी भक्ति के प्रतिपादन की यही विशेषता है कि इन्होंने अपने जीवन के महान सिद्धांत भक्ति को सामाजिक वस्तु बनाकर समाज के प्रत्येक वर्ग में प्रतिफलित किया है। वास्तव में अन्य संत-भक्तों ने भक्ति को उपदेश या चेतावनी के रूप में प्रतिपादित किया था यह तो स्पष्ट ही नहीं निश्चित भी है विनयपत्रिका तथा कीर्तनों की रस सिक्त रचना लोककल्याण के लिए की गई है। इसलिए इनमें प्रतिपादित भक्ति भी इसी लोक कल्याण से अनुप्राणित है, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्राचीन शास्त्रों के प्रति आस्था होते हुए भी दोनों भक्तों ने 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' के प्रति भी विश्वास रखते हैं। तो भी भक्ति को किसी वर्ग विशेष की संपत्ति न बनाकर इन दोनों ने उसे सामाजिक, 'सुलभ ग्राह्य' बनाया। वैष्णव धर्म की नवधा भक्ति इनके हाथों में सज-सँवरकर और विशेषताओं को संतरित कर अपने संपूर्ण विकसित रूप में अभिव्यक्ति पाई है। दोनों भक्तों ने भक्ति को जीवन के मानसिक रोगों की अमोघ औषधि के रूप में स्वीकार किया तथा उसका व्यावहारिक तथा सुलभ रूप उपस्थित किया है। भक्ति रस को सहज-साध्य मानकर जहाँ दोनों ने उसका निर्वाह किया वहाँ उन्होंने अपने-अपने युग की संशय-ग्रस्त जनता को धर्म के सुदृढ़ पथ पर आरूढ़ भी कर दिया है। परंपरा तथा प्रयोग का भी सुंदर समन्वय इन्होंने दिखाया जो अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन-वर्तमान-भविष्य में मानव के विकास की, उसके कल्याणकारी जीवन की इतनी सुंदर-स्वस्थ संवेदना भक्ति-काल की चिरंतन प्रेरणा कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है।

विनयपत्रिका की रचना का लक्ष्य प्रभु श्रीरामचन्द्रजी की शरण-प्राप्ति है। अपने इस लक्ष्य का संकेत तुलसी ने विनयपत्रिका में अनेक भावों, उक्तियों तथा उदाहरणों द्वारा संवलित किया। विनय के विविध पदों में उनका यह लक्ष्य बार-बार व्यक्त हुआ है। तुलसी ने अपने निवेदन को स्पष्ट एवं प्रभविष्णु बनाने की दृष्टि से ही यह अनुवृति की है। 'कबहुँक दीन दयाल **के भनक परैगी** कान' की भावना से शरण-दान की प्रार्थना अनवरत विनयपत्रिका में की गयी है। उनका आग्रह है कि कृपालु रामचन्द्र अपने संबंध का स्मरण कर उनका सुयश श्रवण कर उनकी शरण में आने वाले तुलसी को रोष त्यागकर करुणा से अपनी शरण में रख लें और सब प्रकार से उसकी रक्षा करें। कितनी स्वाभाविक भावना है। इतना ही नहीं यह भवना पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित-शरणागति-सिद्धांत की कतिपय विशेषताओं को अन्तर्निहित किये हुए हैं। अतः विनयपत्रिका की शरणागति-भावना परंपरागत-सूक्ष्मताओं से निहित है। शरणागति की भावना अत्यंत प्राचीन काल से साधकों का

संबल (आधार) रहा है। श्वेताश्वेतर उपनिषद में कहा गया है—"जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्म को उत्पन्न करता है और जो समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, मैं मुमुक्षु आत्मज्ञान विषयक बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण में जाता हूँ।" दोनों ही भक्त शरणागति को अपना चरम लक्ष्य मानते हैं।

रामानुज तथा रामानन्द की भक्ति साधना क' तुलसी पर गहरा प्रभाव है। विनयपत्रिका में निहित 'शरणागति-साधना' बहुत कुछ प्रपत्ति मार्गनुरूप है।

श्री भरताचार्य ने और स्पष्ट शब्दों में कहा कि अन्य किसी उपाय से अपना अभीष्ट सिद्ध न होने पर अत्यन्त विश्वास-पूर्वक भगवान् से ही अपना उपाय बनने की प्रार्थना या याचना करना ही प्रपत्ति या शरणागति है।

भागवतों के अनुसार प्रपत्ति, शरणागति, न्यास, आत्म समर्पण, आत्म निक्षेप आदि समानार्थक हैं।

अपने असंख्य अपराधों के कारण जब जीव अपने आपको असहाय पाया है, अकिंचन, अगति पाता है तब ज्ञान भक्ति कर्म योग आदि अन्य सभी साधनों को छोड़कर भगवान् का ही भरोसा कर, उसी से प्रार्थना करता है कि तुम्हीं मेरे एक मात्र उपाय बन जाओ यही शरणागति की भावना है।

भक्ति एवं प्रपत्ति में मौलिक अंतर है। वह यह है कि ईश्वर के प्रति अमृत स्वरूपा परा अनुरक्ति भक्ति है जबाके प्रपत्ति की स्थिति में भक्त या साधक संसार के अन्य साधनों को आश्रयों को त्यागकर एकमात्र भगवान् को ही अपना उपाय समझकर उस पर पूर्णतया अवलंबित होता है। भक्ति में भक्त का कर्तव्य है कि तैल धारावत् (तेल की धारा की तरह) भगवान् की स्मृति को अविच्छिन्न रूप से बनाये रखें। प्रपत्ति में यह भगवान् का कार्य या कर्तव्य है। प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी भक्ति कर्म ज्ञान योग में से किसी भी साधन का आश्रय ग्रहण करने वाले 'कपि-किशोर' के समान है जो सदा अपनी माता को स्वयं पकड़े रहते हैं। अपने आपको 'मार्जारि-किशोर' मानते हैं जिन्हें माता स्वयं उठाकर जहाँ इच्छा है वहाँ ले जाती है। तथा उनकी दृष्टि में प्रपन्न को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता है। उसकी सारी जिम्मेदारी प्रभु की है। इसी कारण से इस प्रपत्ति मार्ग को भक्ति ज्ञान योग, कर्म आदि मार्गों से सुगम तथा श्रेष्ठतम माना गया है। स्वयं भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा कि शरणागति 'सर्वगुह्यतम' है तथा अन्य मार्ग 'गुह्याद् गुह्यतर' है। स्पष्ट है कि प्रपत्ति के सबसे निकट मार्ग भक्ति ही है। क्योंकि दोनों में अनुग्रह तथा प्रेम-प्रकर्ष है। दोनों के फल भगवान् ही है। अतः अज्ञ, ज्ञानाधिक तथा भक्ति परवश प्रपत्तिकर्ताओं के तीनों प्रकारों में भक्ति परवश को ही प्रथम प्रधान स्थान दिया गया है।

त्यागराज के कीर्तन, वैष्णव भक्ति और कर्नाटक संगीत के यदि मूलाधार हैं तो उत्तर भारत में तुलसी-काव्य हिन्दू संस्कृति का प्रकाश स्तम्भ है। भारतीय संस्कृति की वैष्णव पृष्ठभूमि में इन दोनों महाकवियों की वाणी ने पावन **स्रोतस्विनियों** को प्रवाहित किया। एक ओर वर्षों तक तुलसी के अध्ययन और अध्यापन ने तथा दूसरी ओर कार में परम्परित त्यागराज कीर्तन ने मेरे मानस पर एक असीम प्रभाव डाल दिया जिससे इस विषय के चयन पर मुझे अत्यधिक हर्षोल्लास की अनुभूति हुई।

प्रथम अध्याय में मैंने वैष्णव भक्ति के स्रोत और परम्परा का अध्ययन प्रस्तुत किया। इसमें उसके उद्भव और विकास के साथ स्वरूप विवेचन के अनुशीलन का सत्प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय में मैंने तुलसी की और त्यागराज की वैष्णव भक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भारतीय संस्कृति की दीर्घ परम्परा में वैदिक मंत्रों के उपरान्त पौराणिक आख्यानों की समन्वित संस्कृति विकसित हुई थी। यज्ञों के उपरान्त जब धर्म की परिकल्पना की गई, तब सामाजिक उत्थान उन्नयन के लिये इन कवियों ने लोकायत देवी देवताओं के साथ भक्ति को मानुषी गाथाओं से जोड़ दिया था। तभी भक्ति पल्लवित हुई।

तृतीय अध्याय में भक्ति रस का विवेचन है। असंख्य वैष्णव आचार्यों ने आंतरिक संस्कार प्रवाह-तल में सारे मूल्य और सारे अनुभव भक्ति-रस को विम्बाकार रूप में व्यक्त किया है। यद्यपि भक्ति-रस 'व्यक्ति चैतन्य' से उद्भूत हुआ था तथापि उसे सामूहिक जातीय चैतन्य की चिद धातु मिली और सहस्रावधि की परम्परा में चल पड़ी। मनुष्य के भग्न आंतरिक व्यक्तित्व के लिये तुलसी और त्यागराज ने उसे सम्पोषित किया। इन्होंने वैष्णव भक्ति को रस और राग के माध्यम से त्रिभुवन व्यापी अभिव्यक्ति दी।

चतुर्थ अध्याय में ज्ञान-भक्ति की अपेक्षा श्रद्धा एवं शील पर विशेष बल दिया गया है। तुलसी एवं त्यागराज ने ईच्छा शक्ति के ही आनन्दलोक में प्रवेश कर अपने को स्वस्थ और निसज-विशुद्ध करने का प्रयत्न किया तथापि वैष्णवता को पूर्णता प्रदान करने के लिये भक्ति और संगीत के समन्वय को सामाजिक अर्थ भी दिया। इसीलिये रस निरूपण की प्रक्रिया में भक्ति के मूल्य बोध को विवेकाश्रित ही नहीं वरन् जीवन-दर्शन में प्रतिबद्ध भी किया।

पंचम अध्यायं में संतों की संगीतज्ञता पर प्रकाश डाला गया है। उनका मानस एक तृषादग्ध शून्य था। राम के जाप से उन्होंने संगीत की ध्वनि में उस मर्म को

आविष्कृत किया जिससे उनके मानस शून्य में संगीत की ध्वनि फूट पड़ी। कवि और कलाकार, दोनों भक्ति की रस-ध्वनि में सविकल्प समाधि में डूब गये। वे जप को एकान्त निर्मल क्षणों का, अपनी भाव-विगलित प्रार्थना का, सर्व समर्पण का, रस और आध्यात्मिकता के अनुषंग में रखकर लोकधर्मी भक्ति का निर्देश करते रहे।

मैं सर्वप्रथम 'तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्' के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ जिसने मुझे इस कृति के प्रकाशनार्थ अनुदान देकर प्रोत्साहित किया। उसी के **फलस्वरूप आज** यह पुस्तक पाठक के लिए प्रस्तुत है।

इस शोध-कार्य के प्रेरणास्रोत आचार्य चक्रवर्ती जी (भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय) की मैं आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस कार्य के संपन्न होने में मेरी सहायता की।

इस शोध कार्य की अवधि में मुझे आचार्य डॉ० सियाराम शरण प्रसाद का अपरिमेय सहयोग और सत्परामर्श मिला। उनके कुशल निर्देशन से ही इस कार्य की सम्पूर्ति सम्भव हो सकी। अतएव मैं हृदय से उनकी आभारी हूँ।

डॉ० आशा किशोर प्रोफेसर एवं अध्यक्षा, हिन्दी विभाग, बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर ने मेरी बहुमुखी सहायता की है। अतः मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इस शोध कार्य के लिए मेरे परिवार के अन्य सदस्य, मेरे जीवन साथी डॉ० भारत भूषण जी, मेरी सुपुत्री, मेरे सुपुत्र ने मुझे गृहकार्य से मुक्त रखा। परिणाम स्वरूप यह कार्य **संपन्न हो सका।**

मेरे पूज्य पिताजी डॉ० कुटुंबराव जी से ज्ञान के क्षेत्र में मुझे सदैव प्रेरणा मिली है। अतः उनके प्रति भी मैं अपनी प्रणति निवेदित करती हूँ।

इस शोध के प्रवचन में मैंने अनेक लेखकों एवं प्रकाशकों की कृतियों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्राप्त की है। उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता स्वीकृत करती हूँ। श्री दिनेशचन्द्र ग्रोवर, लोकभारती प्रकाशन ने इसे सहर्ष एवं शीघ्र प्रकाशित किया है। अतः वे मेरे साधुवाद के पात्र हैं।

या परितोषात् न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्—*कालिदास*

डॉ० लीला ज्योति

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

उस्मानिया विश्वविद्यालय

हैदराबाद (आं० प्र०)

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन		...	VII
भूमिका		...	IX-XI
आमुख		...	XIII-XVIII
प्रथम अध्याय :	वैष्णव भक्ति : स्रोत और परम्परा	...	1-32
द्वितीय अध्याय :	तुलसी एवं त्यागराज की वैष्णव भक्ति	...	33-82
तृतीय अध्याय :	भक्ति-रस	...	83-132
चतुर्थ अध्याय :	तुलसी एवं त्यागराज की कृतियों में भक्ति-रस	...	133-174
पंचम अध्याय :	तुलसी एवं त्यागराज की संगीतात्मकता	...	175-216
षष्ठम अध्याय :	विनयपत्रिका एवं त्यागराज के कीर्तनों की शिल्पगत विशेषताएँ : साम्य एवं अन्तर	...	217-227
	उपसंहार	...	228-232

प्रथम अध्याय

वैष्णव भक्ति : स्रोत और परम्परा

1.1 भक्ति : उद्भव और विकास

1.1.1 भक्ति की व्युत्पत्ति

व्युत्पत्ति और अर्थ—"भक्ति" शब्द "भज्" धातु में क्तिन् प्रत्यय लगने से बना है। भज् धातु के अनेक अर्थ हैं, जैसे सेवा, विभाग, गौणवृत्ति भंगी, अनुराग विशेष आदि।[1] संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में इसके इतने अर्थ दिए गए हैं— आराधना, सेवा, भज़न, विभाग, विश्वास, उपचार, आश्रय लेना, आश्रित होना, आराध्य देवता का नाम जपना तथा उसका बारम्बार स्मरण और ध्यान करना।[2] अत: ऐसा कहा जा सकता है कि भक्ति किसी व्यक्ति के अपने आराध्य देव के प्रति निरन्तर स्नेह रखने का नाम है। सामान्यत: भक्ति अपने से किसी भी बड़े आदमी या देवता के प्रति स्नेह का नाम है किन्तु विशेष रूप में भक्ति शब्द का प्रयोग केवल ईश्वर प्रेम के अर्थ में किया जाता है। इसलिए मनोवृत्ति से श्री प्रभु का दर्शन, भावना से सेवन-मनन, नेत्रों से भगवत्प्रेमी संतों का और प्रभु-प्रतिमा, चित्रादिकों का दर्शन, मुख से श्री भगवान् की गुण-स्तुति, सुयश-युक्त चरित्रों का कीर्तन, गान, कानों से इन्हीं चारों का श्रवण, हाथों से श्री हरि-प्रतिमा और श्री गुरु-संतों की पूजा-सेवा, चरणों से परिक्रमा[3] आदि भक्तितल्लीन व्यक्ति के कार्य हैं। इन्हीं कारणों से भक्ति की परिभाषा ईश्वर से ही सम्बन्धित भिन्न-भिन्न रूपों में की गई है।

कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं:—

परिभाषाएँ

(क) सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।[4]

वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा है।

---

1. हलायुध कोश : पृ. 487
2. पृ. 876, पाँचवाँ संस्करण 2008 वि.
3. भक्तमाल प्रियादास की टीका सहित भूमिका—पृ. 1
4. नारद भक्ति सूत्र—संख्या—2

(ख) सा परानुरक्तिरीश्वरे।[1]

ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है।

(ग) या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।[2]

अविवेकी पुरुषों की विषयों में जो अविचल प्रीति होती है वह आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से कभी दूर न हो।

(घ) स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।[3]

पंडितों के द्वारा स्नेहपूर्वक परमात्मा में ध्यान लगाना ही भक्ति की संज्ञा पाता है।

(ङ) उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदक भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम्
अनन्यभावेन नियम्य मानसं महर्षिमुख्यैर्भगवत्परत्वतः।[4]

विद्वद्वर्य परम भक्ति रस-रसिक महर्षियों ने अनन्यभाव से तत्परता के साथ सर्वदा पुनः-पुनः छल, कपट, प्रपंच आदि से रहित परमात्मा की सेवा को ही भक्ति कहा है।

(च) द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता
सर्वेरोम नसोवृत्ति भक्ति रित्यभिधीयते।[5]

धर्मबुद्धि-पूर्वक भगवद्‌गुणों का आराधन करने से द्रवीभूत चित्त का अविच्छिन्न धारावाहिक रूप तेल धारावत् भगवद् आकार वृत्ति ही भक्ति का लक्षण कहा जाता है।

(छ) क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा।[6]

क्लेशों का नाश करने वाली, कल्याणदायिनी मोक्ष से भी महत्वपूर्ण, दुर्लभ, गाढ़े, आनन्द की विशेषता से युक्त और श्रीकृष्ण को आकर्षित करने वाली वृत्ति ही भक्ति है।

---

1. शांडिल्य भक्ति सूत्र—1 अध्याय—2 संख्या
2. विष्णु पुराण 1/20/19
3. गीता पर रामानुजभाष्य 7 अध्याय, 1 श्लोक
4. श्री वैष्णवमताब्जभास्कर रामानन्द, 65वाँ श्लोक
5. भक्ति रसायन : मधुसूदन सरस्वती, 3 सूत्र
6. श्री हरिभक्ति रसामृत सिंधु : प्रथम लहरी, पूर्व विभाग, 13 श्लोक

(ज) धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है।[1]

1.1.2 परिभाषाएँ

ऊपर जो भक्ति के लक्षण बतलाये गए हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति के हृदय में भक्ति उत्पन्न होने के लिए निम्नांकित बातें अपेक्षित हैं:—

(1) उस व्यक्ति का एक पूर्ण, सर्वव्यापक तथा सर्व्रशक्तिमान् परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास।

(2) उस परमात्मा के प्रति उक्त व्यक्ति का श्रद्धापूर्ण विश्वास और अविरल प्रेम।

(3) परमात्मा का सगुण स्वरूप, विशेषत: मानवावतार भक्ति के लिए विशेष आवश्यक है।

जब तक मनुष्य इस समग्र विश्व में एक तत्व का दर्शन नहीं करता तब तक उसके हृदय में पूर्ण श्रद्धा हो नहीं सकती। यदि श्रद्धा पूर्ण नहीं तो प्रेम की अनन्यता और पूर्णता भी असम्भव है। उस ईश्वर को वह आराधक पहले जानने का प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि उसमें सबसे पहले ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा होती है। बारम्बार चिन्तन और मनन से जब मनुष्य के हृदय में उनके प्रति विश्वास उत्पन्न हो जाता है तब उसके हृदय में उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है जिसे भक्ति कहा जाता है। तुलसीदास ने इस प्रक्रिया को निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया है—

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।[2]

ईश्वर के अनेक रूप हैं जिनमें दो प्रमुख हैं 1. सगुण, 2. निर्गुण। दोनों ही रूप परस्पर सापेक्ष हैं। किन्तु कुछ लोग इन दोनों रूपों को स्वतन्त्र मानते हैं और कुछ तो उसके सगुण रूप को स्वीकार ही नहीं करते। इसलिए वे निर्गुण भक्ति को ही ईश्वर की वास्तविक भक्ति मानते हैं। कुछ लोग ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करते हैं किन्तु उसका मनुष्य रूप में अवतार नहीं मानते। किन्तु कुछ लोग सगुण ब्रह्म के अवतारों को भी स्वीकार करते हैं। इसलिए भक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हो जाते हैं। हिन्दू धर्म के अधिकांश भक्त ईश्वर के निर्गुण-सगुण एवं अवतार रूप को भी स्वीकार करते हैं। यद्यपि ईश्वर के निर्गुण रूप को वे आराधना के सर्वथा उपयुक्त नहीं मानते। इस तथ्य के समर्थन के लिए लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य का निम्नांकित उद्धरण द्रष्टव्य है।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि—पृ. 7
2. रा. च. मा.—उत्तरकांड—88वाँ दोहा, पृ. 537

"उपनिषदों में जिस श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है वह इंद्रियातीत, अव्यक्त, अनन्त, निर्गुण और "एकमेवाद्वितीय" है। इसलिए उपासना का आरम्भ उस स्वरूप से नहीं हो सकता। कारण यह है कि जब श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप का अनुभव होता है, तब मन अलग नहीं रहता, किन्तु उपास्य और उपासक अथवा ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों एकरूप हो जाते हैं। निर्गुण ब्रह्म अन्तिम साध्य वस्तु है, साधना नहीं और जब तक किसी न किसी साधना से निर्गुण ब्रह्म के साथ एकरूप होने की पात्रता मन में आये, तब तक इस श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार हो नहीं सकता। अतएव साधन की दृष्टि से की जाने वाली उपासना के लिए जिस ब्रह्मस्वरूप को स्वीकार करना होता है, वह दूसरी श्रेणी का अर्थात् उपास्य-उपासक के भेद से मन को गोचर होने वाला है, यानी सगुण ही होता है, इसलिए उपनिषदों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म की उपासना कही गई है वह यद्यपि अव्यक्त अर्थात निराकार है तथापि छांदोग्योपनिषद (3, 14) में कहा है कि वह प्राण, शरीर, सत्य संकल्प, सर्वगंध, सर्वरस, सर्वकर्म अर्थात् मन को गोचर होने वाले सब गुणों से युक्त हो। स्मरण रहे, कि यहाँ उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है, तथापि वह अव्यक्त अर्थात् निराकार है। परन्तु मनुष्य के मन की स्वाभाविक रचना ऐसी है कि सगुण वस्तुओं में से भी जो वस्तु अव्यक्त होती है, अर्थात् जिसका कोई विशेष रूपरंग आदि नहीं और इसलिए जो नेत्रादि इन्द्रियों को अगोचर हो, उस पर प्रेम रखना या हमेशा उसका चिंतन कर मन को उसी में स्थिर करके वृत्ति को तदाकार करना मनुष्य के लिए बहुत कठिन और दुःसाध्य भी है। क्योंकि मन स्वभाव ही से चंचल होता है।

यह मन बार-बार ज्ञानी पुरुषों को भी दुष्कर प्रतीत होता है। ऐसे परमेश्वर पर प्रेम करने और उनमें अपनी कृति को लीन करने के लिए, जो सर्वकर्त्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ (अतएव सगुण है) परन्तु निराकार अर्थात् अव्यक्त है, मन के सामने प्रत्यक्ष नामरूपात्मक किसी वस्तु के रहे बिना साधारण मनुष्यों का काम नहीं चलता। यही क्यों पहले किसी व्यक्त पदार्थ के देखे बिना मनुष्य के मन में अव्यक्त की कल्पना ही जाग्रत नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, जब हम लाल, हरे अनेक व्यक्त रंगों को पहले देख लेते हैं तभी रंग की सामान्य और अव्यक्त कल्पना जाग्रत होती है, यदि ऐसा न हो तो रंग की यह अव्यक्त कल्पना हो ही नहीं सकती। जब तक मनुष्य अपने मन के इस स्वभाव को अलग नहीं कर सकता, तब तक उपासना के लिए यानी भक्ति के लिए निर्गुण से सगुण में—और उसमें भी अव्यक्त सगुण की अपेक्षा व्यक्त सगुण ही में आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। यही कारण है कि व्यक्त उपासना का मार्ग अनादि काल से उपनिषदों में मनुष्य-रूपधारी व्यक्त ब्रह्म-स्वरूप की उपासना का वर्णन है। और भगवद्गीता में कहा गया है—

क्लेशोधिकतरस्तेषांमव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिखाप्यते॥ *(12, 5)*

अर्थात् अव्यक्त में मन की एकाग्रता करनें वाले को बहुत कष्ट होते हैं क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना देहेन्द्रियधारी मनुष्य के लिए स्वभावतः कष्टदायक है इस प्रत्यक्ष मार्ग को ही भक्ति मार्ग कहते हैं। इसमें कुछ संदेह नहीं, कि कोई बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धि से परब्रह्म के स्वरूप का निश्चय कर उसके अव्यक्त स्वरूप में केवल अपने विचारों के बल से अपने मन को स्थिर कर सकता है परन्तु इस रीति से अव्यक्त में मन को आसक्त करने का काम भी तो अन्त में श्रद्धा और प्रेम से ही सिद्ध करना होता है इसलिए इस मार्ग में भी श्रद्धा और प्रेम की आवश्यकता छूट नहीं सकती। तात्विक दृष्टि से सच्चिदानन्द ब्रह्मोपासना का समावेश भी प्रेममूलक भक्तिमार्ग में ही किया जाना चाहिए। परन्तु इस मार्ग में ध्यान करने के लिए जिस ब्रह्मस्वरूप को स्वीकार किया जाता है, वह केवल अव्यक्त और बुद्धिगम्य अर्थात ज्ञानगम्य होता है और इसी से प्रधानता दी जाती है इसलिए क्रिया को भक्तिमार्ग न कहकर आध्यात्मिक विचार, अव्यक्तोपासना या केवल उपासना अथवा ज्ञानमार्ग कहते हैं, और उपास्य ब्रह्म के सगुण रहने पर भी जब उसका अव्यक्त के बदले व्यक्त और विशेषतः मनुष्य देहधारी—रूप स्वीकृत किया जाता है तब वही भक्तिमार्ग कहलाता है।

1.1.3 भक्ति के भेद

भक्ति के भेद भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। यदि उपासक या भक्त की भावनाओं के विकास की दृष्टि से देखें तो भक्ति के तीन भेद कर सकते हैं। (1) श्रद्धाभक्ति, (2) भावना भक्ति, और (3) शुद्धा भक्ति। यदि उपास्य के प्रति श्रद्धा रखें और उसके स्नेह में तल्लीन होकर उसे नमस्कार करें या उसकी प्रशंसा करें तो वह श्रद्धा भक्ति कही जा सकती है।[1] जब एक में अनेक और अनेक को एक में देखते हैं और अनेक की सेवा के द्वारा ही एक की सेवा करने का प्रयत्न करते हैं तब कार्य में भी एक गहरी एकान्त भावना की अनुभूति होती है और तब हम उसे भावना भक्ति की संज्ञा दे सकते हैं।[2] जब भक्त ईश्वर या अपने आराध्य देव को निर्गुण सगुण तथा अवतार रूप में भी स्वीकार करता है और उसके प्रति अपने अविरल प्रेम का प्रदर्शन करता है तो वह शुद्ध भक्ति कहलाती है जैसे गीता रहस्य के उद्धरण से स्पष्ट किया गया है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने "भक्तियोग" नामक ग्रंथ में भक्ति की तीन अवस्थाएँ—श्रद्धा, प्रीति तथा तदीयता स्वीकार की हैं।[3]

रूपगोस्वामी ने भक्ति के दो भेद स्पष्टतः किए हैं—साध्य भक्ति तथा साधन भक्ति। साध्य भक्ति को ही भावभक्ति—पराभक्ति आदि नामों से अभिहित करते हैं।

---

1. भगवत कुमार—द भक्तिकल्ट इन ऐन्सियन्ट इंडिया—पृ. 3
2. उपरिवत्, पृ. 82
3. भक्तियोग—पृ. 84-87, स्वामी विवेकानन्द

साधन मार्ग की भक्ति को गौणी भक्ति भी कहा जाता है। इस साधन भक्ति के दो भेद उन्होंने किए हैं—1. वैधी तथा 2. रागानुगा।[1] जहाँ शास्त्रों का शासन, नियम-निर्धारण स्वीकार करते हुए भक्ति की जाती है वहाँ वैधी भक्ति है। लेकिन जहाँ केवल कृष्ण के प्रेम की कामना रहती है वहाँ रागानुगा भक्ति कहलाती है।

1.1.4 साधनों की दृष्टि से

यदि हम भक्तों के आधार पर भक्ति के भेद करें तो वह भागवत के अनुसार इस प्रकार होगा—

श्रवणं कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।[2]

अर्थात् जब आराधक अपने आराध्य देव की सेवा निम्नांकित व्यापारों से करता है उसके अनुसार भिन्न-भिन्न नौ नाम होते हैं, जैसे स्मरण, कीर्तन, श्रवण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। ये सारे भेद भक्ति की क्रियाओं से सम्बन्धित हैं।

1.1.5 वृत्तियों के आधार पर

भक्त की विभिन्न वृत्तियों को ध्यान में रखकर भक्ति के चार भेद किए गए हैं।—1. तामसी, 2. राजसी, 3. सात्विकी, 4. निर्गुण।[3] पुनः आराध्य और आराधक के पारस्परिक सम्बन्ध के दो भेद से भी भक्ति के अनेक भेद किए जाते हैं। जैसे कामजन्य भक्ति, द्वेषजन्य भक्ति, भयजन्म भक्ति, हास्यजन्य भक्ति, विस्मयजन्य भक्ति, उत्साहजन्य भक्ति इत्यादि।[4]

प्रियादास ने "भक्तमाल" की भूमिका में भक्ति की व्याख्या करते हुए भक्ति के पाँच भेदों की चर्चा की है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार तथा इनके रंगों की भी कल्पना की है। शांत का रंग श्वेत, दास्य का चित्र-विचित्र, सख्य का लालरंग, वात्सल्य का कंचन रंग तथा शृंगार का श्याम रंग।[5]

भक्ति के लक्षण पर विचार करने के पश्चात् हमें उस विकास पर विचार करना है। यह तो सही है कि मानव-मस्तिष्क असंख्य परस्परविरोधी भावों का

---

1. **वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनामिधा। हरिभक्तिरसामृतसिंधु—पूर्वविभाग** 2 **लहरी**
2. **भागवत पुराण—सप्तम स्कन्ध—श्लोक**—23-24.
3. **भागवत—तृतीय स्कन्ध**—29 **अध्याय, श्लोक** 7-14.
4. **भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, द्वितीय उल्लास, श्लोक** 3 **से** 25 **तक**
5. **शांत दास्य सख्य वात्सल्य और सिंगार चारु, पाँचों रस सार विसरत नीचे गाये हैं।**

पुंजीभूत रूप है और सम्भवत: सभी भावों पर विजय प्राप्त करके केवल भक्ति को ही हृदय में स्थान देना उसके लिए असंभव कार्य है। मानव के लिए शरीर की सारी वृत्तियों को दबाकर किसी एक वृत्ति को अपने में बनाए रखना सर्वथा असम्भव है। इसलिए केवल भक्ति, केवल ज्ञान या केवल कर्म मनुष्य के जीवन में उसके लक्ष्य नहीं बन सकते। प्रयत्न से थोड़े या अधिक अंश में ज्ञान, कर्म और भक्ति में कुछ-न-कुछ पारस्परिक मिश्रण रह ही जाता है। यह भी सही है कि ऐसी कोई वृत्ति हो नहीं सकती जिसमें केवल ज्ञान, केवल भक्ति या केवल कर्म की ही चर्चा की गई हो। जीवन के जिस प्रकार टुकड़े नहीं हो सकते उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति को न तो जुदा किया जा सकता है और न तो ये जुदा हैं ही।[1] यह सम्भव है कि कोई कृति केवल कर्म प्रधान हो, केवल भक्ति प्रधान हो या केवल ज्ञानप्रधान हो। इसलिए भक्ति का बीज यत्नपूर्वक ढूँढ़ने से प्राचीन योगप्रधान या कर्मप्रधान ग्रन्थों में भी अवश्य मिल जाएगा। इसलिए जो यह कहते हैं कि वेदों में भक्ति का अस्तित्व है ही नहीं वे पूर्णत: भ्रांत समझे जा सकते हैं। कोई भी आस्तिक मनुष्य ऐसा हो नहीं सकता जो ईश्वर के प्रति श्रद्धा या प्रेम रखे बिना उसे अपने कार्य में सहयोग देने के लिए आमन्त्रित करे। वेदों के मन्त्र जीवन्मुक्त महर्षियों के द्वारा श्रद्धासम्पन्न हृदय से कर्मयोग के सम्पादन के लिए देवताओं के प्रति आह्वान हैं।

मोक्ष के उपाय सभी उपनिषदों में बताए गये हैं परन्तु कहीं भी इस प्रसंग में भक्ति की चर्चा नहीं आती। नचिकेता को यक्ष ने—

"विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्" क. *(2/3/18)*

इस ब्रह्म विद्या और सम्पूर्ण योगविधि की दीक्षा दी, जिससे नचिकेता को मोक्ष की प्राप्ति हुई। वहीं यह भी लिखा है कि जो दूसरा कोई भी इस मार्ग का अवलम्बन करेगा, वह मुक्त होगा।

छांदोग्य में कई विद्याओं का उपदेश है, परन्तु उनमें भक्ति की गणना नहीं है। क्या वेद मोक्ष के विषय में प्रमाण नहीं है? यदि यह बात हो तो फिर हिन्दुओं के पास कोई भी धार्मिक आधार नहीं रह जायेगा, क्योंकि श्रुति को छोड़कर ऐसा एक भी ग्रथ नहीं है जो सर्वमान्य हो।[2]

वेद की ऋचाओं में देव (प्राण) ओतप्रोत हैं। देव का अर्थ जीवन होने से वेद जीवनकाव्य है। वेद जीवनप्रवाह को सतत प्रवहमान रखने के लिए ब्रह्म को साकार रूप में आबद्ध नहीं करता। वेद का कथन है कि ब्रह्म का कोई आकार या उपमान नहीं है। साकार स्वरूप के अभाव में ब्रह्म से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना

---

1. **गीताप्रवचन—आचार्य विनोबा भावे—पृ.** 83.
2. **कल्याण—भक्ति अंक—डॉ. सम्पूर्णानन्द—पृ.** 109-110.

असम्भव है। व्यक्तिगत सम्बन्धों के अभाव में भक्ति का निःसृत होना दुष्कर है। वेद जीवन काव्य होने से भक्ति का स्रोत नहीं है। वेद जीवन काव्य है, इस चरम सत्य की अवहेलना कर डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. बेनी प्रसाद, जदुनाथ सिंहा, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पं. बलदेव उपाध्याय, श्री कृष्णदत्त भारद्वाज, डॉ. सील, बेल्बेडकर, राणा डे प्रभृति विद्वानों ने इन्द्र इत्यादि देव को चेतन व्यक्तित्व के रूप में अंगीकृत कर यह स्वीकार किया है कि वेद भक्ति का आदि स्रोत है।

देव शब्द की व्याख्या से स्पष्ट है कि वेद में किसी भी देव को चेतन व्यक्तित्व (साकार-स्वरूप) प्राप्त नहीं हुआ है। वेद में देवों का अर्थ प्राण है। वेद में चित्रित हुए देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में श्री अरविंद का मत है कि देवताओं के नाम ही इस बात के द्योतक हैं कि वह केवल विशेषण है, वर्णन हैं, किसी स्वतन्त्र व्यक्ति के वाचक नाम नहीं। मैक्समूलर का यही विचार है कि वैदिक देव जीवित व्यक्ति नहीं थे अपितु वह गुणवाचक संज्ञा है। यास्क का कथन है कि देव जीवित प्राणी न थे, प्रत्युत जड़-पदार्थ हैं।[1]

अपने मूल रूप में भक्ति आर्येतर प्रवृत्ति थी और वह आर्यों एवं द्रविड़ों के भारत आगमन के पहले से ही भारतीय जनता में विद्यमान थी। चूँकि द्रविड़ भारत में आर्यों से पहले आये, इसलिए भक्ति तत्व पहले द्रविड़ धर्म में समाविष्ट हुआ। वैदिक आर्यों में भक्ति का प्रस्फुटित रूप नहीं मिलता, क्योंकि उनका धर्म हवन और यज्ञ तक सीमित था। जब तक यज्ञवाद लोकप्रिय रहा, आर्य जनता का ध्यान भक्ति की ओर नहीं गया, जो उस समय द्रविड़ जनधर्म का अंग समझी जाती थी। पीछे ब्राह्मणों के काल में जब यज्ञवाद निर्जीवता धारण करने लगा और ऋषिगण उपनिषदों में एक नए धर्म की खोज़ करने लगे, तभी आर्य जनता ने भक्ति को अपनाया होगा क्योंकि यज्ञवाद की जड़ता से उनका मन ऊबने लगा था।[2]

किसी भी साहित्य में यदि भक्ति का प्रतिपादन है तो उसमें भक्ति शब्द का प्रयोग करना कोई आवश्यक नहीं है। भक्ति शब्द का प्रयोग हो या न हो, हमें उसमें यही देखना है कि उसमें वर्णित आराधक अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा, स्नेह और विश्वास की अभिव्यक्ति करता है कि नहीं। कोरा कर्मकांड भक्तिहीन भी हो सकता है और भक्तिपूर्ण भी। उपनिषदों के संबंध में श्री सम्पूर्णानन्द का कथन है कि उसमें भक्ति का पता नहीं चलता उसके उत्तर में उन उपनिषदों के निम्नांकित उद्धरण पर्याप्त होंगे—

1. **अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनो नेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः। तद्ध तद्धनं नाम तद्धनमित्युपासित्तव्यं स य एतदेवं वेदाभि है नं**

1. रामावतार—एम.ए., सम्मेलन पत्रिका, भाग-44, —संख्या-4, पृ. 32-33.
2. रामधारी सिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 295.

सर्वाणि भूतानि संवांछन्ति।[1]

अब उदाहरण दिया जाता है कि मन इस ब्रह्म के समीप जाता हुआ-सा प्रतीत होता है तथा इस ब्रह्म को निरन्तर अतिशय प्रेम-पूर्वक स्मरण करता है, इस मन के द्वारा ही उस ब्रह्म के साक्षात्कार की उत्कट अभिलाषा भी होती है।

वह परब्रह्म परमात्मा प्राणिमात्र का प्रापणीय होने के कारण "तद्वन्" नाम से प्रसिद्ध है, वह आनन्दघन परमात्मा प्राणिमात्र की अभिलाषा का विषय और सबका परम प्रिय है, इस भाव से उसकी उपासना करनी चाहिए, वह जो भी साधक उस ब्रह्म को इस प्रकार जान लेता है, वह प्राणिमात्र का प्रिय हो जाता है।

2. **एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य**
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्‌म नचिकेतसं मन्ये।[2]

मनुष्य जब इस धर्ममय उपदेश को सुनकर भली-भाँति ग्रहण करके और उस पर विवेक-पूर्ण विचार करके इस सूक्ष्म आत्मतत्व को जानकर अनुभव कर लेता है तब वह आनन्द-स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को पाकर आनन्द में ही मग्न हो जाता है। तुम नचिकेता के लिए मैं परमधाम का द्वार खुला हुआ मानता हूँ।

3. **न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्**
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।[3]

इस परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप अपने सामने प्रत्यक्ष विषय के रूप में नहीं ठहरता। इसको कोई भी चर्मचक्षुओं द्वारा नहीं देख पाता, मन से बारम्बार चिंतन करके ध्यान में लाया हुआ वह परमात्मा निर्मल और निश्चल हृदय से विशुद्ध बुद्धि के द्वारा देखने में आता है। जो इसको जानते हैं वे अमृत स्वरूप हो जाते हैं।

4. **यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ**
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः
प्रकाशन्ते महात्मनः।[4]

जिसकी परमदेव परमेश्वर में परम भक्ति है तथा जिस प्रकार परमेश्वर में है उसी प्रकार गुरु में भी है उस महात्मा पुरुष के हृदय में ही ये बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं।

---

1. **केनोपनिषद्—खण्ड**-4 **मंत्र** 5-6 —**गीता प्रेस, गोरखपुर**
2. **कठोपनिषद्—अध्याय**-1, **वल्ली**-2, **श्लोक** 13.
3. **कठोपनिषद्, अ.** 2, **वल्ली** 3, **श्लोक सं.** 9.
4. **श्वेताश्वेतरोपनिषद्, अध्याय** 6, **श्लोक** 23.

रामावतार ने देवताओं को जड़ बतलाया है और इसके लिए यास्क की दुहाई दी है। किन्तु यास्क ने अपने निरुक्त में स्पष्टतः लिखा है कि—

"एकस्यात्मनयो न्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।"[1]

अर्थात् एक ही आत्मा (परमात्मा) के दूसरे देवता (जड़ या चेतन) प्रत्यंग होते हैं और उस पर जो व्याख्या है उसका अन्तिम निष्कर्ष है—सा एष महानात्मा अग्नीन्द्र सूर्याध्यांग प्रत्यंगभावेन व्युहमनुभवन् एकोपि सन् बहुधा स्तूयते।" अर्थात् वही महान् आत्मा अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि जिसके अंग एवं प्रत्यंग हैं, अनेक के साथ अपने को एक समझता हुआ एक होने पर भी बहुत प्रकार से प्रशंसित होता है। इसलिए देवताओं को जड़ कहना ठीक नहीं लगता।

रामधारी सिंह "दिनकर" का वैदिक साहित्य पर विचार व्यक्त करना अनधिकार चेष्टा प्रतीत होती है। आर्य बाहर से भारतवर्ष में आये यह बात विदेशियों की कोरी कल्पना है। आर्य साहित्य में इसके लिए कोई प्रमाण नहीं। वेदों में भक्ति भावना है या नहीं इसको समझने के लिए भी उनका निरन्तर अभ्यास आवश्यक है।

1.1.6 वेदों में भक्ति का मूल रूप

वेदों में भगवद्भक्ति का परिपक्व रूप भले ही न हो किन्तु उसका मूल अवश्य उनमें निहित है। इस सम्बन्ध में पंडित बलदेव उपाध्याय का कथन द्रष्टव्य है।

"वैदिक साहित्य के गाढ़ अनुशीलन से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम स्थान है। इस अवसर पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। धर्म के सिद्धान्तों के इतिहास की पर्यालोचना करने पर प्रायः देखा जाता है कि किसी युग में किसी सिद्धान्त विशेष की उपोद्बोधक सामग्री विद्यमान रहती है, यद्यपि उस सिद्धान्त का प्रतिपादक शब्द नहीं होता। ऐसी दशा में अभिज्ञान के अभाव में हम तत्तत् सामग्री की भी उपेक्षा कर बैठते हैं। यह सत्य है कि संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुराग सूचक "भक्ति" शब्द का सर्वथा अभाव है, परन्तु यह मानना सत्य नहीं है कि इस अभाव के कारण उस युग में भक्ति की कल्पना अभी तक प्रसृत ही नहीं हुई थी। संहिताओं में कर्मकांड का प्राबल्य था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय ज्ञान तथा भक्ति की कल्पना का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। मंत्रों में विशिष्ट देवताओं की स्तुति की गई है, परन्तु यह स्तुति इतनी मार्मिकता से की गई है कि इसमें श्रोता के हृदय में अनुराग का अभाव मानना नितान्त उपहासास्पद है। हमारा तो कथन है कि बिना भक्ति-स्निग्ध-हृदय के इस प्रकार की कोमल तथा भावुक स्तुतियों का उदय ही नहीं हो सकता। शुष्क हृदय में न तो इतनी कोमलता

---

1. **निरुक्त—अध्याय** 7, **खंड** 4, नवीं कारिका

आ सकती है और न इतनी भावुकता। देवताओं की स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्ध बन्धु आदि नितांत मनोरम हृदयंगम सम्बन्ध स्थापित करता है और यह स्पष्ट प्रमाण है कि श्रोता के हृदय में देवताओं के प्रति सर्वतोभावेन प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है।[1]

वेदों में भक्ति भावना के अस्तित्व को स्वीकार कुछ विद्वान इसलिए नहीं करते कि वेदों की रचना वे यज्ञ-संपादन के लिए ही मानते हैं। किन्तु इस बात का निर्णय करना कठिन है कि पहले यज्ञों के सम्पादन होते थे और उनके लिए ही वेदमन्त्रों की रचना हुई अथवा पहले श्रद्धाभक्तिपूर्ण ऋषियों ने अपनी ऋचाएँ लिखीं और तत्पश्चात् उन मन्त्रों का कहीं-न-कहीं यज्ञकर्त्ताओं ने विनियोग किया। यदि यह मान लिया जाय कि कर्मकांड का विकास मंत्र-रचना के पीछे है तो निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि वेदों में भक्ति और उपासना के बहुत से तत्व प्राप्त हो सकते हैं। प्रो. जगन्नाथ राय शर्मा का कहना है कि "किन्तु स्वतन्त्र रूप से ऋग्वेद का अध्ययन करने पर यह बात सर्वांश में सत्य नहीं प्रतीत होती। कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं, जिनमें देवताओं का आह्वान नहीं मिलता जैसे नारदीय सूक्त और पुरुष सूक्त इत्यादि। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जो यज्ञानुष्ठान से स्वतन्त्र एवं असम्बन्धित हैं। वे ऋषियों के स्वतन्त्र चिंतन और भावोद्रेक के परिणाम हैं, जो यज्ञानुष्ठान में कहीं न कहीं विनियुक्त कर लिए गए हैं। यदि यह बात सत्य हो तो हमें यह मानना पड़ेगा कि कर्मकांड प्रधान वैदिक युग में भी स्वतन्त्र चिंतन और स्वतः सम्भूत भावोद्रेक का अभाव नहीं था। यह स्वतन्त्र चिंतन और भावोद्रेक आगे चलकर विस्तृत एवं विशाल बनकर कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप दर्शन और उपासना के जन्मदाता हुए।[2]

पंडित बलदेव उपाध्याय तथा प्रो. जगन्नाथ राय शर्मा ने ऋग्वेद के अनेक मन्त्र उद्धृत कर यह सिद्ध कर दिया है कि वेदों की संहिताओं में भक्ति का बीज अवश्यमेव है। हाँ, एक बात निश्चित है कि वेदों में निष्काम भक्ति से अधिक सकाम भक्ति ही है। वेदों की इसी सकाम भक्ति का भगवान् श्रीकृष्ण ने 'यामिमां पुष्पितां वाचं' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाले श्लोक और उसके आगे के कई श्लोकों में वैदिकी भक्ति का उपहास किया है। हम यहाँ स्वतन्त्र रूप से कुछ मन्त्रों को उद्धृत कर दिखाने का प्रयास कर रहे हैं कि वेदों में भक्ति की कैसी तल्लीनावस्था दर्शनीय है।[3]

---

1. **भागवत संप्रदाय—पंडित बलदेव उपाध्याय**—पृ. 64.
2. **सूर साहित्य दर्पण**—पृ. 21
3. **वेदों में भक्ति है—इसकी पुष्टि के लिए:**
   वेदों में नवधा भक्ति : याज्ञिक सम्राट पं. श्रीवेणीराम शर्मा गौड़ वेदाचार्य, काव्यतीर्थ, पृ. 41-43। **प्रति अंक, वर्ष** 32

ऋग्वेद में

परमात्मा का सुन्दर वर्णन है

अचिकित्वाचिंकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्
वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।—*1/164/6*

मैं अज्ञानी हूँ। कुछ न जानकर ही ज्ञानियों के पास जाने की इच्छा से पूछता हूँ। जिन्होंने इन छः लोकों को रोक रखा है, जो जन्म रहित रूप से निवास करते हैं, वह क्या एक हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥—*1/164/20*

दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा), मित्रता के साथ, एक वृक्ष या शरीर में रहते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) स्वादु पिप्पल का भक्षण करता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण (भोग) नहीं करता, केवल द्रष्टा है।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

चंचल, श्वास-प्रश्वासशील और अपनी कार्य सिद्धि में व्यग्र जीव सोकर घर में अविचल भाव से अवस्थित हुआ। मर्त्य के साथ उत्पन्न मर्त्य का अमर जीव स्वधा भक्षण करता हुआ सदा विहरण करता है।

ईश्वरीय सत्ता का अनुभव

सं यद्वयं मवसादो जनानांमहं यावाद उर्वज्रे अन्तः।
अत्रा युक्तो वसातारमिच्छादथो अयुक्तं युन जद्वन्वान्॥
*—10/27/9—***इन्द्र देवता—इन्द्र पुत्र बसुक ऋषि।**

(ऋषि की व्यापक अनुभूति) संसार में जो तृण खाने-वाले हैं, वह भी हम ही हैं। विस्तृत हृदयाकाश में जो अन्तर्यामी ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ। हृदयाकाश में रहने वाले इन्द्र अपने सेवक को चाहते हैं। योगशून्य और अतीव विषयी पुरुष को इन्द्र सन्मार्ग में लगाते हैं।

नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षास द्यावापृथिवी बिभर्ति।
त्वचं पवित्रं कृणुत स्वधावान्यदीं सूर्यं न हरितोवहन्ति॥
*—10/3/8—***विश्वदेव देवता। कवष ऋषि॥**

द्युलोक और भूलोक ही अन्तिम नहीं है इनके ऊपर भी और कुछ है। वह (ईश्वर) प्रजा का बनाने वाला और द्यावापृथ्वी का धारण करने वाला है। वह अन्न

का प्रभु है। जिस समय सूर्य के घोड़ों ने सूर्य का वहन करना प्रारम्भ नहीं किया था, उसी समय उसने अपने शरीर का निर्माण किया था।

प्र ये दिवो बृहतः शृण्विरे गिरा सुशुम्क्वानः सुभ्व एवयामरुत्
न येषामिरीसधस्थ ईष्ट आं अग्नेयो न स्वविद्युतः प्र स्पद्रासो धुनीनाम्॥
—5/87 **श्री सूक्त (मरुद्गण देवता—अत्रि के)**

जो दीप्त स्वच्छन्दता विस्तीर्ण स्वर्ग से आह्वान श्रवण करते हैं, अपने गृह में अवस्थित करने पर जिन्हें चालित करने में कोई समर्थ नहीं है जो अपनी दीप्ति द्वारा दीप्तिमान है जो अग्नि की तरह नदियों को संचालित करते हैं। एक्यामरुत् स्तुति द्वारा उनकी उपासना करते हैं।

प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयं प्रविद्मना ब्रुवत एवयामरुत्
कत्वा तद्वो मरुतो नाधृषे शवो दाना मह्ना तदेषामधृष्टासो नाद्रवः॥
—5/87/2

जो महान् इन्द्र के सहित प्रादुर्भूत हुए हैं, उन मरुतों का एक्यामरुत् स्तवन करते हैं। हे मरुतो! तुम लोगों का बल अभिमत फलदान से महान् है और अनभिभवनीय है। तुम लोग पर्वत की तरह अटल हो।

ते रुद्रासः सुमखा अग्नयो यथा तुविद्युम्नाः अवन्त्वेव यामरुत्।
दीर्घ पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवं येषामज्मेष्व महाः शर्धास्यमदभु तैनसाम्॥
—5/87/7

हे पूजनीय और अग्नि की तरह प्रभूत रुद्र पुत्रों, एक्यामरुत् की रक्षा करो। अन्तरिक्ष सम्बन्धी दीर्घ और विस्तीर्ण गृह मरुतों के द्वारा विख्यात होता है। निष्पाप मरुद्गण गमनकाल में प्रभूत शक्ति प्रकाशित करते हैं।

1.1.7 ब्राह्मण और आरण्यक

संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मणों और आरण्यकों में जिस कर्मकांड का निरूपण है वह भी सर्वथा भक्तिहीन नहीं है। कारण यह है कि उसमें कर्त्ता की बुद्धिप्रशस्तता अत्यन्त आवश्यक बतलायी गई है। श्रद्धा और विश्वासपूर्वक ईश्वर की आकांक्षाओं का पालन करना भक्ति ही है। इसलिए वैदिक कर्म ईश्वर की आज्ञा से सम्पादित होने के कारण भक्ति की परिधि के भीतर ही रहते हैं। लोक-व्यवहार में भी पितृभक्ति वही पुरुष नहीं कहा जा सकता जो केवल अपने पिता की सेवा और प्रशंसा करता रहे वरन् वह भी कहा जा सकता है जो पिता की सारी उचित आज्ञाओं का प्रेम-पूर्वक पालन करता है। इसलिए कर्मकांड को भक्ति से शून्य नहीं बतलाया जा सकता।

1.1.8 दर्शन-साहित्य

चिंतनप्रधान दर्शन शास्त्र भी भक्ति की ही एक अवस्था प्रकट करते हैं। आराध्य के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में लगी हुई मानसिक क्रियाएँ ही दर्शन का रूप धारण करती हैं। ऐसी परिस्थिति में दर्शन भी भक्ति के सर्वथा पृथक् नहीं माना जा सकता। उपनिषद् काल में ज्ञानकांड की दो धाराएँ भले ही दिखाई पड़ें[1] एक हृदयपक्ष रहित और दूसरी हृदयपक्ष समन्वित। लेकिन हृदयपक्ष रहित ज्ञान से भी ब्रह्मधाम प्राप्त कतई सम्भव नहीं है।[2] ऊपर दिखला आए हैं कि कई उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में उपासना का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में तो "भक्ति" शब्द का स्पष्ट उल्लेख कर ही दिया गया है।

उपनिषद्

दर्शनों में भक्ति का अस्तित्व बतलाते हुए प्रो. जगन्नाथ राय शर्मा ने कहा है— किन्तु जिस प्रकार संहिताओं में कर्मकांड की प्रधानता होते हुए भी उनके बहुत से मन्त्रों में भक्ति के उद्‌गार मिलते हैं, उसी प्रकार उपनिषदों में भी प्रेम या भक्ति के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की भावना मिलती है। उदाहरण के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् के चौथे अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में यह स्पष्ट लिखा है कि जिस प्रकार अपनी प्रियतमा से आलिंगन होने पर न कुछ बाहरी वस्तु का अनुभव होता है और न भीतरी वस्तु का, उसी प्रकार परमात्मा का आलिंगन होने पर मनुष्य न कुछ बाहरी बात जानता है, न भीतरी (तद्यथा प्रियया स्त्रियया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तम्)। मुण्डकोपनिषद् के दूसरे खण्ड के ग्यारहवें मन्त्र में भी अव्यय पुरुष के पास पहुँचने के लिए तपस्या के साथ श्रद्धा को भी परमात्मा को प्राप्त करने का एक साधन बतलाया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद के छठे अध्याय के अन्तिम मन्त्र में भक्ति का स्पष्टतया उल्लेख है। वह मन्त्र यों है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्येते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। (11)

अर्थात् जो कुछ ईश्वर का स्वरूप बतलाया गया है वह उसी मनुष्य के हृदय में भासित हो सकता है जो ब्रह्म में पूर्ण भक्ति रखता है और जैसी भक्ति ब्रह्म में रखता है वैसे ही अपने गुरु में भी।

उपनिषदों के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र में भी पहले अध्याय के प्रथम पाद के सातवें सूत्र मोक्ष का अधिकारी बतलाते हुए भगवान् व्यास ने "तन्निष्ठ" शब्द का प्रयोग

---

1. **सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**
2. **नायमात्मा बलहीनने लभ्यो न च प्रमादात्त पसो वाथ लिंगात्।**
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्येष आत्मा विषते ब्रह्मधाम—मुण्डकोपनिषद्—(3-2)—4.

किया है। इस तन्निष्ठ शब्द का स्पष्ट अर्थ है—ब्रह्म में निश्चल रूप से स्थित। जीवात्मा की यह स्थिति परमात्मा में निश्चल रूप से केवल ज्ञान से सम्भव नहीं है। अतएव इस सूत्र में भक्ति का यदि प्रधानतया नहीं तो गौण रूप में मोक्ष की योग्यता के लिए आवश्यक निर्देश किया गया है।[1]

1.1.9 तन्त्रग्रन्थ

वैदिक साहित्य के बाद भक्ति के प्रधान स्रोत हैं तन्त्रग्रन्थ। पंडित बलदेव प्रसाद उपाध्याय का कहना है कि भागवत धर्म का उदय पहले सात्वत वंशीय क्षत्रियों में हुआ और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये चारों चतुर्व्यूह के भीतर रखे गए। उनके अनुसार सात्वत वंश मथुरा को छोड़कर भारत के दक्षिणी पश्चिमी छोर पर चला गया और उन्हीं लोगों के द्वारा दक्षिण में भक्ति का प्रचार हुआ। उक्त पंडित का कथन है "सात्वतों के द्वारा ही यह धर्म उत्तर भारत से दक्षिण भारत में पहुँचता है।[2]

1.2 वैष्णव भक्ति : स्वरूप विवेचन

1.2.1 उत्पत्ति

हर युग में जीवन का आधार जब धर्म हो, उसमें यह स्वाभाविक है कि जीवन की विविध साधनाओं एवं उपलब्धियों के स्वरूप की प्रतिष्ठा में धार्मिक अवधारणाओं का प्रयोग होगा। ऐसा प्रयास जीवन की विविध साधनाओं एवं सिद्धियों के बीच सन्तुलन एवं सामरस्य की स्थापना के लिए अपेक्षित है।

धार्मिक चेतना युगानुरूप विकसित होती रहती है और यह स्वाभाविक ही है कि इसके विकास के अनुरूप ही अन्य संबद्ध विषयों में भी विकास हो। भारत की धार्मिक चेतना के विकास के स्वरूप का विश्लेषण से उसकी साधना की तीन सरणियाँ लक्षित होती हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। ज्ञान की चरम परिणति उपनिषदों में मिलती है, कर्म का पूर्ण वैभव ब्राह्मण ग्रन्थों में लक्षित होता है और भक्ति का चमत्कारपूर्ण उत्कर्ष मध्यकालीन वैष्णव आचार्यों में लक्षित होता है। यद्यपि ये साधनाएँ अपने तात्विक रूप में परस्पर विरोधी नहीं है फिर भी सम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों के कारण इनमें बाह्य-भिन्नता और कभी-कभी विरोध के दर्शन भी होते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि ये तीनों साधना-पद्धतियाँ लगभग पाँचवीं शती ईसा पूर्व से एक साथ प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं, किन्तु युग की भावनाओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप कभी एक पद्धति पर अधिक बल दिया गया

---

1. **सूर साहित्य दर्पण**—पृ. 26-27.
2. **भागवत संप्रदाय**—पृ. 91.

है और कभी दूसरे तत्व पर, कभी एक का महत्व अधिक रहा और कभी दूसरी का। सामान्य रूप से एक निश्चित ऐतिहासिक क्रम में रखा जा सकता है। आरम्भ में ज्ञान ही प्रधान रहा, पीछे महायान में भक्ति की प्रतिष्ठा भी हुई। लगभग चौथी शती ईसा पूर्व में ही पांचरात्र धर्म का वर्णन भी मिलता है जो भक्ति का एक रूप है। उधर महायान में भक्ति तत्व का समावेश हुआ और इधर वैष्णव-भक्ति का विकास हुआ। गुप्तकाल में, ईसा की चौथी शताब्दी में वैष्णव धर्म का विशेष प्रचार रहा। लगभग ईसा से पाँचवीं शती पूर्व तक के युग में कर्मकाण्ड का प्रभुत्व रहा। बौद्ध धर्म के प्रतिवर्त्तन के साथ ही कर्मकाण्ड का क्षय आरम्भ हो जाता है। ईसा की छठी शताब्दी से तांत्रिक साहित्य का भी एक क्रमबद्ध विकास लक्षित होता है जिसमें दक्षिणाचार और वामाचार की दो शाखाएँ थीं। इस प्रकार इस काल में दार्शनिक-धार्मिक चेतना विभिन्न पद्धतियों एवं रीतियों में प्रवाहित हो रही थी—एक दर्शन था जिसे नागार्जुन आदि ने प्रवर्तित किया, दूसरा भक्ति का मार्ग था जो महायान में, वैष्णव धर्म में और शैव धर्म में प्रकट हुआ, तीसरी वामाचार की पद्धति थी। इस विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये तीनों तत्व—दार्शनिक चिन्तन, भक्ति-साधना और वामाचार—बहुत-कुछ परस्पर असम्बद्ध से थे। भक्ति-साधना के आधार-स्वरूप किसी दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी और वामाचार में भी उसके आधारभूत दार्शनिक तत्वों की अपेक्षा बाह्याचार और फिर बाद में हठयोग के विलक्षण आचार का प्राधान्य होने लगा।

ईसा की आठवीं शती में शंकराचार्य ने भक्ति को माया एवं भ्रम के अन्तर्गत माना। इस मान्यता की तीव्र प्रतिक्रिया रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों की परम्परा में हुई। इन आचार्यों ने भक्ति को निश्चित दार्शनिक आधार प्रदान किया और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की। इस प्रकार भक्ति को व्यापक महत्व प्रदान किया गया और वही जनता की प्रधान साधना-पद्धति बनी। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि भक्ति के तत्व महाभारत काल में भी अत्यन्त सशक्त रूप से विद्यमान थे, किन्तु उसका पूर्ण विकास तेरहवीं शती में हुआ। इस भक्ति-पद्धति में लक्ष्मी और विष्णु, शक्ति और शिव, राधा और कृष्ण तथा सीता और राम की आराधना को स्वीकार किया गया। वैष्णव आचार्यों में शक्ति और शिव के अतिरिक्त अन्य युगल-त्रय की साधना देखने में आती है। वैधी एवं रागानुगा दोनों प्रकार की भक्तियों को स्वीकार किया गया—भक्ति में प्रेम के महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया।

किन्तु भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश एक विलक्षण बात प्रतीत होती है। इसके उदय में वाममार्गी साधना का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा होगा। ग्यारहवीं-बारहवीं शती में यह साधना भी पूरे जोरों पर थी और इसलिए यह मानने के लिए एक ठोस आधार भी है। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए वाममार्गी तन्त्रों के मूल दर्शन की कुछ बातों का संकेत आवश्यक है। इसमें बोधिचित, करुणा एवं उपाय तथा

की छठी शताब्दी से तांत्रिक साहित्य का भी एक क्रमबद्ध विकास लक्षित होता है जिसमें दक्षिणाचार और वामाचार की दो शाखाएँ थीं। इस प्रकार इस काल में दार्शनिक-धार्मिक चेतना विभिन्न पद्धतियों एवं रीतियों में प्रवाहित हो रही थी—एक दर्शन था जिसे नागार्जुन आदि ने प्रवर्तित किया, दूसरा भक्ति का मार्ग था जो महायान में, वैष्णव धर्म में और शैव धर्म में प्रकट हुआ, तीसरी वामाचार की पद्धति थी। इस विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये तीनों तत्व—दार्शनिक चिन्तन, भक्ति-साधना और वामाचार—बहुत-कुछ परस्पर असम्बद्ध से थे। भक्ति-साधना के आधार-स्वरूप किसी दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी और वामाचार में भी उसके आधारभूत दार्शनिक तत्वों की अपेक्षा बाह्याचार और फिर बाद में हठयोग के विलक्षण आचार का प्राधान्य होने लगा।

ईसा की आठवीं शती में शंकराचार्य ने भक्ति को माया एवं भ्रम के अन्तर्गत माना। इस मान्यता की तीव्र प्रतिक्रिया रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों की परम्परा में हुई। इन आचार्यों ने भक्ति को निश्चित दार्शनिक आधार प्रदान किया और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की। इस प्रकार भक्ति को व्यापक महत्व प्रदान किया गया और वही जनता की प्रधान साधना-पद्धति बनी। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि भक्ति के तत्व महाभारत काल में भी अत्यन्त सशक्त रूप से विद्यमान थे, किन्तु उसका पूर्ण विकास तेरहवीं शती में हुआ। इस भक्ति-पद्धति में लक्ष्मी और विष्णु, शक्ति और शिव, राधा और कृष्ण तथा सीता और राम की आराधना को स्वीकार किया गया। वैष्णव आचार्यों में शक्ति और शिव के अतिरिक्त अन्य युगल-त्रय की साधना देखने में आती है। वैधी एवं रागानुगा दोनों प्रकार की भक्तियों को स्वीकार किया गया—भक्ति में प्रेम के महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया।

किन्तु भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश एक विलक्षण बात प्रतीत होती है। इसके उदय में वाममार्गी साधना का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा होगा। ग्यारहवीं-बारहवीं शती में यह साधना भी पूरे जोरों पर थी और इसलिए यह मानने के लिए एक ठोस आधार भी है। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए वाममार्गी तन्त्रों के मूल दर्शन की कुछ बातों का संकेत आवश्यक है। इसमें बोधिचित, करुणा एवं उपाय तथा प्रज्ञा और शून्यता का संक्षिप्त विवरण है।

बोधिचित का अर्थ है वह मन, जो बोधिसत्व की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है। इसके अन्तर्गत दो तत्व हैं—एक प्रज्ञा, और द्वितीय उपाय। प्रज्ञा स्त्री-रूपा और निष्क्रिय है तथा उपाय पुरुष-रूप एवं सक्रिय है। प्रज्ञा को शून्यता और उपाय को करुण भी कहा गया है। प्रज्ञा और उपाय के अन्य नाम इड़ा और पिंगला, स्वर और व्यंजन, आली एवं काली भी कहे गये हैं। मूल रूप में प्रज्ञा और उपाय दोनों समरस हैं, किन्तु अज्ञान के कारण उनमें विछोह हो जाता है और मनुष्य दुःख का भागी बनता है। जब तक उनका द्वैत रहता है, तब तक जीव बन्धन में रहता है।

इनके मिलन में ही महासुख है और इनके पूर्ण सामरस्य को ही युगनद्ध कहा गया है। किन्तु स्थूल रूप से इस प्रज्ञा और उपाय के इस मिलन को पुरुष और नारी के मिलन के रूप में प्रदर्शित किथा गया है। अतः यह स्थूल मिलन "सामरस्य" एवं "महासुख" की अवस्था का प्रतीक है। किन्तु बाद में इस मूल अर्थ को छोड़कर बाह्य रूप को प्राधान्य देने के कारण वामाचार की वृद्धि हुई।

स्पष्ट है कि उक्त प्रकार के वामाचार का घोर विरोध होता और वह हुआ भी। किन्तु साथ ही वामाचार ने प्रणय के महत्व को पूर्ण रूप से उद्‌भासित कर दिया। दर्शन में तो प्रणय की स्वीकृति का सवाल ही नहीं था। हाँ, भक्ति, जो कि राग का मार्ग है, उसमें इसके समावेश का अवकाश था और वह समावेश कर भी लिया गया। किन्तु इसमें एक मूलभूत परिवर्तन आ गया।

विभिन्न ऋषियों और वैदिक आचार्यों ने भक्ति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। भागवत पुराण के अनुसार वेदविहित कर्म करने वाले लोगों की भगवान् में अनन्य भाव से सात्विक और स्वाभाविक प्रवृत्ति भक्ति है।[1] विष्णु पुराण में भगवान् का निरन्तर स्मरण करने वाले व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न भगवान् के प्रति आसक्तिपूर्ण और अनपायिनी प्रीति को भक्ति कहा गया है।[2] शांडिल्य ने ईश्वर में परम अनुरक्ति को भक्ति कहा है।[3] नारद के अनुसार ईश्वर में परम प्रेम भक्ति है।[4] अन्य आचार्यों ने भी भक्ति की इसी प्रकार की परिभाषाएँ दी हैं।[5]

इन परिभाषाओं के अनुसार भगवान् में अनन्य अनुरक्ति, निरन्तर प्रीति तथा प्रतिक्षण उनकी स्मृति भक्ति है। भक्ति भावना की अविच्छिन्नता एवं अखण्डता को प्रकट करने के लिए "गीता" में भक्ति के प्रसंग में "सतत" "अनन्य", "अव्यभिचारिणी" तथा "नित्ययुक्त" जैसे विशेषणों का उपयोग किया गया है।[6] स्वामी रामानन्द के मतानुसार भगवान् में "तेलधारा" के समान, निरन्तर स्मृतिसंतानरूप, अनुराग परा भक्ति है।[7]

वैष्णव धर्म में विष्णु को परम आराध्य मानकर परानुरक्ति के द्वारा उनको प्राप्त करना ही भक्ति है। भक्तिसमयक्रम से विविध रूपों में विकसित होती हुई वैष्णव धर्म में विष्णुभक्तिके रूप में प्रतिष्ठित हुई।

---

1. **भागवत** 3.25.32.
2. **विष्णुपुराण** 1.20.19.
3. **शांडिल्य-भक्ति-सूत्र** 1.1.2.
4. **नारद-भक्ति-सूत्र** 2.
5. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा, पृ.** 262-65.
6. **गीता, क्रमशः** 8. 14, 9.14, 18.57, 9.22, 11.54, 13.10, 9.14.
7. **रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव**, 279.

कुछ विद्वानों ने वेदों में भक्ति को ढूँढ़ने का प्रयास किया है। वैदिक ऋषियों द्वारा देवताओं के प्रति प्रकट किए गए उद्‌गारों में वे भक्ति-भावना की उत्पत्ति का अनुमान करते हैं।[1] डॉ. मुंशीराम शर्मा का कथन है कि "भक्ति के ही तीन अंग—स्तुति, प्रार्थना और उपासना, वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, कर्म और उपासना के त्रिमार्ग का रूप धारण कर लेते हैं। भक्ति तीनों मार्गों की पावन त्रिवेणी का संगम है।"[2] परन्तु वेदों की स्तुतियों में देवताओं से विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना की गई है। अतएव वहाँ सकाम भक्ति की स्थिति माननी होगी। वेदों में विष्णु गौण देवता के रूप में संस्तुत हैं। ऋग्वेद के केवल चार मंत्रों में विष्णु की प्रधान रूप से स्तुति है। ब्राह्मण युग में भी "भक्ति" शब्द का प्रयोग परवर्ती अर्थ में नहीं है। "शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को यज्ञरूप माना गया है। अनुमान है कि इस युग में विष्णु को इन्द्र के समान प्रधानता मिलने लगी थी। डॉ. राय चौधरी के अनुसार ब्राह्मण युग में विष्णु प्रधान देवता के रूप में प्रतिष्ठित नहीं थे। निष्कर्षतः वैदिक संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में न तो "भक्ति" शब्द उत्तरवर्ती अर्थ से युक्त था और न विष्णु की आराधना थी। भक्ति की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए वैदिक विष्णु को मध्यकालीन विष्णु से अभिन्न मानने का कुछ विद्वानों का प्रयास है।[3]

उपनिषदों में ज्ञान मार्ग की प्रधानता है। कुछ उपनिषदों में उपासना का भी उपदेश है। इनमें परमात्मा की प्राप्ति के साधन के रूप में तपस्या, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य आदि का उल्लेख है। कठोपनिषद् में प्रसाद का निर्देश है।[4] "श्वेताश्वतर" में देवता के प्रसाद से सिद्धि मिलने का उल्लेख है।[5] वैष्णव धर्म में प्रसाद का सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण है। "श्वेताश्वतर" में भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि "जिस पुरुष की देवता में उत्कृष्ट भक्ति है, देवता के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति है, उसी को दिये गए अर्थ प्रकाशित होते हैं।[6] "भक्ति" शब्द का इस अर्थ में यह प्रथम प्रयोग है। वैष्णव भक्ति में अंगीकृत गुरु-महिमा की सूचना भी इस मंत्र में है। वैष्णव मत में भक्ति की अपेक्षा प्रपत्ति अथवा शरणागति की अधिक गरिमा दिखाई देती है। इस सिद्धान्त का भी उल्लेख इस उपनिषद् में है।[7] भक्ति के विशिष्ट अंग नाम-जप का भी समर्थन यहाँ किया

---

1. **भागवत सम्प्रदाय**—पृ. 49-57— **तथा सूर-साहित्य-दर्शन**, पृ. 22.
2. **भक्ति का विकास**—पृ. 111
3. **वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन**—पृ. 24-28.
4. **कठोपनिषद्** 1.2.20.
5. **श्वेताश्वतर** 6.21.
6. **वही**, 6.23—**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
   तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
7. **श्वेताश्वतर** 6.18.

गया है।[1] इनसे स्पष्ट है कि उपनिषद् युग में भक्ति का सूत्रपात हो चुका था। भागवत आदि जिन भक्ति-ग्रन्थों ने भक्ति-आन्दोलन को प्रेरित किया, वे इन औपनिषदिक विचारों के प्रति ऋणी हैं। तमिल के प्राचीन भक्ति साहित्य में भी उपनिषदों के अनेक विचार मिलते हैं। उपनिषदों का काल सामान्यतया दसवीं या नवीं शताब्दी ई. पूर्व माना गया है।[2]

सूत्रयुग में पाणिनि की "अष्टाध्यायी" में "भक्ति" शब्द का प्रयोग मिलता है तथा भगवान् को वासुदेव कहा गया है।[3] सूत्र-शैली में निबद्ध "शांडिल्य-भक्ति-सूत्र" और "नारद-भक्ति-सूत्र" भक्ति शास्त्र के ग्रन्थ उत्कृष्ट हैं।

सूत्रोत्तर काल में भक्ति का प्रचार करने वाले आकर ग्रन्थ हैं रामायण तथा महाभारत। पतंजलि के "व्याकरण-महाभाष्य" के समय (द्वितीय शताब्दी ई. पूर्व) तक रामायण अस्तित्व में आ चुकी थी।[4] इसमें राम आदर्श पुरुष के रूप में चित्रित हैं जो कहीं-कहीं नारायण भी माने गये हैं। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में उन्हें विष्णु का अवतार घोषित किया गया है। इन दोनों काण्डों को ऐतिहासिक विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है।[5] डॉ. कामिल बुल्के भी रामायण में वैष्णव भक्ति की स्थिति नहीं मानते हैं।[6] परन्तु डॉ रतिभानु सिंह नाहर ने अरण्य काण्ड तथा युद्धकाण्ड के कुछ ऐसे प्रसंगों को प्रस्तुत किया है, जिनमें राम के अवतारी पुरुष होने का वर्णन हैं। डॉ. नाहर का कथन है कि वाल्मीकि रामायण में संकेतित राम के अवतारी रूप की दृष्टि से ही महाभारत में वासुदेव कृष्ण को अधिकाधिक महत्व देकर रामोपाख्यान को गौण कर दिया गया है। महाभारत में इस प्रकार का उल्लेख है कि त्रेता-द्वापर के संधियुग में दाशरथि राम का तथा द्वापर-कलि के संधि-युग में कृष्ण का अवतार हुआ, अर्थात् महाभारतकार राम के बाद कृष्ण का अवतार मानते हैं।[7]

अनेक युगों की भक्ति-परम्परा को सर्वप्रथम उसे शास्त्रों द्वारा अनुमोदित एवं प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास "महाभारत" में किया गया है। पुराणों की भक्ति-विषयक विवेचन में प्रायः "महाभारत" को आधार बनाया गया है। इसके नारायणीय उपाख्यान में भागवत, सात्वत, नारायण अथवा पांचरात्र धर्म का

1 **श्वेताश्वतर** 1.14.
2. **वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन**—पृ. 30
3. **भागवत सम्प्रदाय**—पृ. 96-97
4. **वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन**—पृ. 47
5. **वही,**—पृ. 81-82.
6. **रामकथा**—पृ. 149.
7. **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन**—पृ. 84-88.

उल्लेख है। ये सब वैष्णव धर्म के ही विविध नाम हैं।[1] इसमें कृष्ण के वैदिक नामों के साथ दामोदर, गोविन्द, माधव इत्यादि नवीन नाम भी मिलते हैं, जो प्राचीन परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। इसके शान्ति पर्व में भागवत धर्म को दिव्य धर्म के रूप में वर्णित किया गया है। इसी प्रथम ग्रन्थ में विष्णु, नारायण, वासुदेव तथा कृष्ण आदि नामों का समीकरण किया गया है और देवताओं में विष्णु को प्रमुखता दी गई है। उन्हें सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च ब्रह्म माना गया है। विष्णु के साथ कृष्ण का भी मानवीय देवता के रूप में महाभारत में आविर्भाव हुआ है और उन्हें विष्णु का अवतार घोषित किया गया है।[2] "गीता" में, जो "महाभारत" का एक भाग है, ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों साधनों का विस्तृत विवेचन करते हुए भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है और कहा गया है कि "केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही भक्त भगवान् को तत्वतः जान पाता है, दर्शन कर पाता है तथा उसमें प्रवेश कर पाता है।[3] "गीता" के "मामेकं शरणं बृज'[4] के द्वारा शरणागति अथवा प्रपत्ति भाव वाली भक्ति को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। यहाँ सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति का उल्लेख करके सगुण को विशेष महत्व दिया गया है[5] और स्मरण, कीर्तन, वन्दन आदि को भगवान् की प्राप्ति का साधन बताया गया है।[6] इस रूप में भक्ति मार्ग को सरल करने का विशेष प्रयास "गीता" में किया गया है। परवर्ती युग के भक्ति-आन्दोलन के आचार्यों पर गीता के विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा है।

1.2.2 वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के तीन चरण

इन महाकाव्यों के बाद वैष्णव भक्ति की परम्परा ने समाज में व्यापक रूप धारण किया, जिसे भक्ति-आन्दोलन का नाम दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसे तीन चरणों में विभक्त किया गया है।

1.2.3. प्रथम चरण (1500 ई.पूर्व से 500 ई. तक) [7]

यह चरण सात्वत वंशीय राजाओं के उदय से लेकर गुप्त नरेशों के अभ्युदय काल तक माना जाता है। कृष्ण सात्वत-वंशीय क्षत्रिय थे। अतएव भागवत धर्म का उदय भी सात्वत वंश से माना गया है। इस उत्थान के आरम्भिक युग से महाभारत के नारायणीय पर्व का सम्बन्ध है। शुंगवंशीय राजाओं को वैष्णव धर्म

---

1. **भागवत सम्प्रदाय**—पृ. 98-99.
2. **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन**—पृ. 34.
3. **गीता** 11.51.54
4. **गीता** 18.66
5. **गीता** 12. 3-6.
6. **गीता** 8.5.6, 14. **(स्मरण)** , 9.14. **(कीर्तन)** 9.84, 1865. **(वन्दन)**
7. **भागवत सम्प्रदाय** 91.179

का प्रचारक कहा जाता है। इनके राज्यकाल में मध्य भारत तथा पश्चिमी भारत में वैष्णव धर्म का विशेष अभ्युदय हुआ था। भिलसा (प्राचीन वैसनगर) में गरुड़स्तम्भ के संस्थापक हेलियोडोरस को परम भागवत बताया गया है। चित्तौड़गढ़ के समीप घोसुंडी का वैष्णव शिलालेख इसी युग से सम्बद्ध है। ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी को वैष्णव धर्म के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में गुप्त नरेशों ने वैष्णव धर्म का शंखनाद किया था तथा इसी समय पांचरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ था।[1]

पांचरात्र संहिताओं में परब्रह्म को नारायण कह कर उन्हें सगुण-निर्गुण दोनों माना गया है। इन संहिताओं में अवतारों की कल्पना की गई है और भगवान् की अनुग्रह-शक्ति का प्रतिपादन किया गया है। अनुग्रह शक्ति को उद्‌बुद्ध करने के अनेक उपायों के रूप में शरणगति, प्रपत्ति अथवा न्यास का नाम लिया गया है। मन्दिर निर्माण, मूर्ति-निर्माण, मूर्ति-स्थापना, आदि का विस्तृत विवेचन भी इन संहिताओं में मिलता है।[2]

पांचरात्र संहिताओं के बाद वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख स्रोत पुराण हैं। अठारह पुराणों में से लगभग आधे पुराणों का सम्बन्ध वैष्णव धर्म से है। मत्स्य, कूर्म, वराह तथा वामन—इन चार पुराणों का नामकरण तथा रचना विष्णु के चार अवतारों की दृष्टि से की गई। नारद, ब्रह्मवैवर्त, पद्‌म, विष्णु तथा भागवत पुराण में विष्णु के आध्यात्मिक रूप और महिमा का सुन्दर विवेचन है।[3] "भागवत" पुराण वैष्णव धर्म का आधारभूत ग्रन्थ है। वैष्णव भक्ति के वल्लभ तथा चैतन्य सम्प्रदायों का उपजीव्य ग्रन्थ "भागवत" ही है। इसे छठी शताब्दी से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।[4] इसमें श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा के रूप में चित्रित हैं। भक्ति का सर्वोपरि महत्व, नाम की महिमा, विविध रूप में भगवान् की स्तुति, शरणागति अथवा प्रपत्ति का सिद्धान्त, गुरु की महिमा, सत्संग, वैराग्य भक्ति की नव विधाएँ, श्रीकृष्ण की विविध लीलाएँ उनकी अलौकिक रूप-माधुरी, उनका परमेश्वर तत्व, उनके प्रति गोपियों का अलौकिक प्रेम, मुरली, वृन्दावन, गोपी इत्यादि प्रतीकों का अर्थ ये सभी विषय इसमें बड़े मनोहारी रूप में वर्णित हैं।[5]

1.2.4 द्वितीय चरण (700 ई. से 1400 ई. तक)[6]

वैष्णव भक्ति के द्वितीय चरण का प्रारम्भ भारत के तमिलनाडु प्रदेश में

---

1. **भागवत सम्प्रदाय—पृ.** 120, 124.
2. **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन—पृ.** 41-42.
3. **भागवत सम्प्रदाय—पृ.** 141-42.
4. **वही, पृ.** 153.
5. **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन—पृ.** 302-21.
6. **भागवत सम्प्रदाय—प.** 183-229.

आलवार भक्तों से होता है और अन्त वैष्णव आचार्यों से। "आलवार" तमिल शब्द का अभिप्राय है भगवद्भक्ति के रस में लीन व्यक्ति।[1] इस काल में दक्षिण में वैष्णव भक्ति की जो बाढ़ सी आई थी उसका श्रेय वहाँ के बारह आलवार भक्तों को है जिनकी पदावली वेद-मन्त्र के समान पवित्र, मधुर एवं सरस मानी जाती है। इनकी रचनाओं का संग्रह "प्रबन्धम्" है जिसमें 4000 पद संग्रहीत हैं। आलवार भक्त नारायण अथवा विष्णु के उपासक थे जिन्होंने अपने उपदेशों द्वारा दूसरों को वैष्णव भक्ति से मुग्ध किया।

आलवार-युग के बाद भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में आचार्य युग आता है। आलवार भक्तों की परम्परा में कुछ ऐसे विद्वान् हुए, जिन्होंने आलवारों की भक्ति-भावना के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की। ये वहाँ की जन भाषा तमिल के अतिरिक्त संस्कृत भाषा के भी विद्वान् थे। इन्होंने आलवारों की भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय किया और भक्ति-आन्दोलन को एक नवीन धारा में रूपायित कर दिया। तमिल वेद (प्रबन्धम्) तथा संस्कृत वेद का गम्भीर अध्ययन करके दोनों के सिद्धान्तों में पूर्ण संगति एवं सामंजस्य लाने का श्रेय इन आचार्यों को है जिन्होंने मायावाद का खण्डन करके भक्तिवाद की प्रबल प्रतिष्ठा की। इन तमिल आचार्यों ने दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की तथा तमिल-संस्कृत-मिश्रित "मणिप्रवाल" शैली में भक्ति-प्रधान स्वतंत्र काव्य का प्रणयन किया।[2] इस युग के आचार्यों में रंगनाथ मुनि, श्री यामुनाचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि का नाम विशेष महत्वपूर्ण है।[3] उस समय इन आचार्यों द्वारा प्रचारित अनेक वैष्णव सम्प्रदायों का उदय हुआ, जैसे रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय (विशिष्टाद्वैतवाद), मध्वाचार्य का मध्व सम्प्रदाय (द्वैतवाद), निम्बार्काचार्य का सनक सम्प्रदाय (द्वैताद्वैत या भेदाभेदवाद) और विष्णुस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय।[4]

1.2.5 तृतीय चरण (1400 ई. से 1900 ई. तक) [5]

चौदहवीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन दक्षिण में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में यह उत्तर भारत में फैला। इस दृष्टि से दक्षिण और उत्तर के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के समन्वयकर्त्ता रामानुज हैं। इन्होंने भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप दिया। तत्कालीन मुस्लिम बादशाहों के अत्याचारों से हिन्दू जनता संत्रस्त थी। अतः राजनीतिक परिस्थितियों

1. **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन**—पृ. 232-34.
2. **वही**, 232-34.
3. **वही**, पृ. 234-60.
4. **वही**, पृ. 269-80.
5. **भागवत सम्प्रदाय**—पृ. 233-307.

से यह आन्दोलन व्यापक बना। उन्हें बल, धैर्य और अवलम्ब भक्ति-आन्दोलन से प्राप्त हुआ। वैष्णव भक्ति ने पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के कबीर पंथी और सूफी संतों को प्रभावित किया, जिनके समन्वयात्मक प्रयासों से भक्ति के विकास को बहुत योग मिला। सोलहवीं शताब्दी के अकबर जैसे धर्म सहिष्णु बादशाह की उदार नीति से भी वैष्णव भक्ति को विकसित होने का उचित अवसर मिला। इस युग में कुछ नए वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना हुई। जैसे—वल्लभ, चैतन्य और राधा वल्लभ सम्प्रदाय। मधुर भक्ति के समावेश के रूप में, भक्ति में शृंगारिक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ और मधुरोपासना या रसिक भावना की पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी समय वैष्णव कवियों ने निराकार-साकार ब्रह्म को लेकर अनेक काव्य रचे, जिनके आधार पर भक्ति-साहित्य सगुण-निर्गुण दो धाराओं में बँट गया। सगुण धारा पुनः कृष्णभक्ति-साहित्य और रामभक्ति-साहित्य, की दो धाराओं में विभक्त हुई। रामभक्ति-साहित्य का आरम्भ स्वामी रामानन्द से माना जाता है। उनके शिष्यों के समय में रामभक्ति की दो स्पष्ट धाराएँ हो गई थीं—मर्यादोपासनाधारा और रसिकोपासनाधारा।

1.2.6 भक्ति का महत्व

भक्ति का विवेचन करने वाले शास्त्रों—"नारद भक्तिसूत्र", "गीता", पुराण, आदि में भक्ति की महिमा का अनेक दृष्टियों से उल्लेख है। शास्त्रों में भगवत्प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। इन तीनों में अलग-अलग क्रमशः सैद्धान्तिक, व्यावहारिक और भावनात्मक पक्ष पर बल दिया गया है। यही तीनों में अन्तर है। मनुष्य प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—चिन्तनशील, सक्रिय और भावुक। ऐकान्तिक रूप से कोई भी इनमें से किसी एक प्रकार का नहीं होता।इसीलिए ज्ञान, कर्म और भक्ति परस्पर मिल जाते हैं। तार्किक दृष्टि से भले ही इन तीनों में अन्तर किया जाय, पर वस्तुतः ये तीनों आत्मा की एक ही शक्ति के विभिन्न पहलू हैं।

परमात्मा में गम्भीर निष्ठा और मुक्ति में विश्वास प्राप्त करने के लिए तीन वस्तुओं को मानना आवश्यक है—(1) आत्मा (जिसे मुक्त किया जाता है), (2) पाश (जिससे आत्मा को मुक्त होना है) (3) परमात्मा अथवा सर्वोच्च दैवी सत्ता (जो हमें बन्धन से मुक्त करती है) इन तीनों का निर्भ्रान्त ज्ञान एवं सतत् अनुभव ही ज्ञानयोग है।

"गीता" में ज्ञान-योग की स्थिति को बताते हुए कहा गया है कि निरन्तर आत्मा के ज्ञान में मग्न रहना तथा तत्व (सत्य अथवा परमात्मा) के ज्ञान रूप अर्थ का दर्शन (अनुभव, मनन, चिन्तन एवं आचरण करना) ज्ञान है। "गीता" में उस ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, जो परमात्मा में लीन होकर अनन्य भाव से उसका भजन करता है।[1]

---

1. **गीता** 9.13, 13.11, 7.17.

कर्म-योग में निष्काम भावना, (परमात्मा के प्रति समर्पण की भावना) से कर्म करते रहने पर बल दिया गया है। कर्म-योगी कर्म के अच्छे बुरे फल की चिन्ता न कर उसे सहर्ष स्वीकार करता है। इस मार्ग में अपने संकल्प को, कर्म करने की भावना को, दैवी प्रयोजन के अधीन कर देना होता है। इस रूप में कर्म-योग के मूल में भी भक्ति भावना है।

"भक्ति व्यक्तिक परमात्मा के साथ विश्वास और प्रेम का सम्बन्ध है।"[1] इस मार्ग में भगवान् की उपासना अथवा भक्ति पर, ज्ञान और कर्म की अपेक्षा, अधिक बल दिया गया है। श्रद्धा भक्ति का आधार बनती है। "जब परमात्मा के प्रति भावनात्मक अनुरागं अत्यधिक आनन्दमय हो उठता है तब भक्त प्रेमी अपने आपको परमात्मा में भुला देता है।[2] इस मार्ग में भक्ति पर जोर देने के कारण ज्ञान गौण हो जाता है, मन श्रद्धालु और उपासनायुक्त हो जाता है। भक्त के सब काम परमात्मा को समर्पित होने के कारण पवित्र हो जाते हैं। यहीं ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय हो जाता है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म के मूल में भक्ति भावना ही विद्यमान है। भक्ति रहित ज्ञान तथा कर्म को निन्दनीय बताया गया है।[4] भक्ति का मार्ग, ज्ञान तथा कर्म की अपेक्षा सरल है—"प्रेम की बलि उतनी कठिन नहीं है, जितनी की अपनी इच्छा शक्ति को भगवान् के प्रयोजन की ओर, या तपस्या में अनुशासन की ओर, या चिन्तन के थका देने वाले प्रयत्न की ओर, मोड़ पाना।"[5]

गीता में कहा गया कि भक्ति में भगवान् का पूर्ण सहयोग होने से भक्त को किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रभु स्वयं उसके कुशल क्षेम का ध्यान रखते हैं।[6] एक मात्र भक्ति से ही भगवान् को वश में किया जा सकता है। भागवत में कहा गया है कि जिस प्रकार मेरी दृढ़ भक्ति मुझे वश में करती है, उस प्रकार योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वश में नहीं कर सकते। संतों का प्रिय आत्मरूप में श्रद्धायुक्त भक्ति के द्वारा ही वश में होता हूँ। मेरी भक्ति चांडाल आदि को भी पवित्र बनाने में समर्थ है।[7] "गीता" में भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि जैसा तुमने मुझे देखा है वैसा वेद, तप, दान, यज्ञ आदि से मैं दिखाई नहीं देता। अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे देखना, तत्वतः जानना और मुझमें प्रविष्ट होना

---

1. भगवद्गीता, (डॉ. राधाकृष्णन्), परिचयात्मक निबन्ध—पृ. 63.
2. वही, पृ. 70.
3. वही, पृ. 291.
4. भागवत 1.5.12, नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।
5. भगवद्गीता (डॉ. राधाकृष्णन्), परिचयात्मक निबन्ध—पृ. 64.
6. गीता 1.22.
7. भागवत 11.14. 20-21.

सम्भव है।[1] सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी भक्ति अन्य साधनों की अपेक्षा सहज और सुलभ है।[2] इसमें वेदाध्ययन, कठोर तप, विवेक, वैराग्य, आदि किसी भी अन्य साधन की अनिवार्यता नहीं है। अनिवार्यता है प्रभु की अपार कृपा पर विश्वास करके सहज रूप में उनका अनवरत स्मरण करने की।

भक्ति की अद्भुत विशेषता यह है कि वह साधन और साध्य दोनों ही हैं। भगवान् के भजन, स्मरण, चिन्तन, आदि, साधन रूपा भक्ति के द्वारा भगवान् में प्रेम अथवा परम अनुरक्ति रूप साध्या भक्ति प्राप्त की जाती है। अतः नारद ने भक्ति को फलरूपा (साध्यरूपा) भी माना है।[3] भक्ति करता हुआ भक्त किसी वस्तु की कामना नहीं करता, यहाँ तक कि मुक्ति की भी उसे अभिलाषा नहीं रहती। भक्ति के बदले उत्तम गति की आकांक्षा को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती।[4]

वैष्णव ग्रन्थों में वैष्णव भक्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ—

1.2.7 वैष्णव पुराण

पांचरात्र ग्रन्थों के बाद भक्ति की प्रबलता वैष्णव पुराणों में पाई जाती है। वेदों में "एको सद्विप्राबहुधा बदन्ति" कहा गया है किन्तु पुराणों में "एकम् सत् प्रेम्नाबहुधा भवति" का उद्घोष किया गया है। इसलिए पुराणों की आकर्षकता कभी मिट नहीं सकती। पुराणों में भक्ति भावना का महान् इतिहास निर्मित किया गया है। अठारह पुराणों में मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, नारद, ब्रह्मवैवर्त्त, पद्म, विष्णु तथा श्रीमद्भागवत—ये सभी भक्तिपरक हैं। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण श्रीकृष्ण के चरित्र की भिन्न-भिन्न घटनाओं के अनुशीलन के लिए अमूल्य है। विष्णु पुराण भी वैष्णव पुराणों में भागवत की अपेक्षा द्वितीय कोटि में गिना जाता है। इसके पंचम अंश में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है।

1.2.8 भागवत

भागवत तो भक्ति का अजस्र स्रोत है ही। सम्भवतः भगवान् व्यास की यह सर्वश्रेष्ठ रचना है। आचार्य वल्लभ ने तो इसे व्यासदेव की समाधि भाषा मानी है। उन्होंने इसका यह नाम इसलिए दिया है कि जिन परम तत्वों की अनुभूति समाधि दशा में हुई थी, भागवत् में उसी का विवेचन किया गया है। जो परमात्मा साधारण व्यक्तियों की पहुँच के बाहर था उसी भगवान् को भागवत् ने प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया है।[5] अतएव इस ग्रन्थ ने मध्य युग में भक्ति

---

1. **गीता** 12.53.54.
2. **नारदभक्तिसूत्र**—58.
3. **वही**, 26, 30.
4. **गोस्वामी तुलसीदास**— (**आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**) —पृ. 11
5. **शुक्ल : सूरदास**—पृ. 25.

के विकास में अमिट प्रभाव दिखाया है।[1]

पद्मपुराण एक सुप्रसिद्ध पुराण है। इस प्रकार अधिकांश पुराण भक्ति की खान है और भागवत् पुराण तक आते-आते भक्ति भावना का चरमोत्कर्ष दृष्टिगोचर होने लगता है।

1.2.9 प्राकृत काव्य

गीता एवं पांचरात्र ग्रन्थों के बाद प्राकृत काव्य के रचयिता प्रवरसेन का "सेतुबंध" महाकाव्य लिखा गया। इसका रचयिता यद्यपि विष्णुभक्त है तथापि वह शिव और विष्णु को समान आदर देता है। इसी प्रकार प्राकृत के "गौड़वहो काव्य" के रचयिता वाक्-पतिराज ने भी अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ विष्णु की स्तुति से ही किया है।

1.2.10 संस्कृत काव्य

प्राकृत के बाद संस्कृत काव्य ग्रन्थों में भी भक्ति का प्रच्छन्न प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टिकवि ने राम के चरित्र को लेकर ही अपने महाकाव्य की रचना की है। महाकवि माघ ने भी अपने महाकाव्य का नायक विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण को ही बनाया है। नाटककारों में भास ने प्रतिमा, अभिषेक एवं बालचरित्र में राम एवं कृष्ण के चरित्र का ही चित्रण किया है। भवभूति ने महावीरचरित और उत्तर रामचरित में रामचन्द्र के चरित्र का ही विशद रूप से चित्रण किया है। इसके पश्चात् मुरारि कवि का अनर्घ राघव नाटक तथा राजशेखर का बाल रामायण और बाल भारत महानाटक राम और कृष्ण के चरित्र को लेकर ही लिखे गए। बारहवीं शताब्दी के आस-पास जयदेव ने प्रसन्नराघव लिखा जिसमें रामचन्द्र का चरित्र अत्यन्त लोकप्रिय रूप में चित्रित किया है। संस्कृत गीतिकाव्यों में जो सर्वश्रेष्ठ है। महाकवि जयदेव का गीति-गोविन्द, वह भी भक्ति भावना से ही ओत-प्रोत है। जयदेव के पश्चात् विद्यापति और मीरा ने समग्र उत्तर भारत को अपने भक्तिपरक गीतों से आनन्दविभोर बना दिया था। महाकवि सूरदास ने तो भक्ति को वह रूप दिया जिसकी समता विश्व के किसी भी साहित्य में दुर्लभ है।

1.2.11 शंकर आचार्य

शंकराचार्य एक बड़े दार्शनिक आचार्य थे। ऐसा प्रायः कहा जाता है कि उनका अद्वैतवाद बुद्धि का सर्वोत्तम विकास भले ही हो, किन्तु भक्ति भावना को उद्बुद्ध करने के लिए अनुकूल नहीं। इनका परम या केवल प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न नही कर सकता। जिसे केवल का साक्षात्कार नहीं होता उसकी पूजा कैसे की जा सकती है। वह ऐसे प्रकाशपुंज में अवस्थित है जहाँ किसी की पहुँच सम्भव नहीं।

---

1. **सुशील कुमार दे : अर्ली हिस्टरी ऑफ द वैष्णव फेथ अण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल**—पृ. 5.

सगुणोपासना या भक्ति के लिए निराकार को आकार ग्रहण करना ही पड़ता है।[1] लेकिन शंकराचार्य ने भी अनेक भक्ति-पूर्ण स्तोत्र लिखे हैं जिनमें उनका वह अद्वैतवाद रूप दिखाई नहीं पड़ता। स्वामी शंकराचार्य के बाद स्वामी रामानुजाचार्य ने द्राविड़ देश में प्रचलित भक्ति का प्राचीन भागवत धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित किया और उसे राष्ट्रीय धर्म बना दिया। रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में उनके कीर्ति संवाहक हैं रामानन्द। दर्शनपक्ष में रामानंद रामानुजाचार्य की परंपरा में हैं किन्तु उनके उपास्य लक्ष्मी नारायण की जगह सीताराम हैं। रामानंद ने दास्यभक्ति पर अधिक जोर दिया तथा भक्ति का अधिकारी नीच से नीच जाति के लोगों को माना। उनकी दृष्टि में "भक्ति भावना का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त है। हाँ इस मन्दिर में प्रवेश करने के पूर्व अपने अंतर में आस्था और विश्वास की ज्योति अवश्य ही जला देनी होगी और जिसके अन्तर में आत्मविश्वास और भागवत्प्रेम की ज्योति जल गई, वह देशकाल के बन्धनों से बहुत ही ऊँचा उठ गया।"[2]

उन दक्षिण के आचार्यों में निम्बार्काचार्य, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं। निम्बार्क ने भक्ति का बहुत प्रचार किया और राधा एवं कृष्ण दोनों की पूजा प्रचलित की। इनके द्वारा भक्ति का महान् उपकार हुआ। विष्णु स्वामी और मध्वाचार्य के सिद्धान्त प्रायः एक समान हैं। मध्व का सिद्धान्त था कर्म और ज्ञान चरम परिणति भक्ति ही में होती है। मध्व एक महान् धर्म-प्रचारक थे और इनमें जितनी ऊँची प्रतिभा थी उतनी ही अधिक मौलिकता। इनका चरित्र अत्यन्त उच्च था और आज तक दक्षिण में इनके धर्म वल्लभाचार्य का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अगर रामानन्द रामभक्तों के प्रेरणा-स्रोत रहे तो वल्लभाचार्य कृष्ण भक्तों के मूल उत्स रहे हैं। इनका प्रवर्तित मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। भगवान् के अनुग्रह से ही प्रेमप्रधान भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति होती है।[3]

ऊपर जिन आचार्यों की चर्चा हुई है, उनसे भक्ति भावना के विकास में बड़ी सहायता मिली है। इन्होंने भक्ति को एक राष्ट्रीय धर्म का रूप दे दिया। वैदिक धर्म के अनुकूल होने के कारण इनके अनुयायियों की संख्या विस्तृत है। इसलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन ठीक मालूम पड़ता है कि श्रीमद्भागवत की रस-सरिता में भारत की जनता को मज्जन कराकर उसका मधुर रस चखाने वाले आगे चलकर मुख्यतः श्री रामानुज एवं श्री वल्लभ हुए।[4] इन्हीं आचार्यों से प्रेरणा-ग्रहण कर हिन्दी के कवियों ने भक्तिकाव्य का सृजन किया।

---

1. राधाकृष्ण : इण्डियन फिलासफी—भाग-2, पृ. 648-49.
2. रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—पृ. 315.
3. हिन्दी साहित्य—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ. 65.
4. सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—पृ. 33.

1.2.12 हिन्दीतर भाषाओं में भक्ति

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों एवं लेखकों ने इस धर्म के प्रचार में योगदान दिया है। पूर्वी भारत के बंगाल और आसाम में यह भक्ति-भाव खूब फैला। चैतन्यदेव के प्रभाव में पंच-महानुभाव पंथ, वारकरी पंथ, रामदासी पंथ और हरिदासी पंथ ने भक्ति-स्रोत उमड़ाया। इनमें ज्ञानेश्वर, नामदेव तथा तुकाराम ने तो भक्ति की पावन गंगा ही बहा दी। गुजरात में तो महात्मा गांधी के प्रिय कवि नरसिंह मेहता ने भक्ति की धारा बहायी। इसी प्रकार उत्कल में भी रचनाएँ होती रहीं। इस तरह भक्ति के प्रसार में अन्य भाषाभाषियों ने भी कम योग नहीं दिया।

भक्ति में सगुण और निर्गुण ब्रह्म के दोनों स्वरूपों को स्वीकार किया गया है। वैष्णव सम्प्रदाय ने भक्ति की वैयक्तिक साधना के साथ जो सामाजिक साधना का रूप धारण किया, श्रवण-कीर्तन आदि द्वारा उसने जो समाज की सुप्त आध्यात्मिक वृत्ति को सामूहिक रूप से उद्दीप्त किया, उससे साधक के अहंभाव के विलयन में अमूल्य सहायता पहुँची। दूसरी ओर भक्ति की अवहेलना करने और भक्ति को चरम साध्य मान लेने के कारण भावानुभूतियों में जो चिर विरह की भावना प्रकट हुई, जो हमारे हिन्दी के भक्ति-साहित्य में एकदम अभिनव है और जिसे कबीर, सूर और तुलसी जैसे भक्त कवियों ने विशेष रूप से अपनी रचनाओं में मान्य स्थान दिया है, उसने भी इसी दिशा में अनुपम कार्य किया।[1] इसलिए इसमें निम्न-से-निम्न श्रेणी से लेकर उच्च से उच्च जाति के भक्त हुए हैं। केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी इस धर्म में दीक्षित हुईं और इसके प्रचार और प्रसार में संलग्न हुईं। इन भक्तों में ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, रामदास, नरसी मेहता, मीराबाई, कबीर, जयदेव, चैतन्यदेव, दादू, रविदास और नानक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस वैष्णवधर्म के प्रचार से हिन्दू धर्म में बहुत उदारता आ गई। इसलिये भक्ति भावना से बहुत मुसलमान (स्त्री और पुरुष) इस धर्म की ओर आकृष्ट हुए। इस भागवत-धर्म से प्रभावित होकर रामानन्द जी के शिष्य कबीर ने निर्गुण ब्रह्म का प्रचार किया। कबीर की भक्ति यद्यपि निर्गुणवाद की थी तथापि उन्होंने उपासना के क्षेत्र में अपने निर्गुणवाद से ही काम न लिया। उन्होंने जो प्रेम-पूर्ण पद लिखे हैं उनमें व्यक्त और सगुण परमात्मा के गुणों का उल्लेख हो ही गया है। कबीर के पश्चात् कबीर के शिष्यों का जो कबीर-पंथ चला उसने भक्ति के प्रचार में बहुत योगदान दिया। तुलसी और सूर के ग्रन्थ कबीर की कुछ कटु आलोचनाओं के उत्तर स्वरूप ही लिखे मालूम होते हैं। फारस के सूफी संप्रदाय के मुसलमान कवि भी इस भागवतधर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे और जायसी तथा उसके अनुयायियों ने

---

1. **भक्ति का विकास : डॉ. मुन्शीराम शर्मा**—पृ. 802.

जिस प्रेम की पीड़ा का रहस्योद्घाटन किया, उससे भक्ति के प्रसार में और भी सहायता हुई।

1.2.13 भक्ति-प्रचार में राजाओं का योगदान

भक्ति के प्रसार में कुछ राजा-महाराजाओं ने भी कम योगदान नहीं दिया। इन राजाओं में से कुछ तो शैव थे और कुछ वैष्णव। विष्णु एवं शिव दोनों ही की भक्ति राष्ट्र के अन्तर्गत सामानान्तर रूप में चल रही थी। जिस तरह अशोक और उसके वंशजों ने भारतवर्ष में बौद्ध धर्म को आश्रय दिया था और अपने समग्र साम्राज्य में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया था उसी प्रकार गुप्तवंश के सम्राटों ने विष्णु-भक्ति को अपना राष्ट्र-धर्म और राज्य-धर्म बना रखा था। शैव भक्तों में हर्षवर्द्धन और उसके पिता प्रभाकरवर्द्धन का नाम प्रसिद्ध है। इसमें सन्देह नहीं है कि भक्ति भावना एक रागात्मिका वृत्ति है। उसके आलम्बन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। सात्वतों के उदयकाल से लेकर आज तक भिन्न-भिन्न देवताओं के प्रति लोगों की जो भक्ति है वह एक परम्परा के रूप में है। पुराणों में शिवपुराण, लिंगपुराण प्रधानतया शिवभक्ति के ग्रन्थ हैं। विष्णु, शिव और शक्ति की उपासना सहस्रों वर्षों से इस देश में प्रचलित चली आ रही है। किन्तु इन सब परम्पराओं में विष्णुभक्ति की परम्परा समाज के उच्च और शिक्षित वर्ग में अधिक प्रचलित रही है। राम और कृष्ण के अवतार इसी भक्ति-परम्परा में जाने जाते हैं। हिन्दू साहित्य और संस्कृति को इसी परम्परा ने प्रभावित किया है। इनमें से भी रामभक्ति की उज्ज्वल धारा हिन्दू समाज को सर्वाधिक प्रिय रही है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के महान् ग्रन्थ रामभक्ति परम्परा को लेकर लिखे गए हैं।

1.2.14 भगवान् रामचन्द्र के चरित्र की महत्ता

भगवान् रामचन्द्र के चरित्र में कुछ ऐसा आकर्षण, कुछ ऐसी दिव्यता और पूर्णता है कि वे केवल आदर्श मनुष्य ही नहीं आदर्श आराध्य भी माने जाते हैं। इसीलिए राम शब्द भारतीय साहित्य में ईश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व करता है। कबीर के राम तुलसी के राम से सर्वथा भिन्न हैं। फिर भी राम में दोनों को परिपूर्ण आस्था है। राम भक्ति वाल्मीकि काल से आज तक हिन्दू समाज को इतनी प्रिय रही है कि शैव और शाक्त भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं। इसलिए तुलसी का रामचरितमानस और उनकी विनयपत्रिका भारत में आज सर्वजन ग्राह्य हैं। यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि रामचरितमानस जैसा लोकप्रिय ग्रन्थ साहित्य में विशेषतः विश्व के धार्मिक साहित्य में अद्वितीय है।

1.2.15 राम-भक्ति की मर्यादोपासनाधारा

मर्यादोपासना शाखा में हिन्दी राम-भक्त कवियों में सर्वप्रथम गोस्वामी विष्णुदास का नाम उल्लेखनीय है। ये पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त के कवि हैं। इनकी

रचनाएँ अप्रकाशित हैं। "भाषा वाल्मीकिरामायण" इनकी महत्वपूर्ण रचना है। इसमें "वाल्मीकिरामायण" का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर उपलब्ध है।[1] इस धारा के द्वितीय उल्लेखनीय कवि ईश्वरदास हैं। इनकी रचनाओं में रामानन्द-प्रतिपादित दास्य भक्ति का पल्लवन हुआ है। "सत्यवतीकथा", "भरतविलाप", "अंगदपैज", "रामजन्म" आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। "भरतविलाप" में भरत की दास्य भक्ति का सुन्दर चित्रण है। ईश्वरदास की रामकथा-सम्बन्धी रचनाओं से यह संकेत प्राप्त होता है कि भक्ति-भावना से प्रभावित राम-साहित्य विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में विकसित हो रहा था।[2]

मर्यादोपासनाधारा के सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। भक्ति-आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में तुलसी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस कवि ने सफल लोकनायक एवं सच्चे भक्त की दृष्टि से तत्कालीन सामाजिक दुर्बलताओं, धार्मिक पाखंडों एवं कुरीतियों को समूल नष्ट करने का प्रयास किया। विभिन्न सम्प्रदायों, वादों और धार्मिक भावनाओं का, भौतिकता और आध्यात्मिकता का, अथवा लोक और परलोक का, अद्‌भुत समन्वय भी इस कवि की असाधारण विशेषता है।

तुलसी के बाद राम-भक्त कवियों में हृदयराम का नाम लिया जाता है जिन्होंने १७२३ ई. में हिन्दी भाषा में "हनुमन्नाटक" की रचना की थी। आचार्य शुक्ल के अनुसार उस समय के रामचरित-संबंधी नाटकों में यह बहुत प्रसिद्ध था। इसमें राम की शक्ति और शील के साथ कोमल भावनाओं के सुन्दर चित्र हैं। तुलसी ने राम की शक्ति का जो भव्य रूप अपने काव्य में प्रदर्शित किया है, उसे हृदयराम ने अपनी संवाद-शैली के द्वारा अधिक आकर्षक बनाया है।

1.2.16 कृष्ण-भक्ति की मधुरोपासना

वह यह कि प्रज्ञा और उपाय के समक्ष राधा-कृष्ण की उद्‌भावना है, प्रज्ञा और उपाय के मिलन के समान ही राधा-कृष्ण के मिलन प्रसंग भी भक्ति-साधना में ग्रहीत हुए। किन्तु देखना यह है कि भक्त का उस मिलन से क्या सम्बन्ध रहा? यहाँ एक ऐसी मान्यता प्रस्तुत की जिसने साधना पद्धति में वामाचार को जड़ से ही काट दिया है और वह यह कि केवल कृष्ण को ही पुरुष-रूप माना गया और उनके अतिरिक्त अन्य सभी जीवों को स्त्री-रूप। इसलिए जीवों और जीवों के बीच प्रणय या संभोग की बात ही पैदा नहीं होती। इस प्रकार सभी स्त्री-पुरुष मूलतः स्त्री रूप ही माने गए, और प्रणय भाव का आलम्बन माना गया केवल कृष्ण को। इस प्रकार माधुर्य भाव का समावेश भक्ति-पद्धति में हुआ और साथ ही वामाचार का भी मूलोच्छेद हो गया। इस प्रकार कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति की प्रतिष्ठा हुई

---

1. तुलसी पूर्व राम-साहित्य—पृ. 134.
2. वही, पृ. 166.

जिसे वल्लभ-संप्रदाय में और गौड़ीय संप्रदाय में सबसे अधिक महत्व मिला। गौड़ी संप्रदाय ने तो माधुर्य भाव अथवा प्रेम को चारों पुरुषार्थ से ऊपर पाँचवें पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

एक ओर तो वैष्णव भक्ति में माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा हुई और उधर राधा-कृष्ण के मिलन-संभोग आदि के साहित्य की परम्परा चली। इस प्रकार साहित्य-साधना और प्रेम-साधना परस्पर सम्बद्ध एवं अन्योन्याश्रित रूप से चलने लगी।

* * *

द्वितीय अध्याय
तुलसी एवं त्यागराज की वैष्णव भक्ति

2.1 तुलसी की वैष्णव भक्ति

2.1.1 भक्ति: विवेक और वैराग्य जागृति का साधन

भक्ति से साधक में विवेक और वैराग्य की भावना जागृति होती है। इस दृष्टि से तुलसी ने राम से प्रार्थना की है कि—'हे प्रभो मैं आपका नाम लेकर अपने हृदय में भजन, विवेक, वैराग्य आदि गुणों को बसाना चाहता हूँ। आप अपनी भक्ति रूपी बांह का सहारा दीजिए। आपकी भक्ति के प्रताप से ज्ञान, विवेक, वैराग्य आदि सद्भावों का आविर्भाव होगा और काम, क्रोधादि नष्ट हो जाएंगे'—

मैं तुम्हरो लेइ नाम ग्राम इक उर आपने बसावौं।
भजन विवेक विराग लोग भले, मैं क्रम-क्रम करि ल्यावौं—
—दीजै भक्ति-बांह बारक ज्यों सुबस बसे अब खेरो॥[1]

यहाँ 'क्रम' शब्द का दो बार प्रयोग करके संकेत किया गया है कि भजन से विवेक और विवेक से वैराग्य उद्बुद्ध होता है। 'गीता' में कहा गया है कि जो संयम के साथ प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करता है, उसे मैं बुद्धियोग देता हूँ।[2] बुद्धियोग विवेक का दूसरा नाम है। विवेक-रहित वैराग्य जीवन से पलायन है।

2.1.2 भक्ति: भवसागर पार करने का साधन

अनवरत भगवद्भक्ति से भक्त भव-सागर से पार हो जाता है। उसे यज्ञ, संयम, आदि अन्य कठोर साधनों को अपनाने की अपेक्षा नहीं रहती।[3] जब तक भगवान् राम का भजन नहीं किया जाता, तब तक अन्य किसी भी साधन से सांसारिक विपत्तियाँ दूर नहीं हो सकतीं।[4]

---

1. **विप.**, 145.3-7.
2. **गीता**, 10.10.
3. **विप.**, 85.
4. **विप.**, 120.4—**भजे बिनु रघुपति विपति सके को टारी।**
   121.5—**रघुपति भक्ति, संत-संगति बिनु को भवत्रास नसावै॥**

2.1.3 भक्ति : परम सुख का कारण

भक्ति के बिना न तो इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में। वेद में सुख के जितने साधन बताए गए हैं वे सभी बिना भगवद्भक्ति के उसी तरह निस्सार है जैसे पानी के बिना तालाब और नदियाँ।[1] सच्चा भक्त या योगी ही परम आनन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति करता है। 'विनयपत्रिका' में कहा गया है कि भक्ति के द्वारा भेदात्मक ज्ञान का पूर्णतः परित्याग करके भक्त आत्मरूप (अद्वैत) में संस्थित हो जाता है और वैष्णवपद के परमानन्द का आस्वादन करता है।[2] हरिपद से विमुख होकर किसी को सुख नहीं मिलता। चन्द्र तथा सूर्य भगवान् के मन और नेत्रों से पृथक होकर दिन-रात आकाश में चक्कर लगाते रहते हैं। वहाँ भी राहु उनका पीछा नहीं छोड़ता। पवित्र देव-नदी गंगा भगवान् के चरणों में अलग होकर निरन्तर बहती है, और स्थिर नहीं रह पाती।[3]

2.1.4 भक्ति : भगवान् को वश में करना

भक्ति से प्रसन्न होकर, भगवान अपनी अपार महिमा को भूलकर, भक्त के वश में हो जाते हैं। जिस परब्रह्म ने देव, दनुज, नाग, नर सभी को काल और कर्म की डोरी में बांध रखा है, वहीं भक्ति से यशोदा के वश में होकर रस्सी से बंध्र जाता है। ग्वालबालों ने भगवान् को करताल बजा-बजा कर नचाया, राजा बलि के आगे उन्हें भिक्षुक बनना पड़ा, भक्त अम्बरीष के लिए दस बार अवतार लेना पड़ा। बड़े-बड़े ज्ञानी, मुनि, योग, विराग, ज्ञान, जप और तप द्वारा जिसे खोजते हैं, उसी प्रभु राम ने वानर, भालू आदि निकृष्ट पशुओं से प्यार किया। लोकपाल, यम, पवन आदि जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं वही भगवान् उग्रसेन के घर द्वारपाल बने।[4]

2.1.5 ज्ञान, कर्म की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता

ऊपर ज्ञानयोग और कर्मयोग की अपेक्षा, शास्त्रीय दृष्टि से, भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया जा चुका है। तुलसी ने 'विनयपत्रिका' के अनेक स्थलों में इस तथ्य का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप आदि अनेक साधनों से प्रभु को प्राप्त करके संसार की विपदाओं का अन्त किया जा सकता है। पर ये साधन तब तक सफल नहीं होते जब तक भगवान् राम के चरणों में प्रीति नहीं होती। राम-प्रेम के बिना ये साधन मृगतृष्णा के समुद्र की तरंगों के समान व्यर्थ हैं।[5] भगवान को आधार बनाए बिना सभी धर्म, कर्म परिश्रम मात्र

---

1. **विप.**, 192
2. **वही**, 167. 4-5.
3. **वही**, 87.
4. **वही**, 98.
5. **वही**, 194.3

है।[1] वेदों में तप, तीर्थ, जप, आदि साधनों के विविध फल बताए गए हैं, पर कलियुग में वे फल नहीं मिलते। काम, क्रोध, मद, लोभ, ज्ञान और वैराग्य को नष्ट कर देते हैं। संन्यास लेते ही मन विकृत होने लगता है। इसलिए रामभजन ही सबसे उत्तम साधन है। वह राज-मार्ग की भाँति निष्कंटक है।[2] कोरे-ज्ञान से कोई भी संसार-सागर से पार नहीं हो सकता है।[3] 'महाभारत' तथा 'भागवत' पुराण में वैदिक कर्मकांड को सकाम बताया गया है। कामनाओं से मुक्त होकर ही भगवान को पाया जा सकता है। अतः कोरे कर्मकांड से भगवत्प्राप्ति असम्भव है।[4] तुलसी ने भी योग, जप, यज्ञ और विज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ मानते हुए उसके लिए भगवान् से प्रार्थना की है—

जोग-जप-जज्ञ विज्ञान से अधिक अति,
अमल दृढ़ भगति दे परम सुख भरहुगे।।[5]

सुकर्म से भी पापों का क्षय नहीं होता। सुकर्म के साथ कितने ही दुष्कर्म हो जाते हैं। उनसे रक्त बीज के समान नए-नए पापों की वृद्धि हो जाती है।[6]

2.1.6 मुक्ति से भक्ति की श्रेष्ठता

मुक्ति के स्वरूप आदि के विषय में दर्शन के प्रकरण में विचार किया जा चुका है। सामान्यतः मुक्ति का अभिप्राय है जन्म-मरण अथवा आवागमन के चक्र से मुक्त होकर ब्रह्म से अभिन्न हो जाना। भक्त इस अभेद को नहीं चाहता। वह भगवान् की भक्ति करने के लिए अनेक शरीर धारण करना चाहता है तथा भगवान से "मैं दास हूँ और भगवान् स्वामी हैं", इस प्रकार का भेद रखना चाहता है। ऐसा भक्त भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। ब्रह्म का पद, इन्द्र का आसन चक्रवर्ती राज्य, योग की सब सिद्धियाँ और यहाँ तक कि सायुज्य मोक्ष भी नहीं चाहता। फिर भी भक्त को मोक्ष का सुख स्वतः प्राप्त होता है।[7] तुलसी ने 'मानस' में कहा है कि—

अस विचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने।।[8]

---

1. **विप.**, 264.3. **करम-धरम स्रम-फल रघुवर बिनु,**
   राख को सो होम है, ऊसर कैसो बरिसो।
2. **वही**, 173.1-5, 336.1, 155.3-4, 240.4.
3. **वही**, 123 2—**वाक्य-ग्यान-अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।**
4. **महाभारत शान्ति पर्व** 20.12.13, **भागवत पुराण** 11 5.5-6
5. **विप.** 211.3.
6. **वही**, 128.3.
7. **भागवत**, 11.14.14
8. **मानस**, 7.119.4

इस प्रसंग में तुलसी ने यह भी कहा है कि जिस प्रकार स्थल के बिना जल नहीं रह सकता उसी प्रकार हरि-भक्ति को छोड़ कर मोक्ष-सुख भी नहीं रह सकता।[1] 'विनयपत्रिका' में वे कहते हैं कि भगवान् राम के चरण कमलों में लुब्ध मुनि रूपी भ्रमर मुक्ति का निरादर करते हुए भक्ति मात्र से ही तृप्त रहते हैं।[2]

2.1.7 भक्ति-रहित जीव की दुर्दशा

'विनयपत्रिका' में भक्ति-रहित जीव की दुर्दशा तथा भक्त की महिमा का विस्तृत उल्लेख है। भक्ति-विमुख जीव सदा दीन, हीन, मलीन तथा दुःखी होकर जन्म-जन्मान्तर तक आवागमन के चक्कर में भटकता रहता है।[3] उसकी विपत्ति का नाश नहीं होता है।[4] हरि-चरणों से विमुख होने पर किसी को सुख नहीं मिलता।[5] अभक्त मनुष्य संसार में नरक-रूप जीवन बिताते हैं। इनका मन निरन्तर विषयों में अनुरक्त रहता है। ये पाप-मग्न रहते हैं, शूकर, श्वान, शृगाल के समान जन्म धारण कर व्यर्थ अपनी माँ को कष्ट पहुँचाते हैं।[6] भगवान् राम जैसे सुखद, सुशील और सुजान स्वामी को जो नहीं भजता, वह हर तरह से अभागा है, विधाता उसके विपरीत है। भक्ति की महिमा के सम्बन्ध में कवि कहता है कि भक्ति को पाकर मनुष्य, अपितु पशु, पक्षी आदि तिर्यक योनि वाले जीव तथा राक्षस भी जगत-पूज्य बन गए।[7]

2.1.8 भक्ति के भेद

भक्ति का निरूपण करने वाले विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भक्ति के अनेक भेदों की चर्चा की है। 'भागवत' में स्वरूप, साधन, साध्य, साधक, आदि कि दृष्टि से भक्ति के अनेक भेद किये गये हैं।[8]

2.1.9 निर्गुण-सगुण भक्ति

आराध्य अथवा इष्टदेव के स्वरूप-भेद से भक्ति दो प्रकार की है—निर्गुण और सगुण। अद्वैतवादी आत्मज्ञानियों की आकार रहित ब्रह्म विषयक भक्ति निर्गुण भक्ति है। इसका पर्यवसान 'सो हम' भक्ति में होता है, जिसका तात्पर्य है, 'मैं वही हूँ' अथवा मुझ में और ब्रह्म में नितान्त अभेद है। निर्गुण भक्ति अद्वैत मत का

---

1. **मानस**, 7.119.3.
2. **विप.**, 207.3.
3. **वही**, 63.9, 276.1.
4. **वही**, 86.5, 8.
5. **वही**, 87
6. **वही**, 140, 164.7, 225.3.
7. **वही**, 157.5.
8. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा**, पृ. 273-82.

प्रतिपादन करती है। सगुण भक्ति का सम्बंध लीलावपुधारी भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम से है। इसका पर्यवसान 'दासोऽहम्' (मैं दास हूँ) इस बुद्धि अथवा भावना में होता है।[1] यहाँ द्वैत भावना की प्रबलता रहती है। द्वैत के बिना इस भक्ति की स्थिति सम्भव नहीं है। द्वैत होते हुए भी आराधक की दृष्टि में सब कुछ उसके आराध्य से अभिन्न हो जाता है।[2] अभेद में भेद बुद्धि होने के नाते इस स्थिति को 'भेदाभेद' कहा गया है। भक्ति की पृष्ठभूमि में अद्वैत भावना काम करती है, द्वैत तो भक्त की भावना में केवल इसलिए बना रहता है कि वह अपने आराध्य की तुलना में अपने को नितान्त क्षुद्र समझता है। साथ ही यदि वह दोनों में अभेद मान ले तो भक्ति किसकी करेगा? पर यह द्वैत केवल भक्त और भगवान् की दृष्टि से है। इसी द्वैत अथवा भेद की स्थिति के कारण सगुण भक्ति को 'भेद-भक्ति' भी कहा गया है।[3] इस भक्ति में स्वामी-सेवक जैसा भेद-भाव अनिवार्य है।

तुलसी साहित्य में यद्यपि निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का समन्वय है,[4] पर तुलसी का मन सगुण भक्ति में ही रमा है। निर्गुण और अद्वैत रूप में भगवान् राम की उदात्त स्थिति भले ही तुलसी की कृतियों में पायी जाती हो, पर वह सब सगुण राम में अपनी भक्ति की परिपुष्टि का एक प्रबल आधार बनकर उपस्थित हुआ है। इसलिए तुलसी को 'भेदाभेद' वाली सगुण भक्ति विशेष प्रिय है। उसमें भी दास्यभाव वाली भक्ति उनका आदर्श है जिसमें दास और स्वामी का भेद निरन्तर बना रहता है।

'विनयपत्रिका' नाम ही भगवान् राम के सगुण रूप से सम्बद्ध है। भक्त अपना विनीत पत्र भगवान् के दरबार में पहुँचाना चाहता है। भगवान् के दरबार, उनके पार्षद, इत्यादि की कल्पना भगवान् के निर्गुण रूप में नहीं की जा सकती। प्राय: प्रत्येक पद में, राम के सगुण रूप का स्तवन करते हुए, कवि ने उनकी महिमा का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि तुलसी भक्ति के क्षेत्र में सगुणोपासना के पक्षधर हैं। उन्हें यह मार्ग सरल, सुसाध्य एवं मन को रमाने वाला लगता है। 'कवितावली' और 'मानस', इत्यादि में भी सगुण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कवि ने बार-बार किया है।

'विनयपत्रिका' के कुछ स्थलों में राम के निर्गुण रूप और अद्वैत स्थिति का भी उल्लेख है। श्रीराम की स्तुति करते हुए कहा गया है कि 'राम उपाधि रहित,

---

1. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा—पृ.** 276.
2. **मानस**—4.3. —**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।**
3. 6. 111. 3, **दसरथ भेद-भगति मन लावा।**
   तथा 3. 9. 1, **प्रथमहि भेद-भगति बर लयऊ।**
4. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा, पृ.** 276-77.

इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से परे, अजन्मा तथा अद्वितीय हैं। अनन्त निर्गुण-स्वरूप हे राम! मैं आपकी वन्दना करता हूँ'—

अजित निरुपाधि गोती तमव्यक्तविभुमेकमनवदय मजद्वितीयं
प्राकृत प्रकट परमात्मा परमहित प्रेरकानन्त बन्दे तुरीयं॥[1]

भक्ति-मार्ग की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए तुलसी ने कहा है कि वास्तविक भक्ति उस अद्वैत योगी[2] के लिए सम्बंध है, जो दृश्य-मात्र को, सम्पूर्ण सृष्टि प्रपंच को, अपने पेट में रख ले और भेद-बुद्धि रूपी निद्रा को त्याग कर सबमें भगवान् राम को देखे, अर्थात अद्वैत भावना में शयन करे। इन अंशों से लगता है कि तुलसी की दृष्टि में सगुण अथवा भेदात्मिक भक्ति की अपेक्षा निर्गुण अथवा अद्वैत भेद वाली भक्ति अधिक श्रेयस्कर है, अथवा सगुण भक्ति का लक्ष्य निर्गुण भक्ति है। पर तुलसी अपने और जनसाधारण के लिए सगुण भक्ति के मार्ग को अधिक सरल मानते हैं और इसी रूप में वे इसे राजमार्ग का नाम देते हैं।[3] भक्ति की कठिनाई की जो बात तुलसीदास ने कही है, वह निर्गुण भक्ति के सम्बंध में ही अधिक ठीक है।

प्रश्न हो सकता है कि सगुणोपासक तुलसी ने निर्गुण भक्ति की चर्चा क्यों की? वस्तुतः भक्ति की चर्चा की पूर्णता के लिए इन दोनों का उल्लेख आवश्यक है। सगुण भक्ति अपेक्षाकृत स्थूल भक्ति है, जो प्रौढ़ होने पर सूक्ष्म निर्गुण भक्ति के रूप में परिणत होती है, जहाँ पूर्ण अद्वैत की स्थिति होती है।

2.1.10 साध्यरूपा तथा साधनरूपा

साध्य और साधन की दृष्टि से भक्ति के दो अन्य भेद हैं—साध्यरूपा और साधनरूपा। साध्यरूपा भक्ति को प्रेमरूपा, मुख्या, परा अथवा परम भक्ति कहा गया है। नारद की दृष्टि में यही 'भगवत्परमप्रेमरूपा' भक्ति है[4] तथा शाण्डिल्य के अनुसार 'ईश्वरपरानुरक्ति' है, मधुसूदन सरस्वती आदि ने इसे फल भक्ति कहा है।[5] साधनरूपा भक्ति को गौणी अथवा इतरा कहा गया है।[6]

साध्या भक्ति दो प्रकार ही है—साधनजन्या और कृपाजन्या। साधनों द्वारा प्राप्त होने वाली भक्ति साधनजन्या तथा केवल भगवत्कृपा से प्राप्त होने वाली

---

1. **विप.**, 53.3.
2. **वही**, 167. 4.
3. **गीता**—2.70-73
4. **मुख्या भक्ति की दृष्टि से द्रष्टव्य नारदभक्तिसूत्र**, 25-26, 51-55, **गौणी भक्ति की दृष्टि से द्रष्टव्य नारदभक्तिसूत्र** 56-57 **तथा तुलसी-दर्शन मीमांसा, पृ.** 277.
5. **विप.**, 173.5.
6. **शाण्डिल्यभक्तिसूत्र**, 10, 20.

भक्ति कृपाजन्या है। साध्या भक्ति के सम्बंध में ग्यारह आसक्तियों का नाम लिया गया है।[1] (1) गुणमाहात्म्यासक्ति, (2) रूपासक्ति, (3) पूजासक्ति, (4) स्मरणासक्ति, (5) दास्यासक्ति, (6) सख्यासक्ति, (7) कान्तासक्ति, (8) वात्सल्यासक्ति, (9) आत्मनिवेदनासक्ति (10) तन्मयतासक्ति (11) परमविरहासक्ति। इनमें से पहली, दूसरी, चौथी, पाँचवीं, नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं से सम्बद्ध अनेक मार्मिक चित्र 'विनयपत्रिका' में उपलब्ध हैं।

तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में प्रसंगतः भक्ति के विविध साधनों की चर्चा की है, पर साध्या भक्ति की प्राप्ति में एक मात्र हेतु वे राम की कृपा मानते हैं।[2] गौण रूप में साधनों को भी तुलसी ने महत्व दिया है तथा नवधा भक्ति का यत्र-तत्र उल्लेख किया है। तुलसी के अनुसार साधनों की चरितार्थता तभी सम्भव है जब साधक पर भगवान् राम की विशेष कृपा हो।[3]

साधनरूपा भक्ति, भक्त के सात्विक, राजस और तामस गुणों के आधार पर तीन प्रकार की है। इस कारण यह भक्ति सगुण मानी जाती है। इस साधनरूपा भक्ति में सकाम भावना होती है। पापों और अपराधों के परिमार्जन के लिए भेदभाव से युक्त कर्तव्य-भावना से जो भक्ति की जाय वह, सत्व गुण की प्रमुखता के कारण सात्विकी भक्ति है। भोग, यश, ऐश्वर्य आदि सांसारिक कामनाओं से युक्त साधक के द्वारा भेद-बुद्धि सहित जो भक्ति की जाती है, वह राजसी भक्ति है। सुग्रीव आदि इस श्रेणी के भक्त हैं। क्रोध, ईर्ष्या, हिंसा, दंभ आदि कुत्सित भावनाओं के साथ दूसरों को कष्ट पहुँचाने एवं अपने अहंकार को बढ़ाने के लिए की जाने वाली भक्ति तामसी है। रावण इसी कोटि का भक्त है।[4]

साध्यरूपा भक्ति को निर्गुण भक्ति कहा गया है। इस स्थिति में साधन तीनों गुणों से ऊपर अविच्छिन्न भाव से सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों को भगवान् में लगा देता है। भरत, हनुमान, विभीषण आदि इस कोटि के भक्त हैं।[5]

'विनयपत्रिका' में साध्यरूपा भक्ति का ही प्रायः उल्लेख है। कहीं-कहीं साधनरूपा भक्ति के दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। तामसी भक्ति के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि भगवान राम जिस तामस भक्त पर नाराज हो जाते हैं, उसे अपने

---

1. **नारदभक्तिसूत्र,** 82.
2. **विप.,** 120.1, 123.1, 161.1.
3. **वही**, 116.5— **ग्यान, भक्ति, साधन, अनेक सब सत्य झूठ कुछ नाहीं।**
   तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं।
   विप., 113.5. **तुलसिदास प्रभु तब प्रकास बिन संसय टरत न टारी।**
4. **नारदभक्तिसूत्र,** 56.
5. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा पृ.** 281.

साकेत धाम भेज देते हैं।[1] तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में कहीं सात्विकी, राजसी और तामसी इन भेदों का उल्लेख नहीं किया है। पर उदाहृत भक्तों के स्वभाव, आचरण आदि पर विचार करने से निर्णय किया जा सकता है कि उनकी भक्ति किस कोटि की है। वस्तुतः तुलसी राम की महिमा से इतने अभिभूत हैं कि वे उनके भक्तों में भेद करना ही नहीं चाहते। वे मानते हैं कि भगवान् राम जिस पर कृपा कर देते हैं, वह किसी भी कोटि का क्यों न हो, उसका उद्धार अवश्य हो जाता है।[2]

2.1.11 भक्ति के बाधक तत्व

सरल एवं सुखद होते हुए भी भक्ति-मार्ग निष्कंटक नहीं है। जीव इस नश्वर संसार को सत्य मानकर इसी में पूर्णतः रम जाता है। वह चाह कर भी प्रभु में अनुरक्त नहीं हो पाता। विषय-वासनाएँ उसे प्रभु की ओर जाने ही नहीं देतीं। जीव सांसारिक सुखों की मृगमरीचिका के पीछे भागता रहता है। इस रूप में, अविद्या एवं उससे उत्पन्न ऐन्द्रिय सुखों में आसक्ति भक्ति-मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। 'नारदभक्ति सूत्र'[3] में इसी को दुस्संग कहकर त्याज्य बताया गया है। इन्द्रियों का कोई भी विषय जो भक्त को भगवान् से दूर ले जाए दुस्संग है। दुस्संग से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अविवेक आदि अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं।[4] इसलिए इसे भक्ति-मार्ग का सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। व्यर्थ का तर्क-वितर्क भी भक्ति मार्ग की एक बड़ी बाधा है।[5] अधिक तर्क-वितर्क से बुद्धि भ्रमित होती है और उससे नाना संशय उत्पन्न होते हैं। अतएव भक्त को व्यर्थ के वाद-विवाद में न पड़कर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रभु-प्राप्ति के पथ पर चलना चाहिए।

भक्ति मार्ग के इन अन्तरायों का उल्लेख 'विनयपत्रिका' में यत्र-तत्र पाया जाता है। एक स्थान पर क्रमबद्ध रूप में कुछ नहीं कहा गया है, पर ढूँढ़ने पर प्रायः सभी अन्तरायों की बात मिल जाती है। तुलसी के कथनानुसार मन की मूढ़ता (जीव का अज्ञान) तथा विषय-वासनाओं की प्रबलता भक्ति मार्ग के दो प्रमुख अन्तराय हैं। इन दो मूल कारणों को, भिन्न-भिन्न रूपों में विभिन्न पदों में प्रस्तुत किया गया है।

2.1.12 मन की मूढ़ता

मन और इन्द्रियों का सामान्य स्वभाव है कि वे विषय-वासनाओं की ओर प्रवृत्त होती हैं। नेत्र रूप में, रसना षड् रस में, श्रवण शब्द में, नासिका सुगन्ध में

---

1. **विप.**, 71.6.
2. **वही**, 112. 1-2.
3. **नारदभक्तिसूत्र**, 43.
4. **नारदभक्ति सूत्र**—43.
5. **वही**,—74

और त्वचा स्पर्श में लगी रहती हैं।[1] ये सभी विषय नितान्त तुच्छ हैं। फिर भी मन इन्हीं की तरफ भागता है। उपनिषदों में कहा गया है कि इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्मुखी हैं, बाहर की ओर देखती हैं, कोई विरला व्यक्ति ही इन्द्रियों को वश में करके अपने अन्दर आत्मा का दर्शन कर पाता है।[2]

तुलसी ने मन की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का उल्लेख विस्तार से किया है। मन तीनों तापों से जलता रहता है। काम, क्रोध लोभ रूप त्रिदोष से ज्वर उत्पन्न हो जाता है, उस ज्वर में व्यक्ति पागलों की भाँति व्यवहार करता है।[3] वह उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य इत्यादि को भूल जाता है और हर तरह से अपनी वासनाओं को पूर्ण करना चाहता है, दुर्गुणों, विविध अन्याय-पूर्ण भावनाओं एवं कार्यों में निमग्न रहता है, दिन-रात विषयों के पीछे भागता है, दूसरों के गुण सुनकर उसे जलन होती है और दूसरों के दोषों को सुनकर अपार प्रसन्नता होती है, अपने बड़े से बड़े अपराध पर वह ध्यान नहीं देता और दूसरों के छोटे से छोटे अपराध को बहुत बड़ा मानता है, भगवन्नाम जैसी अमूल्य निधि को विविध भोग रूपी तुच्छ वस्तुओं के लिए बेचता फिरता है, वह आसक्तियों और सांसारिक-मनोरथों में जीव को धकेल देता है।[4] मन का और उसके द्वारा इन्द्रियों का विषयों में सहज अनुराग है।[5] पाप करने में मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वह स्वभावतः काम-लोलुप होकर इधर-उधर भटकता है।[6] मन ऐसा मूढ़ और हठी है कि सिखाने पर भी नहीं सीखता। वह स्वभावतः ईर्ष्यालु है। यह दूसरों की सम्पदा से दुःखी होता है।[7] यह मन ही संसार में जीव के आवागमन का कारण है। अज्ञान-वश जीव के साथ अनेक योनियों में घूमता हुआ भी यह नहीं थकता।[8] यह कर्म रूपी कीचड़ में चित्त को सानकर मल को मल से धोना चाहता है।[9]

'विनयपत्रिका' के इन कथनों से स्पष्ट है कि भगवद्भक्ति में मन की मूढ़ता, हठशीलता और दुर्दमनीयता प्रमुख कारण है। इस रूप में जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण मन है। 'गीता' में अर्जुन ने कहा है कि मन निग्रह वायु के समान सुदुष्कर है, वह प्रमाथी, बलवान और दृढ़ है।[10] गीता में यह भी कहा गया है कि

---

1. **विप**, 110. 1.
2. **कठोपनिषद**, 4. 1.
3. **विप.**, 81. 1.
4. **वही**, 143.
5. **वही**, 170.
6. **वही**, 158. 1.
7. **वही**, 202.4.
8. **वही**, 202 .3
9. **वही**, 245. 3.
10. **गीता**, 6.34.

मन सूक्ष्म शरीर के रूप में जीव के साथ, पूर्व संचित कर्मों तथा विचारों के संस्कार के रूप में, जन्म जन्मान्तर तक रहता है। जिस तरह वायु स्थान-विशेष के गन्ध को लेकर उड़ा करती है उसी तरह जीव, एक शरीर को छोड़ते हुए, इन गन्ध, रूप, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को लेकर अगला शरीर धारण करता है।[1] 'गीता' में मन को वश में करने के उपाय के रूप में अभ्यास और वैराग्य का नाम लिया गया है।[2] तुलसी अभ्यास और वैराग्य की प्राप्ति के लिए भगवान की कृपा आवश्यक मानते हैं।

2.1.13 माया की प्रबलता

मन की मूढ़ता के मूल में माया अथवा माया से उत्पन्न, अज्ञान दिखाई देता है। माया भगवान् की अविद्या शक्ति है। माया, अविद्या अथवा अज्ञानरूपा शक्ति बड़े-बड़े ज्ञानियों और योगियों के चित्त को भी आकृष्ट कर लेती है तथा मोह आदि से जकड़ देती है।[3] माया, मोह आदि से मन, बुद्धि इत्यादि सब मूढ़ बन जाते हैं।[4] माया के कारण एक ऐसा अज्ञान मन में उत्पन्न होता है जिससे वह विष रूपी विषयवासनाओं को भी अमृत के समान समझने लगता है तथा परमार्थ रूपी अमृत को अग्नि के समान दाहक मान लेता है। माया के कारण ही काम, क्रोध, लोभादि भी अधिकाधिक प्रबल हो जाते हैं। वे एक तरफ तो शरीर से मिलकर रहते हैं और दूसरी ओर जीव को परेशान करते हैं। वे ऐसे कपटी हैं कि जीवात्मा की सहायता से ही शरीर में रह पाते हैं, फिर भी छल बल करके जीव को ही हर तरह से परेशान करते हैं।[5]

भगवान् राम की यह माया शक्ति अत्यन्त दुस्तर है। इसके वश में होकर ब्रह्मा व शंकर तक नाच नाचते हैं। 'मानस' में इस बात का अनेक बार उल्लेख है।[6] 'गीता' में कहा गया है कि इस दुरत्यया माया को वे ही पार कर पाते हैं, जो भगवान् की शरण में आ जाते हैं।[7] तुलसी ने भी कहा है कि माया राम की आज्ञानुसार किसी को छोड़ती अथवा पकड़ती है।[8]

---

1. **गीता**, 15.8
2. **मानस** 7.62—**सिव विरंचि कहुँ मोहई, को है बपुरा आन।**
   तथा 1 **श्लोक** 6 **यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः।**
3. **विप.**, 246. 1-3.
4. **वही**
5. **वही**, 147.2.
6. **मानस**, 7.118 **क, हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ विहगेस॥ तथा** 4. 20. 2. **अतिसय प्रबल देव तब माया।**
7. **गीता** —7.14.
8. **विप.**, 246. 3, **छोड़ति छोड़ाये तै गहाये तै गहति।**

माया के कारण भ्रम इतने व्यापक और सघन रूप में मनुष्य को घेरता है कि नित्य भोगों और शरीर आदि की अनित्यता और दुःखप्रदता को देखते, सुनते, कहते और समझते हुए भी, उसका सन्देह नष्ट नहीं होता है।[1] माया से उत्पन्न काम, क्रोधादि, भजन, विवेक आदि सद्‌गुणों को नष्ट करके स्त्री, शत्रु, धन आदि में आसक्ति उत्पन्न कर देते हैं।[2] ये काम, क्रोध, भक्त को अनेक दुष्कर्मों में प्रेरित करते हैं। सबसे प्रबल वैरी काम है। उसे 'विनयपत्रिका' में 'बोधि-रिपु' कहा गया है।[3] 'गीता' में भी काम को 'ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करने वाला' कहा गया है।[4] ये काम, क्रोधादि भाव बड़े निर्दयी हैं, मन को अपने वश में करके अनेक कुकर्म कराते हैं। इन पंक्तियों में इनकी निर्दयता का मार्मिक उल्लेख है।[5]

1. **हौ न कबूलत बांधि के मोल करत करेरो।**
2. **सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक करहिं जोर बरियाई॥**
   मिले रहे, मारयो चहें, कामादि संघाती।
   मों बिनु रहें न मेरिये जारें छल छाती॥
   वसत हिय हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।
   कियो कथक को दंड हौं जड़ करम कुचाली॥

2.1.14 कलिकाल का प्रभाव

प्रचलित मान्यता के अनुसार सृष्टि का काल चार युगों में विभाजित है— सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलि। | कलि सृष्टि-चक्र का अन्तिम युग है। इसमें तामसिक वृत्तियों का अत्यधिक प्राबल्य माना जाता है। तुलसी ने कलि को अधर्म का प्रतीक मानते हुए उसे भी भक्ति मार्ग में एक बड़ा अन्तराय माना है। उनके विचार में कलि रात्रि है, जिसमें कुकर्मों का प्रभाव बढ़ जाता है, सदाचार, सद्‌गुण, विवेक आदि नष्ट हो जाते हैं। कलियुग ने हनुमान जैसे समर्थ देवता को गुण रहित एवं असमर्थ बना दिया है।[6] कलि द्वारा योग, संयम, समाधि सभी ग्रस्त हैं,[7] सभी साधन-पद्धतियाँ दूषित हो गई हैं। एक मात्र नाम-जप ही जीव के उद्धार का आधार है। कलि के व्यापक प्रभाव का उल्लेख तथा इसके द्वारा वैराग्य, योग, तप, त्याग इत्यादि सभी को असाध्य बना देने की बात 'विनयपत्रिका' में अनेक पदों में

---

1 **विप.,** 121. 1, 116, 119, 117.
2. **वही,** 145. 4.
3. **वही,** 125. 4.
4. **गीता,** 3. 39. 41.
5. **विप.,** 146, 145. 4, 147. 2-3.
6. **वही,** 32. 2.
7. **वही,** 66. 2.

है।[1] 'मानस के 'बुद्धि विकल भई बतासा' में भी यह स्वीकार किया गया है कि कलियुग में बुद्धि चंचल रहती है, कोई साधन निर्विघ्न समाप्त नहीं होता।[2]

2.1.15 वाद-विवाद अथवा तर्क-वितर्क

उपनिषदों में कहा गया है कि तर्क अस्थिर है, उसके द्वारा परम तत्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता।[3] 'नारदभक्तिसूत्र' में कहा गया है कि वाद-विवाद से बात बढ़ती जाती है। उसका कोई निश्चित रूप नहीं होता।[4] 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने कहा है कि 'हे रसने! यदि तू वाद-विवाद और रसों के आस्वाद को छोड़कर भगवान के भजन में मन लगा लेगी, तो तुलसी संसार-सागर से पार हो जायेगा। तू तीनों लोकों में पवित्र कीर्ति प्राप्त करेगी।[5] तुलसी ने दूसरों की निन्दा, स्तुति एवं काम-कथा आदि के परित्याग पर भी विशेष बल दिया है।[6]

2.1.16 भक्ति के साधन

परा अथवा साध्या भक्ति की प्राप्ति के लिए भक्ति शास्त्र में अनेक प्रकार के साधनों का उल्लेख है। जैसे—भगवत्कथा में श्रद्धा, उनके नाम-गुण का कीर्तन, उनकी पूजा में पूर्ण निष्ठा, स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति, उनकी सेवा आदि। इन साधनों के लिए भी 'भक्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है, यह साधनरूपा भक्ति है।

भक्ति के साधनों को तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है—कृपासाधन, अविहितसाधन विहितसाधन। कृपासाधन में भगवत्कृपा, पुरुषकारकृपा, गुरुकृपा और सन्त देव तथा द्विज की कृपा का समावेश है। अविहित साधन में रागानुग-साधनों का वर्णन है। भगवान् के साथ जिन रागानुग सम्बन्धों द्वारा साधक उनकी भक्ति या कृपा प्राप्त करता है, वे रागानुग साधन हैं। विहित साधन में नवधा भक्ति, भक्ति की सात भूमिकायें, परोपकार आदि अभिप्रेत हैं।[7]

1. कृपा साधन

भक्त की साधना के बिना भी भगवान्, गुरु आदि की कृपा हो जाती है, इस दृष्टि से कृपा साधन नहीं है, किन्तु कृपा के द्वारा साध्यरूपा भक्ति प्राप्त होती है। इस दृष्टि से वह साधन है।

---

1. **विप.,** 67. 128. 2., 155. 2-3, 173, 184.
2. **मानस,** 7. 117. 7.
3. **कठोपनिषद्** 2. 9—**नैषा तर्केण मतिरापनेया।**
4. **नारदभक्तिसूत्र,** 75.
5. **विप.,** 237. 5.
6. **वही,** 237. 5.
7. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा** —पृ. 286.

2. भगवत्कृपा

भक्त साधनों में भगवत्कृपा का विशेष महत्व है। इसे सभी साधनों की अपेक्षा प्रधान माना गया है। उपनिषद में कहा गया है कि प्रभु जिसका वरण कर लेते हैं, उसे ही वे प्राप्त होते हैं। अपने प्रयास से उन्हें कोई नहीं पा सकता।[1] शैवागम में कहा गया है कि ऐसा कोई उपाय नहीं है जो शिव को प्रकाशित करने में समर्थ हो- 'उपाजयालं न शिवं प्रकाशयेत् घटेन किं भाति सहस्त्रदीधिति'[2]। भक्ति सूत्रां में भी भक्ति की प्राप्ति में भगवत्कृपा को अमोघ माना गया है।[3] 'गीता' में भगवान् ने आश्वासन दिया है कि मेरे ऊपर विश्वास रखने वाला भक्त, सम्पूर्ण कठिनाइयों को पार करके, अन्त में मुझे प्राप्त कर लेता है।[4] 'मानस' में भी अनेक बार इस तथ्य का उल्लेख हुआ है।[5]

'विनयपत्रिका' में तुलसी ने कहा है कि राम की माया का रहस्य कोई तब तक नहीं जान सकता, जब तक राम ही उस पर दया न करें।[6] ऐसा कोई भी साधन अथवा साधक का प्रयत्न नहीं है, जिससे भगवान् प्रसन्न हो सकें—**'तुलसीदास हरि तोषिये सी साधन नाही'**।[7] विवेक ज्ञान की प्राप्ति भी भगवान् की कृपा से होती है।[8] उन्हीं की कृपा से भक्तों का मन वश में होता है, भव-बन्धन से मुक्ति मिलती है, मोह-शृंखला टूटती है।[9] इसीलिए तुलसी ने बार-बार राम की कृपा-याचना की है।[10] उन्हें डर है कि प्रभु की कृपा के विलम्बनरूप दोष से अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं।[11] भगवत्कृपा की असाधारण महिमा की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' के 'घोर-संसारपाथोधि-पोत' 'घोर-संसार-पार-दाता' 'भव-जलधि-पोत-चरणरविन्द', घोर-भवनीर-निधि नाम निज नाव रे' अंश विशेष महत्वपूर्ण हैं।[12]

तुलसी यह मानते हैं कि वेद आदि शास्त्रों में जितने उपाय कहे गए हैं, वे साधक में अहं भावना उत्पन्न करते हैं। अतः बन्धनकारक, परिश्रम साध्य और

---

1. **कठोपनिषद**, 2. 23 —**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।**
2. **साधु-दर्शन और सत्प्रसंग, प्राक्कथन, पृ.** 1 **पर उद्धृत।**
3. **नारदभक्तिसूत्र** 38. 40
4. **गीता**, 18. 56, 58, 62.
5. **मानस**, 4. 3. 1, 4.21.3
6. **विप.**, 116.1, 123. 1.
7. **वही**, 109. 5
8. **वही**, 13. 8
9. **वही, क्रमशः** 89.4, 64.1 102 **तथा** 114.5.5
10. **वही**, 149, 153, 154 **आदि।**
11. **वही**, 179. 5.
12. **वही, क्रमशः** 46.5, 54.5, 64.7, 66.1.

कष्टप्रद है। तुलसी ने इन साधनों को मल कहा है। जिस प्रकार मल से मल नहीं धोया जा सकता, उसी प्रकार इन साधन रूप मलों से साधक का अन्तःकरण निर्मल नहीं हो पाता।[1]

भगवत्कृपा के अन्य पर्यायों का प्रयोग भी विनयपत्रिका में मिलता है। जैसे— प्रसाद, 'दाया', अनुग्रह', छोह, आदि।[2]

3. पुरुषकारकृपा

वैष्णव मत में भगवत्कृपा के प्रसंग में पुरुषकारकृपा का विशेष महत्व है। 'पुरुषकार' शब्द का अभिप्राय है पुरुषार्थ (उद्देश्य) की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न। भक्ति-सम्प्रदाय में, विशेषतः वैष्णव मत में, इसका व्यवहार उस व्यक्ति विशेष के लिए किया गया है, जो भक्त की भावना को उसके आराध्य तक पहुँचा दे तथा मध्यस्थ का काम करे। 'पुरुषकार' का सैद्धान्तिक विवेचन दर्शन के प्रकरण में हो चुका है। विष्णु-पत्नी लक्ष्मी को पुरुषकार रूपा माना गया है। वे भगवान् द्वारा जीवों को क्षमा दिला कर उनका भगवान् के साथ दृढ़ सम्बंध स्थापित करती हैं। रामानन्द सम्प्रदाय में सीता राम की पुरुषकार रूपा माना है उनकी कृपा के बिना जीवों को राम की, प्राप्ति नहीं होती।[3] डॉ. रामदत्त भारद्वाज ने 'पुरुषकार' के पर्याय के रूप में 'अन्तरासत्ति' का प्रयोग किया है। 'अन्तरासद' (मध्यस्थ) प्रार्थना आदि के द्वारा अपने से भिन्न व्यक्ति का कल्याण करता है। डॉ. भारद्वाज के अनुसार ईसाई धर्म में अन्तरासद बन सकते हैं। दूसरे में भगवत्कृपा के निमित्त की गयी प्रार्थना में मुहम्मद का नामो लेख ही पर्याप्त है। डॉ. भारद्वाज यह भी मानते हैं कि वैदिक काल में प्रचलित 'पौरोहित्य' शब्द में अन्तरापत्ति की भावना निहित है। 'पुरोहि' अथवा 'पुरोधा' शब्द से वह व्यक्ति अभिप्रेत है। जो वकील की भाँति दूसरे के हित को किसी देवता ईश्वर के समक्ष उपस्थित करे।[4] उनका यह विचार स्वीकार्य नहीं है। 'पुरोहित, देवपरक कर्मों का सम्पादक तो है, पर वह स्वयं आराध्य-कोटि में नहीं आ पाता। पुरुषकार रूप में अभिप्रेत लक्ष्मी अथवा सीता भक्तों की आराध्या भी हैं।

'पुरुषकार' के सिद्धांत को मानते हुए तुलसी ने 'विनयपत्रिका' के आरम्भ में रामभक्ति की प्राप्ति में सहायक बनने के लिए अनेक देवताओं की तथा हनुमान, भरत और लक्ष्मण की स्तुति की है। कवि की दृष्टि में मुख्य पुरुषकार सीता है।

---

1. **विप.**, 245.3— **करम-कीच जिय जिम, सानि चित; चाहत कुटिल मलहि मल धोयों॥**
2. **वही, क्रमशः** 161.9, 224.4, 225.4, 227.3, 116.1, 118.5, 202.1, 135.3, 573.1
3. **रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ.** 254, 285-86।
4. **गोस्वामी तुलसीदास, पृ.** 402, 400-5.

जीव के उद्धार के सम्बन्ध में सीता की कृपा का महत्व प्रकट करने के लिए ही तुलसी ने 'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव' इस पंक्ति में 'जानकीस' शब्द का प्रयोग किया है।[1] कवि ने सीता से आग्रह पूर्वक प्रार्थना की है कि वे, अनाथ तुलसी की करुण कथा चला कर, भगवान को उनकी स्मृति दिलाएँ—

कबहुंक अम्ब अवसर पाइ।
मेरियो सुधि द्यायिबी कछु करुण कथा चलाइ।।
जानकी जग-जननि जन की किये वचन सहाइ।
तरे तुलसिदास भव तव नाथ गुन गन गाई।।[2]

'विनयपत्रिका' का रूपक पुरुषकारकृपा की पृष्ठभूमि में अच्छी तरह समझा जा सकता है, यद्यपि कवि ने पुरुषकार शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है।

4. गुरुकृपा

साधना में गुरु का असाधारण महत्व है। वैष्णव मत में माना जाता है कि गुरु के द्वारा भगवान् राम की प्रपत्ति मिलती है। रामानन्द ने वैष्णवों को उपदेश दिया है कि वे भगवान को जानने के लिए समस्त सशय का नाश करने वाले, सदाचार में रत, श्रेष्ठ गुरु का आश्रय लें, सदा गुरु-मत्र का जप करें श्रद्धा, भक्ति-सहित गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उनकी सेवा में लगे रहें। उनके अनुसार राम-मंत्र का तात्पर्य है—गुरु की रुचि के अनुकूल व्यवहार करना और उनकी आज्ञा का अनुसरण करना, आदि।

गुरु के इस असाधारण महत्व को स्वीकार करते हुए तुलसी ने गुरु को शंकर और हरि का रूप माना है तथा उन्हें राम से बड़ा बताया है।[3] गुरु कृपा के बिना जीव का उद्धार असम्भव है—[4]

1. **गुरु बिनु भव-निधि तरई न कोई। जो विरंचि संकर सम होई।**
2. **बिनु गुरु होई कि ग्यान, ग्यान कि होइ विराग बिन।।**

तुलसी को गुरु की कृपा से ही राम की दिव्य कथा और विमल विवेक रूपी आँखें मिली थीं।[5] 'मानस' की नवधाभक्ति में तुलसी ने गुरुसेवा को भक्ति का प्रधान साधन माना है। 'विनयपत्रिका' में वे कहते हैं कि हरि, गुरु, देव और द्विज की कृपा के बिना संसार को पार नहीं किया जा सकता।[6] भक्तों को चाहिए कि वे

---

1. **विप.,** 74.1
2. **वही,** 41
3. **मानस** 1. 1. **श्लोक** 3, 1. 1. **सोरठा** 5, 2. 130.4
4. **वही,** 7. 94. 5.
5. **वही,** 1. 2. 1, 1.30 **क।**
6. **विप०,** 57.1

किसी गुरु के पास जाकर राम-मंत्र का उपदेश लें और उसका जप करें।[1]

5. संतकृपा

संतों की कृपा, गुरुकृपा और भगवत्कृपा के समान अमोघ है।[2] उनकी अनुकूलता भक्ति-प्राप्ति का साधन है। 'मानस' की नवधा भक्ति में सत्संग का प्रथम स्थान है। 'विनयपत्रिका' तथा 'मानस' के अनेक स्थलों में तुलसी ने भगवान से संतकृपा और सत्संग की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। उनके अनुसार सत्संग संसार रूपी बन्धन को नष्ट करने वाला और सभी प्रकार के शोक का नाशक है—

'देहि सत्संग निज अंग भव-भंग करन सरन सोक-हारी।[3]

संतों की कृपा और उनके संग से निकृष्ट प्राणी भी धर्म, अर्थ और काम से परे उस परम पद को अनायास पा जाते हैं, जो किसी साधन से प्राप्त नहीं होता।[4] तुलसी संत और भगवान् में अन्तर नहीं मानते—

'संत भगवंत अन्तर निरन्तर नहि'।[5]

5. देवकृपा

अनन्त शक्ति से संयुक्त परमात्मा विभिन्न देवों के रूप में प्रकट होकर संसार की विविध कार्य-प्रणाली का संचालन कर रहा है। उसी एक महामहिम देव का संस्तवन वेदों में ऋषियों ने अनेक देवताओं के नाम, आकार, गुण आदि के साथ किया है। ऋग्वेद के पुरातन ऋषि ने इसी तथ्य का उल्लेख—'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (उस एक देव का ही विप्रों अथवा ऋषियों ने अनेक तरह से वर्णन किया है,) इस मंत्रांश में किया है।[6] इस सिद्धान्त को मानने से जहाँ विभिन्न भारतीय सम्प्रदायों में समन्वय भावना उत्पन्न होती है वहीं भक्त तथा साधक के सम्मुख उसके आराध्य की असाधारण महिमा भी प्रकट होती है। अतः सच्चे भक्तों ने देव-विशेष की आराधना के साथ अन्य देवों का आदर करने का भी उपदेश दिया है।

तुलसी परम वैष्णव हैं। वे राम को ही परब्रह्म अथवा परमेश्वर मानते हैं। अन्य देवों को उनके समान नहीं मानते। फिर भी 'विनयपत्रिका' के प्रारम्भ में उन्होंने क्रमशः गणेश, सूर्य, शिव, भवानी आदि की स्तुति की है, रामकृपा की

---

1. **विप.**, 108.
2. **नारदभक्तिसूत्र**, 39—**महत्संगस्तु दुर्लभो अगम्यो मोघश्च।**
3 **विप०**, 57.1
4. **वही**, 57.2.
5. **वही**, 57.9
6. **ऋग्वेद**, 1. 164.46

याचना की है। उनके अनुसार शिव, राम के भक्त हैं। शिवभक्ति के बिना कोई राम की भक्ति नहीं पा सकता।[1] 'विनयपत्रिका' के अनेक पदों में तुलसी ने शिव से रामभक्ति की प्रार्थना की है।[2] एक पद में देवताओं को गुरु, हरि तथा संतों के समकक्ष मानते हुए कहा गया है कि बिना उनकी कृपा के संसार-सागर को पार करना कठिन है।[3]

7. द्विजकृपा

'द्विज', ब्राह्मण, 'विप्र' इत्यादि शब्दों से अभिप्रेत ब्राह्मण आदि तुलसी के लिए पूज्य हैं। 'मानस' में अनेकशः तुलसी ब्राह्मणों के प्रति आदर प्रकट किया है।[4] उनके अनुसार भगवान् की प्रसन्नता का एक अद्भुत उपाय द्विज सेवा है। ब्राह्मणों के चरणों में अनुराग रखने वाले सभी तुलसी की दृष्टि में राम को प्राण के समान प्रिय हैं।[5] 'विनयपत्रिका' में द्विजकृपा का उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर है। एक स्थल पर द्विज, देव, गुरु, हरि तथा संत इन पाँचों का एक साथ नाम लेकर कहा गया है कि बिना इनकी कृपा के संसार को पार करना असम्भव है।[6]

8. अविहित साधन

अविहित साधन में रागानुग सम्बन्धों की चर्चा है। तुलसी ने राम को पिता, माता प्रभु, स्वामी, गुरु, हित, मित्र, बन्धु, सुहृद, सखा आदि अनेक रूपों में स्वीकार किया है।[7] तुलसी ने राम-नाम को भी अपना इष्ट स्वामी, गुरु, सखा और माँ-बाप, माना है।[8] रामभक्त शंकर और हनुमान को भी तुलसी ने माता-पिता कहा है।[9]

भगवान के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करके भक्त भगवान् को प्रसन्न करने की अनुपम शक्ति पा लेता है। 'मानस' के 'सर्वभाव भज कपट-तजि मोहि परम प्रिय सोई' में तुलसी ने विहित साधन की अपेक्षा अविहित साधन को अधिक महत्व दिया है।[10] 'गीता' में कहा गया है कि जो पुरुष सभी सम्बंधों से भगवान् की शरण में जाता है वह परम शांति और परम धाम को प्राप्त करता

---

1. **मानस**, 7.45 **संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।**
2. **विप.**, 7.5, 9.5, 10.9
3. **वही**, 136. 12.
4. **मानस**, 1.2.2, 3.33.
5. **वही**, 5.48.
6. **विप.**, 136. 12
7. **वही**, 113.4, 252./256.3
8. **वही**, 220.2, 226.5, 254.1.
9. **वही**, 28.6, **मानस**, 1.15.2.
10. **मानस**, 7. 8. 7. **क**।

है।[1] 'गीता' और 'मानस' के इन प्रसंगों में 'सर्वभाव' शब्द का प्रयोग है। 'नारदभक्तिसूत्र' की उपर्युक्त ग्यारह आसक्तियों के मूल में रागानुग सम्बन्ध है।

'विनयपत्रिका' में तुलसी ने, राम को अपना सब कुछ मानते हुए उनकी सेवा में अनेक बार आत्मनिवेदन किया है। इस सम्बन्ध में 'विनयपत्रिका' के निम्न अंश विशेष महत्वपूर्ण हैं[2]—

1. **बाप। बलि जाउँ, आप करिये उपाउ सो।**
   तेरे ही निहारे परे हारेहू सुदाउ सो॥
2. **सखा न सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप।**
   माय-बाप तुही साँचो तुलसी कहत॥

रागात्मक सम्बन्धों के आधार पर भक्त और भगवान् का अनवरत सान्निध्य भक्ति-भावना को परिनिष्ठित और प्रौढ़ बनाता है। कृष्ण-भक्तों के राधा बल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्य भावना की कल्पना में इन रागानुग सम्बन्धों की पराकाष्ठा है।

2.1.17 तुलसी की नवधा-भक्ति

भक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह निरन्तर प्रभु के स्मरण, चिन्तन एवं मनन में तल्लीन रहे। एक क्षण के लिए भी प्रभु से पृथक् होने पर वह अत्यन्त विकलता का अनुभव करे, मछली के समान छटपटा कर प्राण-त्यागने को उद्यत हो जाए। इस दृष्टि से तुलसी ने भक्त की तुलना मछली, पपीहा, भ्रमर और चकोर से की है। भगवान् के साथ भक्त के इस अनवरत सम्बंध को प्रभुपरायणता कहा गया है। भक्ति-भावना की इस अनवरत स्थिति की प्राप्ति के लिए भागवत में नवधा-भक्ति (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सत्य और आत्मनिवेदन) का उल्लेख है।[3] साधन होते हुए भी ये विधाएँ भक्तिरूपी साध्य की सिद्धि के पश्चात् भी भक्त में दिखायी देती हैं। भक्ति-भाव के उदय के पूर्व श्रवण आदि साधन हैं और भगवान् में अनुरक्त भक्त की ये अभिव्यक्तियाँ हैं, काव्यशास्त्र की भाषा में अनुभाव हैं। प्रथम स्थिति में ये भक्ति के कारण हैं और दूसरे में कार्य।[4]

1. श्रवण

भगवान् के वाचक शब्द का कानों द्वारा ग्रहण एवं मन-द्वारा उसके अर्थ का बोध श्रवण है। आराध्य के चरित्र आदि का पाठ अथवा अध्ययन आदि भी श्रवण के अन्तर्गत है। सगुणोपासना की दृष्टि से भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला और

---

1. **गीता**, 15.9, 18.62— (1) **स सर्वविद् भजति माँ सर्वभावेन भारत।**
   (2) **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**
2. **विप:**, 182.4, 256,3.
3. **भागवत**, 7. 5. 23.
4. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा**, **पृ.** 297-98.

धाम विषयक बातों का सुनना श्रवण है। 'विनयपत्रिका' के अधिकांश पदों में तुलसी ने रामचरित का गान किया है और उसे सुनने का उपदेश दिया है। कानों का एक मात्र प्रयोजन राम की कथा सुनना है। कवि कहता है—

स्रवननि को फल कथा तुम्हारी, यह समझों, समझावौं।
तिन स्रवननि परदोष निरन्तर, सुनि-सुनि भरि-भरि तावौं।[1]

2. कीर्तन

भगवान् के नाम, गुण आदि के बोधक शब्दों के सामूहिक उच्चारण अथवा गान को कीर्तन कहा जाता है। राम-कथा का लिखना, पढ़ना और उनके रूप, गुण का वर्णन भी कीर्तन है। तुलसी कीर्तन को चित्त-शुद्धि का सेतु और सभी कामनाओं का पूरक मानते हैं। उनके अनुसार कीर्तन करने वाले का हृदय राम का निवास-स्थान है।[2] 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने अपनी रसना को धिक्कारते हुए कहा है कि 'हे प्रभु! मैं जिस जिह्वा से आपका गुण-अनुवाद करके, बिना परिश्रम के ही, परमानन्द का अनुभव कर सकता हूँ, उसी जिह्वा से मेंढक की तरह दूसरों की निन्दा-विषयक रट लगाता रहता हूँ।[3] तुलसी का निश्चित विचार है कि भक्त को त्रास-हरण राम का निरन्तर गुणगान अथवा कीर्तन करना चाहिए, विकारों को त्याग कर राम का भजन करना चाहिए।[4] जो प्रभु को नहीं भजते, उनका कीर्तन नहीं करते, विधाता उनके प्रतिकूल है।[5]

3. स्मरण

भगवान् के नाम, रूप, गुण की अनवरत स्मृति का बना रहना स्मरण है। स्मरण के महत्व की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' में कहा गया है कि 'पतित-पावन भगवान् के नाम को निरन्तर याद करके तुलसी जैसा ऊसर भी उपजाऊ भूमि बन गया।[6] नाम स्मरण के महत्व को जीवन की सफलता और अध्यात्म की सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में अनेक पदों में प्रस्तुत किया गया है।[7] तुलसी की दृष्टि में नाम स्मरण अन्य सभी साधनों की अपेक्षा श्रेष्ठ और सरल है।[8] नाम स्मरण का ही एक रूप जप है, जिसकी चर्चा 'मानस' की नवधा भक्ति के प्रसंग में की जायेगी। रूपस्मरण और गुण स्मरण के अनेक स्थल 'विनयपत्रिका' के स्तुति-पदों में

---

1. **विप.**, 142. 3.
2. **मानस**, 2. 128.
3. **विप.**, 142. 4.
4. **वही**, 136. 9, 12.
5. **वही**, 157. 5.
6. **वही**, 180. 2.
7. **वही**, 70, 128.1, 225, 226 **इत्यादि।**
8. **वही**, 226. 2.

उपलब्ध हैं। राम की पतित-पावनता, सर्व-समर्थता, अनाथ-हितता आदि गुणों का उल्लेख तुलसी विनय के प्रायः सभी पदों में करते हैं।

4. पाद सेवन

भगवान् की परिचर्या पाद सेवन है। 'पाद सेवन' में 'पाद' शब्द का प्रयोग भगवान् ने प्रति आदर दिखाने के लिए है। भगवान् की प्रतिमा का सादर दर्शन, स्पर्शन, परिक्रमा एवं तीर्थ-यात्रा, तीर्थस्थान आदि पादसेवन के अन्तर्गत हैं।[1] तुलसी-साहित्य में राम, उनकी मूर्ति, उनके पार्षदों तथा भक्तों की एवं गुरु आदि की सेवा का प्रायः उपदेश है। 'विनयपत्रिका' में काशी और चित्रकूट जैसे तीर्थ-स्थानों का बहुत पवित्र माना गया है। वहाँ की गयी भक्ति शीघ्र सफल होती है। ऐसा कवि का विश्वास है[2]—

1. **तुलसी बसि हरपुरी राम-जपु जो भयो चहे सुपासी।**
2. **तुलसी जो रामपद चाहिए प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम।**

श्रीराम के चरणारविन्दों में मन रूपी भ्रमर के बसा कर पृथ्वी पर निर्भर विचरण करने का उपदेश 'विनयपत्रिका' के अनेक स्थलों में मिलता है। भगवान् की सेवा से रहित अपने को तथा अपने माध्यम से अन्य सबको कवि ने बार-बार धिक्कारा है। कवि ने प्रभु के चरणारविन्दों को अनवरत देखते हुए सारा जीवन व्यतीत करने का कठोर व्रत लिया है। वह मात्र प्रभु के चरणों के भरोसे रहना चाहता है।[3]

5. अर्चन

सामान्यतया 'अर्चन' शब्द का तात्पर्य 'मूर्तिपूजा' है। मूर्ति पर पुष्प चढ़ाना उसे प्रणाम करना आदि अर्चन के विविध रूप हैं। तुलसी ने राम-प्रतिमा के पूजन एवं उसकी आरती आदि को भक्ति का साधन माना है। उसके अनुसार राम की आरती सभी कष्टों और वासनाओं को नष्ट कर देती है। आरती के समय बजायी गयी हाथों की ताली से पाप-पक्षी भाग जाते हैं। आरती से हृदय का अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है और वहाँ निर्मल ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। यह मुक्ति रूपी नायिका से मिलाने के लिए दूती है, अज्ञान, अहंकार, क्रोध और कलि रूपी कमलों के विनाश के लिए शीत ऋतु की रात्रि है तथा अभिमान रूपी महिषासुर के विनाश के लिए काली के समान है।[4]

---

1. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा**—पृ. 302
2. **विप.**, 22. 9., 23. 9.
3. **वही,** 135. 5.
4. **वही,** 48.

स्वामी रामानन्द-कृत 'रामार्चन पद्धति' में षोडशोपचार पूजन की व्यवस्था है। तुलसी इस सांगोपांग औपचारिक एवं बाह्य अर्चाविधान से दूर है।[1] वे अर्चन को अनिवार्य नहीं मानते। इसीलिए 'मानस' की नवधा भक्ति में अर्चन का नाम नहीं है। वस्तुतः तुलसी ने मानस पूजा पर विशेष बल दिया है, जबकि पांचरात्र आदि के अनुसार अर्चन का तात्पर्य बाह्य एवं औपचारिक क्रियायोग ही है। 'विनयपत्रिका' के एक पद में सांगरूपक के आधार पर मानसी आरती का सुन्दर वर्णन है[2]। इसे दीन जी ने परमहंसी साधन कहा है।

6. वन्दन

आराध्य के प्रति भक्त-द्वारा किया गया नमस्कार वन्दन है। तुलसी के वन्दनीय एक मात्र भगवान् राम हैं। 'मानस' के प्रत्येक सोपान के आरम्भ में तथा 'विनयपत्रिका' के प्रारम्भिक पदों में की गई, गणेश, सरस्वती, शिव, पार्वती आदि देवताओं की वन्दना राम की वन्दना का ही अंग है। 'विनयपत्रिका' में 60वें पद में नारायण के स्वरूप के विशद वर्णन में वन्दना का भव्य रूप देखा जा सकता है। 64वें पद में करुणानिधान रघुपति की वन्दना भी विशेष महत्वपूर्ण है। 135वें पद में वन्दना के महत्व के सम्बध में कहा गया है कि राम तभी प्रसन्न हो जाते हैं जब कोई उन्हें मस्तक झुकाता है और प्रणाम करता है, उसी क्षण उसे जन्म-ग्रहण का फल मिल जाता है।

7. दास्य

दास्य का तात्पर्य कि स्वामी का मैं सेवक हूँ।

निश्छल दास्य भावना—

सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक, सचराचर रूप स्वामि भगवन्त॥[3]

दास में, भगवत्कैंकर्य, अनन्य निष्ठा, दीनता, निःस्वार्थता आदि गुण अपेक्षित हैं। दास को मन, वाणी, कर्म से शुद्ध, सरल, सुशील एवं परोपकारी भी होना चाहिए। 'विनयपत्रिका' के प्रायः सभी पदों में दास्य भावना विद्यमान है। उदाहरण के लिए दो विशिष्ट स्थल प्रस्तुत हैं[4]—

1. **जाउं कहाँ तजि चरन तुम्हारे**
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥

---

1. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा, पृ.** 304.
2. **विप.,** 47.
3. **मानस**—3. 4.
4. **विप.,**— 101. 1., 160.

2. मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन, दो बानक बने॥ ....
.... दास तुलसी सरन आयो, राखिये अपने॥

'नारद-भक्ति-सूत्र' में दास्य भक्ति के दो भेद किए गए हैं—दास्यभाव, कान्ताभाव। दोनों में, क्रमशः स्वामी, सेवक और सेवा तथा पति और पति-सेवा इन तीनों रूपों को नष्ट करके, केवल सेव्य-सेवक-भाव-द्वारा आराध्य को प्रसन्न करने की बात कही गई है।[1] इनमें से दास्य भाव में तुलसी का मन अधिक रमा है। 'अयोध्या के निवासी, राम के सखा, भरत, लक्ष्मण, हनुमान, जटायु, सुतीक्ष्ण, मनु, शतरूपा आदि और स्वयं भगवान् शिव भी राम के दास भक्त हैं। सिद्धांतः तुलसी की भक्ति दास्य-भक्ति ही है'[2] तुलसी ने अपनी कृतियों में, विशेषतः 'विनयपत्रिका' में, इसी भाव को अंगीकार करके राम के चरणों में आत्मनिवेदन प्रस्तुत किया है।

दास्य-भाव की मनोवैज्ञानिक विशेषता यह है कि भगवान् की असाधारण महिमा और अपनी दीनता तथा लघुता के प्रति निरन्तर जागरूक भक्त दास भक्ति के पावन आदर्श से कभी च्युत नहीं होता। जीव गोस्वामी ने सख्य भाव को विशेष भावनामय मानकर उसे दास्य से उत्तम बताया है। पर मर्यादावादी तुलसी भक्त और भगवान् के सभी सम्बंधों में सेव्य-सेवक-भाव को सर्वोपरि मानते हैं।[3] उनके अनुसार इस भाव के बिना संसार से निस्तार सम्भव नहीं है—

'सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि'।[4]

जब तक जीव भगवान् का दास नहीं बन जाता, तब तक वह अनन्त कष्ट झेलता है—

जब लगि मैं न दीन दयालु तै, मैं न दास, तै स्वामी।
तब लगि जो दुःख सह्यों नहि उद्यपि अन्तरयामी।[5]

8. सख्य

सखा के भाव को सख्य कहते हैं। सखा की तीन विशेषताएँ हैं—अनुचित कर्म करने से रोकना, सत्कर्म में प्रवृत्त करना और आपत्ति में साथ न छोड़ना। इन विशेषताओं से युक्त भगवान् का अनुभव सख्य है। तुलसी-साहित्य में सख्य भक्ति

---

1. **नारद-भक्ति-सूत्र**—66.
2. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा**, पृ. 306-7.
3. **वही**, पृ. 309.
4. **मानस**, 7. 119 क।
5. **विप.**, 113. 2.

का भी कुछ स्थलों पर उल्लेख है। जैसे—

सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब विधि घटब काज मैं तोरे।[1]

किन्तु इनके सखा भक्त भी दास भक्त ही हैं, उनका व्यवहार दास के समान है। सख्य दो प्रकार का है—मित्रवृत्ति और विश्वास। भक्त का भगवान् से बन्धुवत् अथवा मित्र के समान व्यवहार मित्रवृत्ति सख्य है। जब भक्त भगवान् से प्रत्यक्ष मित्रवत् व्यवहार नहीं करतां, किन्तु मित्र के समान निःसंकोच, अनौपचारिक व्यवहार करता है तो वह विश्वास सख्य है। इसमें भक्त निर्भीकता पूर्वक भगवान् को खरी-खोटी सुना देता है, उलाहने देता है और डांट-फटकार भी देता है।[2] प्रथम सख्य 'विनयपत्रिका' में नहीं है। द्वितीय सख्य का वर्णन 'विनयपत्रिका' के कुछ पदों में है। सूर की भाँति तुलसी भी राम को खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकते अपने उद्धार में विलम्ब देख वे राम को उलाहना देते हैं[3]—

1. **परम पुनीत संत कोमल चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई।**
   तो कत बिप्र व्याध, गनिकहिं, तारेहु कछु रही सगाई॥
2. **हों अबलों करतूति तिहारिय, चितवत हुतो न रावरे चेते।**
   अब तुलसी पूतरो बांधि है, सहि न जाते मोपे परिहास एते॥
3. **तुलसी कही है सांची, रेख बार-बार खांची,**
   ढील किये नाम-महिमा की नाव बोरि हों॥

ऐसे स्थलों में विश्वास सख्य माना जाता है। पर तुलसी एक मात्र दास भक्त है, सखा भक्त नहीं। अत्यधिक प्रिय दास की भाँति वे कभी-कभी व्यथित होकर इस प्रकार का व्यवहार कर बैठते हैं। वस्तुतः ये दास्य प्रेम की ही विविध भाव तरंगें हैं।

9. आत्मनिवेदन

आत्मनिवेदन, आत्मसमर्पण, शरणागति, प्रपत्ति और न्यास ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। भागवत के 'आत्मनिवेदन' को पांचरात्र आगम में शरणगति कहा गया है।[4] 'प्रपत्ति' शब्द भी इसी भाव का वाचक है। 'गीता' के शिष्यस्ते-हं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्[5] में 'प्रपन्न' शब्द का यही अभिप्राय है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'[6] इस कथन में शरणागति की सुन्दर व्याख्या है। आत्मनिवेदन अथवा

---

1. **मानस**, 4. 7. 5.
2. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा** — **पृ.** 308.
3. **विप., क्रमशः** 112.2, 241.5, 258.4
4. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा-पृ.** 309-11.
5. **गीता**—2. 7.
6. **वही**, 18.66.

शरणागति की स्थिति में भक्त अपने को अपराधों का आलय, अकिंचन और उपाय-रहित अनुभव करता है तथा प्रभु के प्रति अपनी इस स्थिति को निवेदन करता है। अपनी दयनीय स्थिति का प्रधान रूप से निवेदन किए जाने के कारण इसे आत्मनिवेदन कहा गया है।

'विनयपत्रिका' दोष-दर्शन और प्रभु के समक्ष उनके निवेदन से परिपूर्ण है। भक्त के इन दीन निवेदन को प्रभु सुनते हैं और उसका उद्धार कर देते हैं। आत्मनिवेदन अथवा शरणागति द्वारा भक्त के उद्धार की बात 'विनयपत्रिका' के अन्तिम पद में संकेतित है।[1] 'गीता' में कहा गया है कि निश्छल भाव से भगवान् की शरण में जाने से परम शान्ति एवं शाश्वत पद की प्राप्ति होती है।[2]

भक्ति-मार्ग में शरणागति के असाधारण महत्व की दृष्टि से शास्त्रों में इसकी छः विधाओं का उल्लेख है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः[3] ॥

(1) प्रभु के प्रति अनुकूल रहने का संकल्प, (2) प्रभु के प्रति प्रतिकूलता का परित्याग, (3) उसकी रक्षा में विश्वास, (4) रक्षक के रूप में उसका वरण, (5) आत्मसमर्पण, (6) दैन्य।

1. आनुकूल्ययस्य संकल्पः

इसमें भक्त सदैव भगवान् के प्रति अनुकूल रहने का निश्चयात्मक संकल्प करता है। वह उन्हीं कर्मों और वस्तुओं से सम्बंध रखता है, जो उसे भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर करें। यह संकल्प शरणागति की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। इससे भक्त अहंकार और ममत्व से ऊपर उठ कर आराध्य की कृपा प्राप्त कर लेता है। 'विनयपत्रिका' के अनेक पदों में तुलसी ने इस संकल्प को व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ[4]—

1. **जानकी-जीवन की बलि जैहौं।**
चित कहै, रामसीय-पद परिहरि, अब न कहूँ चलि जैहों॥.....
.........नातो नेह नथ सों करि सब नातो देह बहैहों।
यह छर-भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहों।

---

1. **विप.**, 279.
2. **गीता**, 18. 62.
3. **ब्रह्माण्डपुराण, उत्तर भाग, ललितोपाख्यान** 41. 76. 77.
4. **विप.**, 104. 105.

2. **अबलो नसानी, अब न नसैहों।.............**
मन-मधुकर पन के तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहों॥

2. प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्

प्रभु की प्राप्ति के प्रतिकूल सभी व्यक्तियों, वस्तुओं, भावनाओं और अवस्थाओं का पूर्णतः परित्याग प्रतिकूलता का त्याग है। अनुकूलता का संकल्प और प्रतिकूलता का परित्याग दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। तुलसी राम के अनन्य भक्त हैं। जिसे श्रीराम, जानकी प्रिय नहीं है, वह उनके लिए करोड़ों वैरी के समान हैं, भले ही सांसारिक दृष्टि से वह परम स्नेही क्यों न हो।[1] वे प्रभु-प्रेम में बाधक सभी प्रतिकूलताओं के वर्जन का संकल्प करते हैं—

स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं॥
नातो नेह नाथ सों करि, सब नातो नेह बहैहौं।[2]

3. रक्षिष्यतीति विश्वास :

भक्त का अडिग विश्वास होता है कि भगवान् सदा उसकी रक्षा करेंगे। 'गीता' में 'न में भक्तः प्रणश्यति'[3] कहकर इसकी पुष्टि की गई है। तुलसी को यह पूर्ण विश्वास है कि भगवान् पतित-पावन हैं, वे मुझ नीच और पापी का उद्धार अवश्य करेंगे।[4] शरणागत की रक्षा उनका विरद है, इसी अडिग आस्था के साथ 'विनयपत्रिका' का कवि प्रभु की सेवा में अपने दारुण दुःखों के भंजन की दीन भाव से प्रार्थना करता है—

जद्यपि में अपराध-भवन, दुःख समन मुरारे।
तुलसिदास कहं आस यहै, बहु पतित उधारे॥[5]

विश्वास की यह दृढ़ता निम्न अंश में भी द्रष्टव्य है[6]—

1. **एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आयो, अरु करि है।**
तुलसी अपनी ओर जानियत, प्रभुहिं कनौड़ो भरिहौं।
2. **है तुलसिंहिं परतीति एक प्रभु-मूरित कृपामई है॥**

---

1. **विप.**, 174. 1.
2. **वही**, 104. 3. 4.
3. **गीता**, 9. 31.
4. **विप.**, 92.
5. **वही**, 110. 4.
6. **वही**, 171. 7, 170. 7.

4. गोप्तृत्ववरणम्

भक्त भगवान् के रक्षक-रूप की कल्पना ही नहीं करता, रक्षा का विश्वास करके, रक्षक के रूप में उनका वरण भी करता है। भक्त की दृष्टि में भगवान् सर्वसमर्थ रक्षक हैं। तुलसी अपनी रक्षा के लिए उन्हीं की शरण में जाते हैं[1]—

1. **तुम सम ईस कृपालु परमहित, पुनि न पाइहौं हेरे।**
2. **करम-मन वचन पन सत्य करुनानिधे,**
   एक गति राम भवदीय पदत्रान की।

तुलसी अपनी रक्षा का भार भगवान् को सौंप कर ऐसे सुखी और निश्चिन्त हो गए हैं, जैसे बालक माता-पिता के राज्य में होता है।[2]

5. आत्मनिक्षेप

रक्षक के रूप में भगवान् का वरण करके भक्त जब अपना सब कुछ भगवत्चरणों में अर्पित कर देता है और एक मात्र भगवान् का हो जाता है, तब उसकी समर्पणमयी भावना को आत्मनिक्षेप अथवा आत्मसमर्पण की भावना वाला भक्त भगवान् को शीघ्र पा लेता है, उसका सारा योग-क्षेम भगवान् स्वयं वहन करते हैं, उसका सारा पाप नष्ट कर देते हैं और उसे निर्मल बना देते हैं।[3]

.'विनयपत्रिका' के अनेक पदों में तुलसी ने राम को अपना सब कुछ माना है। उदाहरणार्थ—

1. **तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो।**
   तोहि मोहि नाते, अनेक मानिये जो भावै।
   ज्यों-ज्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥[4]

तुलसी को राम का गुलाम होकर रहना ही अच्छा लगता है। उनके योगक्षेम का सारा भार भगवान् पर है।[5]

6. कार्पण्यम्

अत्यन्त दीनता कार्पण्य है। भक्त, विशेषतः दास भक्त, भगवान् को अत्यन्त महान और अपने को परम दीन-हीन मानता है। इस दीनता और हीनता को यहाँ कार्पण्य कहा गया है। भक्त की यह कृपणता अथवा दीनता उसे ऊपर कर शनैः-शनैः भगवान के सम्मुख ला बिठाती है।

---

1. **विप.**, 187. 4, 209. 1.
2. **वही**, 255. 4.
3. **गीता**, 9.27.28, 9.34, 18.66.
4. **विप.**, 79.3-4.
5. **वही**, 155.5.

मनोविज्ञान की दृष्टि से इच्छा और कार्पण्य (दैन्य) का अनिवार्य सम्बन्ध है। मानव में अपूर्ण इच्छाओं के कारण सदैव दैन्य भाव रहता है। यह उसका सहज अथवा प्राकृत धर्म है। दैन्य दो प्रकार का है—अभावजन्य एवं मानसिक। प्रथम भौतिक आवश्यकताओं की अपूर्ति के कारण उत्पन्न होता है, द्वितीय का सम्बंध मन के असंतोष से है। भगवान् की शरण में जाने में दीनता किसी न किसी रूप में कारण बनती है। 'नारद-भक्ति-सूत्र' तथा 'मानस' में कहा गया है कि भगवान् को अभिमान से द्वेष है तथा दैन्य अत्यधिक प्रिय है।[1] अभिमान का सारा भूत उतरे बिना दैन्य अथवा कार्पण्य प्राप्त नहीं होता।

'विनयपत्रिका' का कवि दीनता की इस निधि को प्राप्त कर चुका है। वह इतना दीन, विनम्र और निरीह है कि प्रभु के दरबार में सीधे जाने से डरता है। अपनी पत्रिका को वहाँ तक पहुँचाने के लिए वह प्रभु के पार्षदों से अलग-अलग प्रार्थना करता है। उसका यह दैन्य भगवान् तथा उसके पार्षदों को प्रभावित करता है। भगवान के पार्षदों के सहारे ही दीन भक्त की यह अपूर्व पत्रिका भगवान तक पहुँचाती है, कवि कृतकृत्य हो जाता है। कवि अपनी पत्रिका को स्वयं ही विनयपत्रिका कहता है। 'विनयपत्रिका दीन की बाप आप ही बांचो'।[2]

'विनयपत्रिका का कवि निरीह, निश्छल हृदय से अपने सारे दोषों को प्रभु के सम्मुख खोलकर रख देता है[3]—

1. **माधव मो समान जगमाहीं।**
   सब विधि हीन मलीन दीन अति विषय कोउ नाहीं।
2. **तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ, मो सम सुनहु नृपति रघुराई।**
   मो सम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग, तुम सम हरि न हरन कुटिलाई॥

तुलसी की सभी कृतियों में कार्पण्य अथवा दैन्य व्यापक रूप में प्रकट हुआ है। 'विनयपत्रिका' तो सारी ही कार्पण्य की साकार प्रतिमा है। कहीं-कहीं कवि अपने दोषों की अनुभूति से इतना व्याकुल, निराश एवं खिन्न हो जाता है कि वह प्रभु से प्रार्थना करने में भी संकुचित होता है—

नाथ सों कौन विनती कहि सुनावौं।
विविध विधि अवलोकि अघ अपने,
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं॥[4]

---

1. **नारद-भक्ति-सूत्र** 27, **मानस** 1.60.2--**परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।**
2. **विप.,** 277.3.
3. **वही.,** 114.1, 242.1
4. **वही,** 208.1.

यही दैन्य 'विनयपत्रिका' का मूल आधार है, जिस पर कवि ने दास्य भक्ति का भव्य महल खड़ा किया है। दैन्य भावना विनय की सात भूमिकाओं में प्रथम एवं प्रमुख है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

2.1.18 अध्यात्म रामायण तथा रामचरितमानस में वर्णित नवधा भक्ति

'रामचरितमानस' में तुलसी ने राम के द्वारा शबरी को नवधा भक्ति का जो उपदेश दिलाया है वह 'अध्यात्म रामायण' की नवधा भक्ति से प्रभावित है।[1] भागवत की नवधा भक्ति से इस नवधा भक्ति में कुछ भिन्नता है। 'मानस' में नवधा भक्ति इस प्रकार है—

(1) सत्संग

(2) राम कथा में रति।

(3) गुरुसेवा।

(4) कपट-त्याग कर राम का गुणगान।

(5) राम-मंत्र का विश्वास-पूर्वक जप।

(6) इन्द्रिय-दमन करते हुए कर्मों से विरति और सज्जन धर्म का पालन।

(7) समस्त जगत को राममय देखना।

(8) यथा लाभ संतोष तथा दोष-दृष्टि का अभाव।

(9) सरलता, निश्छलता-पूर्वक राम का भरोसा करना और हर्ष तथा दीनता से रहित होना।

इस नवधा-भक्ति का क्षेत्र भागवत् की नवधा-भक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कोई भी इसका अधिकारी हो सकता है। इसमें बाह्य विधि-विधानों की अपेक्षा नहीं है। साम्प्रदायिकता की सीमा से यह मुक्त है। इसकी विधाओं में एक विशेष क्रम है।[2]

इस नवधा-भक्ति की दूसरी तथा चौथी विधा क्रमशः भागवत की श्रवण और कीर्तन विधाओं में यथा छठी, आठवीं और नवीं विधाएँ शरणागति की उपरिनिर्दिष्ट प्रथम तीन विधाओं में अन्तर्भूत हैं। इनकी दृष्टि से 'विनयपत्रिका' का अध्ययन किया जा चुका है। सत्संग, गुरुसेवा, मंत्रजाप तथा सम्पूर्ण जगत को राममय देखना इन विधाओं की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' का अध्ययन किया जा रहा है।

---

1. **अध्यात्म रामायण** 3.10.22-31, **मानस** 3.35.4, 3.36.4.
2. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा- पृ.** 317..20.

1. सत्संग

'मानस' के समान 'विनयपत्रिका' में भी संतों और उनकी संगति की महिमा का उल्लेख है। संतों के लक्षण के सम्बंध में कवि कहता है कि शान्त, इच्छा-ममता से रहित, स्व-पर-बुद्धि से मुक्त, अहंकार और क्रोध से हीन, शब्द-ब्रह्म के ज्ञाताओं में प्रमुख, ब्रह्मवेत्ता, कुशल, समद्रष्टा, आत्मदर्शी, जगतकल्याणार्थ सदा अधीर, भक्त संत हैं। संत और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है।[1] संतों से ही दुर्दशाग्रस्त तुलसी को भगवान् की शरण में जाने का उपदेश मिला था।[2] श्रुति, पुराण आदि सभी शास्त्रों का निश्चित सिद्धांत है कि संतों का संग दृढ़ता-पूर्वक करना चाहिए।[3] संत इस संसार-सागर को तारने के लिए नौका के समान है।[4] जो सत्संग और हरि-भजन नहीं करते वे नारकीय जीवन बिताते हैं।[5] कवि भगवान से व्याकुल प्रार्थना करता है कि प्रभो! मुझे सत्संग दीजिए। यह आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है, जन्म-मरण रूपी चक्र का नाशक है और जीवन के दुःख को दूर करने वाला है।[6] तुलसी की यह विशेष अभिलाषा है कि वे श्री रघुनाथ की कृपा से संतों का स्वभाव ग्रहण करें। संत-स्वभाव को अपनाने से अविचल हरि-भक्ति की प्राप्ति का उन्हें पूर्ण विश्वास है।[7] भगवान् की विशेष कृपा से ही संतों की संगति प्राप्त होती है।[8]

2. गुरु-सेवा

गुरुकृपा के प्रसंग में गुरु की महिमा का उल्लेख हो चुका है। 'विनयपत्रिका' मे तुलसी ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें अपने गुरु से राम-भजन का निर्देश प्राप्त हुआ था, जो राजमार्ग के समान निष्कंटक है।[9] वे यह मानते हैं कि हरि और गुरु की करुणा के बिना विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।[10] तुलसी ने अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे मन! तू भगवत् स्वरूप श्रीगुरु के चरण कमल का भजन कर उनके सेवन से आनन्दमय हरि की प्राप्ति हो जाती है।[11]

---

1. **विप.**, 57.9.
2. **वही**, 275.3.
3. **वही**, 57.6, 186. 4.
4. **वही**, 185. 5.
5. **वही**, 140. 1-2.
6. **वही**, 57.1, 136. 11.
7. **वही**, 172. 1-4.
8. **वही**, 57, 2, 136.10
9. **वही**, 173. 5.
10. **वही**, 115. 5.
11. **वही**, 203. 1.

3. राम-मंत्र का जप

भागवत की नवधा-भक्ति की 'स्मरण' विधा में भगवान् के नाम, रूप, गुण आदि की अनवरत स्मृति का उल्लेख किया गया है। नामस्मरण की प्रक्रिया को जपयोग अथवा जपयज्ञ कहा जाता है। 'जप' का अभिप्राय है नाम के साथ नामी तथा उसके गुण आदि का चिन्तन तथा नाम के अर्थ की भावना। जप तथा स्मरण में अन्तर उसके गुण आदि का चिन्तन नाम के अर्थ की भावना। जप तथा स्मरण में अन्तर यह है कि जप में भगवन्नाम की आवृत्ति अपेक्षित है। स्मरण में नाम, रूप, गुण की स्मृति मात्र रहती है। ध्यान इन दोनों से आगे की स्थिति है। इसमें मन सभी व्यापारों से मुक्त होकर एक मात्र भगवान् में लीन हो जाता है। जप की प्रक्रिया को श्रेष्ठ साधन मानते हुए 'गीता' में भगवान् ने कहा है कि 'मैं सभी यज्ञों में जपयज्ञ हूँ।[1] मरते समय जो मेरा नाम लेता है वह परम गति को प्राप्त होता है।[2] तुलसी ने इस विधा का उल्लेख करते हुए राममंत्र का दृढ़ विश्वासपूर्वक जप करने को कहा है। 'विनयपत्रिका' के आधार पर राम-नाम का महत्व, उलटे नाम जप का प्रभाव, 'राम' शब्द का अभिप्राय, बीज मंत्र के रूप में राम नाम, नाम-जप के सम्बन्ध में विशिष्ट संख्या और उसका प्रयोजन आदि का विचार किया जा रहा है।

2.1.19 राम नाम का महत्व

भक्तों ने भगवन्नाम की भक्ति को विशेष महत्व दिया है। नाम-भक्ति और मंत्रजाप का घनिष्ठ सम्बंध है। तुलसी ने 'मानस' और 'विनयपत्रिका' इत्यादि में नाम के असाधारण प्रभाव को स्वीकार किया है। उनके अनुसार नामजप-द्वारा मनुष्य को जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाती है।[3] नरक का द्वार बन्द हो जाता है।[4] व्याध, गणिका, गीध, निषद जैसे पापी और पशु योनि वाले भी नाम के प्रताप से मुक्त हो गए।[5] भगवान् शंकर ने, स्वयं राम-नाम का स्मरण करते हुए तथा दूसरों को राम-नाम का उपदेश देते हुए कहा है कि ब्रह्मा ने ऐसा कोई भी प्राणी नहीं बनाया, जिसे राम-नाम के स्मरण से सुगति न प्राप्त हो।[6] अन्तकाल में नाम-स्मरण ही सहायक होता है।[7] स्वयं भगवान् राम से भी रामनाम अधिक महत्वपूर्ण है।[8]

---

1. **गीता**, 10. 25—**यज्ञानां जपयज्ञो-स्मि।**
2. **वही**, 8. 5.
3. **विप.**, 98. 5.
4. **वही**, 160.3, 210. 3.
5. **वही**, 144.4.
6. **वही**, 152.11
7. **वही**, 66. 3.
8. **वही**, 228.1, **तुलनीय-मानस** 1.25, 1.25.4.

भगवन्नाम के अमिट प्रभाव की दृष्टि से रामनाम को 'विमोह-तिमिर-तरनि', 'सुरतरु', 'कामतरु' 'चारु चिन्तामनि', इत्यादि कहा गया है।[1] जगजाल रूपी फणि के लिए राम महामणि है।[2] नामजद को सब विधि-विधान का राजा और नाम-विस्मृति को सभी निषेध का सरताज कहा गया है—

राम-सुमिरन सब विधि ही को राज रे।
राम को बिसारिबो निषेद सरताज रे।।[3]

नाम के महत्व की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' के निम्न अंश भी उल्लेख हैं[4]—

1. राम-नाम के जपे जाय जिय की जरनि।
कलिकाल अपार उपाय ते अपाय भये।
जैसे तम-नासिबे को चित्र के तरनि।।
2. राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे।
घोर-भवनीरनिधि नाम निज नाव रे।।

नामजप की यह असाधारण महिमा है कि प्रमाद अथवा रोषवश अनजाने भी नाम का उच्चारण हो जाने से हर प्रकार के मंगल की प्राप्ति होती है।[5] 'विनयपत्रिका' में इसी दृष्टि से कहा गया है कि कलियुग में दम्भपूर्वक भी लिया हुआ राम-नाम, अगस्त ऋषि की तरह, दुःख रूपी सागर को सोख लेता है।[6] जिस प्रकार वृक्ष बिना मूल के नहीं रह सकता उसी प्रकार आनन्द और मंगल रूपी वृक्ष बिना राम नाम के नहीं रह सकते—'सुमिरत सुख सुकृत बढ़त, अघ अमंगल घटत'[7] तुलसी के विचार में कलियुग में भगवत्प्राप्ति के और सब साधन असाध्य हो गए हैं, एक मात्र नाम-जप ही सर्वोत्तम उपाय है।[8]

2.1.20 'राम' शब्द का अभिप्राय

रुद्रयामल तंत्र में 'रकार' का सर्वगुण-विशिष्ट ब्रह्म, 'मकार' का अर्थ दासभूत जीव तथा 'अकार' का अर्थ ब्रह्म और जीव का अभेद किया गया है।[9] तुलसी ने

---

1. वही, क्रमशः 247.4, 255.1, 66.4, 262.5, 105. 2.
2. विप., 67. 3.
3. वही, 67. 2.
4. वही, 124.1, (247.1 में भी यही भाव है), 66.2.
5. मानस., 1.27.1, स्कन्द पुराण, काशीखण्ड, पूर्व भाग 21.57, पद्मपुराण, पातालखंड 67.78-79.
6. विप., 158-9. 4.
7. वही, 129.1.
8. वही, 173, तुलनीय मानस 7. 102.
9. विनय पीयूष, प्रथम हिलोर, पृ. 336 पर उद्धृत

'ब्रह्म जीव सम राम-नाम युग आखर बिस्व बिकासी' इस कथन द्वारा 'राम' शब्द के इसी तात्पर्य को स्पष्ट करना चाहा है। जिस प्रकार ब्रह्म और जीव दोनों सखा रूप से साथ-साथ सभी शरीरों में रहते हैं उसी प्रकार 'राम' शब्द के दोनों अक्षर एक साथ रहते हैं। यही दोनों का साधारण धर्म है।

2.1.21 बीज मंत्र के रूप में राम नाम

'मंत्र' शब्द का अभिप्राय है अर्थ को समझकर जिसको जपने से मनुष्य का त्राण होता है—'मननात् त्रायते इति मंत्रः'।[1] 'बीजमंत्र' उन बीजरूप मंत्रों को कहते हैं जो प्रायः एक या दो अक्षरों वाले होते हैं और जिनमें बीज में वृक्ष के समान, आराध्य देव की शक्ति अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है। तुलसी की दृष्टि में सभी मंत्रों और बीज मंत्रों की अपेक्षा 'राम' नामक बीज मंत्र ही श्रेष्ठ है। इस बीज मंत्र के लिए 'मानस' में 'महामंत्र' और 'मंत्रराज' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] 'विनयपत्रिका' में इसे 'बीजमंत्र' कहा जाता है—'बीजमंत्र जपिए सोई जो जपत महेश'।[3] रामनाम रूपी बीजमंत्र के अविलम्ब जप का उपदेश करते हुए तुलसी ने राम को महावीर कहकर बताना चाहा है कि राम तंत्रशास्त्र के सभी वीरों की अपेक्षा महावीर हैं तथा इस बीजमंत्र से सभी सिद्धियाँ और कामनाएँ पूर्ण होती हैं।[4] इस राम मंत्र को ही 'तारक मंत्र' कहा गया है। इसकी सहायता से भगवान शंकर काशी में मरने वालों को तारते हैं।[5] 'विनयपत्रिका' के 'बीजमंत्र' शब्द से छः अक्षर वाले 'श्रीं रामाय नमः' मंत्र का भी ग्रहण 'विनयपीयूष' के लेखक को अभिप्रेत है।[6] स्वामी रामानन्द ने राम मंत्र के तीन रूप माने हैं—राम-षडक्षर मंत्र, राम-द्वय मंत्र और राम-चरम मंत्र। उनके अनुसार श्रीराम मंत्र सभी मंत्रों में श्रेष्ठ है। श्रीराम-मंत्र का बीज 'रा' है।[7]

2.1.22 नामजप के सम्बन्ध में विशिष्ट संख्या और उसका प्रयोजन

'विनयपत्रिका' के पद में 'रामजप' की पाँच बार आवृत्ति हुई है।[8] टीकाकारों ने जप की इस पाँच संख्या के भिन्न-भिन्न तात्पर्य निकाले हैं। बैजनाथ के अनुसार

---

1. तुलसी दर्शन मीमांसा, पृ. 323 पर उद्धृत.
2. मानस 1.19.2--महामंत्र सोइ जपत महेसू।
   2.129.3—मंत्रराजु नित जपहि तुम्हारा।
3. विप., 108.2.
4. वही, 108.1.
5. अध्यात्म रामायण, यात्राकाण्ड, 2.15.16.
6. विपी., पद 108.2.
7. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, 291.
8. विप., 46.

पाँच इन्द्रियों को पाँच विषयों से हटाने के लिए पाँच बार नामजप का उपदेश किया गया है। चरखारी टीका के अनुसार पाँच प्राणों (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) को वश में करने के लिए पाँच बार जप का विधान किया गया है।[1] श्री वियोगी हरि के अनुसार शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो जीव के बार-बार जन्म-धारण करने के कारण हैं, के नाश के लिए रामजप की पंचावृत्ति का उपदेश है।[2]

संभवतः तुलसी का आशय यह नहीं है। उन्होंने अपने आशय को स्पष्ट करने के लिए इस पंक्ति में सबसे पहले 'सदा' और अन्त में 'बार-बार' शब्द का प्रयोग किया है। इससे कवि का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि भक्त को सदा, बार-बार, (अनवरत रूप से) नाम-जप करना चाहिए। यह भी संभव है कि छन्दपूर्ति की दृष्टि से 'रामजपु' इस अंश का पांच बार प्रयोग किया गया हो।

2.1.23 नामजप की त्रिविध अवस्था

'विनयपत्रिका' के एक पद में जप के लिए 'रमु', 'रटु' और 'जपु' इन तीन क्रियाओं का प्रयोग किया है। श्री बैजनाथ ने इन तीनों क्रियाओं का साधक की तीन अवस्थाओं से सम्बंध माना है। उनके अनुसार जब पूर्व रूप की सुधि रहे तब 'राम-राम रमु' अर्थात् शुद्ध आत्मा रूप से राम के स्मरण में आनन्दित रहे। जब जीव-बुद्धि रहे तब 'राम-राम जपु' अर्थात् शुद्ध मन से रामनाम को मन में स्थिर रख। जब देह बुद्धि हो तब माला लेकर जिव्हा से रह।[3] इस अंश पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जपने और उसके स्थूल रूप रटने की क्रिया में रूप का ध्यान रहता है और नामार्थ-चिन्तन की प्रधानता रहती है। जपने और रटने के अनवरत अभ्यास से जब मन रामनाम में रमण करने लगता है तो रूप का ध्यान अथवा अर्थ-चिन्तन की आवश्यकता नहीं रह जाती। इन तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध जप की तीन स्थितियों से हैं। वे हैं—वाचिक, कायिक, और मानसिक। पहली में केवल ध्वनि का उच्चारण, दूसरी में होठों का कंपन और तीसरे में मानसिक जप होता है। 'विनयपत्रिका' के लेखक ने रटने का सम्बन्ध कंठ स्थित 'बैखरी' वाणी से जपने का सम्बंध हृदय स्थित 'मध्यमा' वाणी से तथा रमने का सम्बंध नाभि स्थित 'पश्यन्ती' वाणी से माना है।[4] तीन प्रकार की वाणी के सम्बन्ध में संस्कृत-व्याकरण के विद्वानों, विशेषतः भर्तृहरि ने विस्तार से विचार किया है।[5]

---

1. विपी., तृतीय हिलोर—पृ. 156-57.
2. विप., हरितोषिणी टीका—पृ. 92.
3. विपी., चतुर्थ हिलोर—पृ. 670.
4. वही, पृ. 670.
5. वैयाकरण सिद्धान्त—परमलघु मंजूषा—पृ. 93-97.

2,1.24 सम्पूर्ण जगत को राममय देखना

'मानस' की नवधा भक्ति की सातवीं विधा है सम्पूर्ण विश्व को राममय देखना। अनेक जन्मों के उपरान्त भगवान् की विशेष कृपा से साधक ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर पाता है, जिसके द्वारा वह सम्पूर्ण चराचर विश्व को वासुदेवमय अथवा तुलसी के शब्दों में सियाराममय देखता है।[1] 'विनयपत्रिका' में राम की मानस आरती के प्रसंग में कहा गया है कि श्रीहरि जड़-चेतन सबमें सदा रमते रहते हैं। वे स्वयं ही चर-अचर बने हुए हैं। हे मन! तू इस अभेद भावना की धूप जला, जिससे, भेद रूप दुर्गन्ध दूर हो जाय।[2] राम के विराट रूप-वर्णन में कहा गया है कि राम ही मूल प्रकृति महत्वत्व, शब्दादि गुण, पंचतत्व, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, पाँच प्राण चित्त, आत्मा काल, परमाणु और इस रूप में प्रकट-अप्रकट सब कुछ है।[3] इस भावना के द्वारा भक्त सभी चराचर मानस एवं ब्रह्म पदार्थों में अपने आराध्य को ही मूर्तिमान देखता है।

इस रूप में 'भागवत' और 'अध्यात्म रामायण' अथवा 'मानस' में वर्णित दोनों प्रकार की नवधा भक्ति की सभी विधाएँ 'विनयपत्रिका' में उपलब्ध हैं।

2.1.25 भक्ति की सात भूमिकाएँ

भक्तिशास्त्र में भक्ति की सात भूमिकाओं का उल्लेख है। इन्हें सोपान भी कहा जा सकता है, जिन पर आरूढ़ होता हुआ भक्त भगवान् तक पहुँचता है। इन भूमिकाओं को विहित साधन माना जा सकता है। ये हैं—दैन्य, मानमर्षिता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य तथा विचारणा—

दैन्यं च मानमर्षित्वं भयम्य दर्शन तथा।
भर्त्सनाशवासनं चैव मनोराज्यं विचाराणा।
मुनिभिरुकता भक्तानां सप्तेता भूमिकाः स्मृताः[4]॥

1. दैन्य

दैन्य के स्वरूप आदि के सम्बंध में भागवत की नवधा भक्ति के आत्मनिवेदन की 'कार्पण्य' विधा में विचार किया जा चुका है।

2. मानमर्षिता

इस भूमिका में भक्त मान (अभिमान) का मर्षण (त्याग) कर भगवान् की शरण में आ जाता है। वह परम अकिंचन होकर प्रभु का प्रिय बन जाता है। उसमें

1. गीता—7.19 मानस 1.8.1.
2. विप., 47.2 अचर-चर-रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत इति वासना धूप दीजे
3. वही, 54.2-3.
4. विप., हरितोषिणी टीका, पृ. 9 तथा तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, पृ. 175 पर उद्धृत।

आत्मलघुता और प्रभु-महत्ता की अनुभूति सदा बनी रहती है। 'विनयपत्रिका' का कवि दीन एवं निरभिमान होकर स्वामी से अपने उद्धार की प्रार्थना करता है—

कस न करहूँ करुना हरे, दुखहरन मुरारि।
त्रिविधताप-संदेह सोक संसय भय हारि॥
सब प्रकार समरथ प्रभो मैं सब विधि दीन।
तुलसिदास हरि-तोषिये, सो साधन नाहीं[1]॥

3. भयदर्शन

भयदर्शन में भक्त मन को भय दिखाकर उसे भगवान् के चरणों में अनुरक्त करता है। तुलसी मन को अनेक भय दिखाकर उसे प्रभु के चरणों का दास बनाना चाहते हैं। उनके अनुसार जीव जब तक राम नाम का जप नहीं करता तब तक चाहे जहाँ भी वह जाए, तीनों तापों से वह जलता ही रहेगा।[2] राम की कृपा और उससे प्राप्त शान्ति-जल ही जीव की सांसरिक भोगादि की तृष्णा शान्त कर सकता है। यदि जीव राम-नाम का सहारा नहीं लेता तो संसार के बेगार में पड़ जायेगा और उसमें फंसता ही चला जायेगा।[3] श्रीहरि के चरणों से पृथक् होकर कभी किसी को सुख की प्राप्ति नहीं हुई—

सुन मन मूढ़! सिखावन मेरो।
हरिपद-विमुख ज लम्हो न काहू सुख सठ! यह समुझ सबेरो।[4]

4. भर्त्सना

इस भूमिका में मन को अनेक प्रकार से ताड़ना देकर उसे प्रभु-चरणों में प्रवृत्त कराने का प्रयास किया जाता है। मन सहजमुख-राशि परमात्मा को भूलकर इन्द्रिय-सुख के पीछे भटकता रहता है। मन की इस कुप्रवृत्ति को देखकर तुलसी मन की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि मूढ़ मन रामभक्ति रूपी सुखसरिता को छोड़कर ओस की बूंदों की कामना करता है। परमानन्द स्वरूप राम की भक्ति को छोड़कर विषय सुख की ओर दौड़ता है।[5]

जीव की भर्त्सना करते हुए कवि कहता है—

ताँबे से पीठि मनहुँ तनु पायो।

---

1. **विप.**, 109.
2. **वही**, 68.
3. **वही**, 179.
4. **वही**, 87
5. **वही**, 90.

नीच, मीचु जानत न सीस पर ईस निपट बिसरायो॥
अवनि-रवनि, धन-धाम, सुहृद-सुत को इन्हहिं अपनायो।
काके भये, गये संग काके, सब सनेह छल-छायो॥[1]

5. आश्वासन

आश्वासन में भक्त भगवान् पर पूर्ण विश्वास करके उनमें अपने मन को अनुरक्त करता है। भक्त को सांसारिक सुखों के दुःखद अन्त का ज्ञान हो गया है। उसे यह भी ज्ञात है कि सांसारिक दुःखों से निवृत्ति तभी संभव है जब उसे पूर्ण विश्वास हो जाय कि उसके स्वामी सर्वसमर्थ हैं, वे प्रतिपल उसकी रक्षा करेंगे। तुलसी को राम की शरणागत-वत्सलता एवं सामर्थ्य पर पूरा विश्वास है। उनकी दृष्टि में राम की सच्ची स्नेह, सुजान-शिरोमणि शरणागत प्रिय, प्रणतपाल और दीनबन्धु हैं।[2] उन्हें पूर्ण आश्वासन है कि राम अतीव कृपालु, शरणागत रक्षक एवं पतितपावन् हैं, ऊँच-नीच का भेद भुलाकर सबको समान रूप से अपना धाम प्रदान करते हैं। तुलसी का भी उद्धार वे अवश्य करेंगे।[3]

6. मनोराज्य

'मनोराज्य' का अर्थ है मानस का राज्य अथवा कल्पना-जगत्। कल्पना-जगत् में विचरण करते हुए भक्त भगवान् से अभीष्ट इच्छाओं की पूर्ति की कामना करता है। 'विनयपत्रिका' का भक्त कवि कभी सोचता है कि वह संतों का स्वभाव कब ग्रहण करेगा, सीमित साधनों में संतुष्ट रहेगा, मन, वचन, कर्म से दूसरों का हित-चिंतन करेगा और साधना-मार्ग पर चलकर अविचल हरि-भक्ति प्राप्त करेगा।[4] कभी वह सोचता है कि प्रभु उसे कब अपना समझेंगे, कब उसके सिर पर अपने उस कर-कमल को रखेंगे, जिसके द्वारा उन्होंने अनेक आर्त भक्तों को अभय किया था।[5] तुलसी का एक ही मनोरथ है और वह राम में स्वाभाविक प्रीति—

राम! कबहुँ प्रिय लगिहौ, जैसे नीर-मीन को।
सुख जीवन ज्यों जीव को मन ज्यों फनि को हितु ज्यों धन-लोभ लीन को।
ज्यों सुभ्राव प्रिय लागति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर! पावन प्रेम पीन को॥[6]

---

1. वही, 200.
2. विप., 154.
3. वही, 212.
4. वही, 172.
5. वही, 138.
6. वही, 269.

7. विचारणा

सत्-असत्, आत्मा-अनात्मा, पवित्र-अपवित्र, सुख-दुःख आदि के स्वरूप के विषय में विवेक बुद्धि से चिंतन, मनन, विचारणा है। विचारणा के द्वारा संसार की असारता, विषयों के दुःखद अन्त एवं सांसारिक सम्बन्धों की क्षणिकता का परिचय 'विनयपत्रिका' के अनेक पदों में कराया गया है। कवि कभी प्रभु की विचित्र एवं सुन्दर रचना पर विचार करता है,[1] तो कभी जीव को संसार-रात्रि से जगाने का प्रयत्न करता है—

जागु जागु जीव जड़! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी॥
तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूँ ताय रे।
राम-नाम सुचि-रुचि सहज सुभाग्य रे॥[2]

संसार की मोहकता अथवा त्रितापजनकता तभी तक है जब तक ज्ञानोदय नहीं होता।[3]

योगवासिष्ठ में ज्ञान योग की सात भूमियों का विशद् वर्णन किया गया है। इसे 'सप्तपदा ज्ञानभूमिका' कहा जाता है। ये हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी तथा तुर्यगा। 'विनयपत्रिका' के एक पद में इस भूमिका का संकेत पाया जाता है, जहाँ तुलसी ने इन्हें क्रमशः साधुसेवा, द्वैतभाव-त्याग और रामप्रीति, देहजन्य विकार त्याग, जग से विलक्षणता, सन्तोष आदि से युक्त विदेहता तथा एक रस स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया है।[4] ये सब भी विचारणा के ही विविध रूप हैं।

2.1.26 परोपकार

विहित साधन के रूप में परोपकार को प्रभु-प्राप्ति का महान साधन माना गया है। परोपकार मानव को उसके क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठाता है। 'गीता' में कहा गया है कि जो सभी प्राणियों के हित में लगे रहते हैं वे मुझे प्राप्त करते हैं।[5] यहाँ के 'सर्वभूतहिते रताः' में परोपकार के उत्कृष्ट रूप की ओर संकेत है। 'विनयपत्रिका' में परोपकार की महत्ता का उल्लेख अनेकधा हुआ है। तुलसी की

---

1. **विप.**,111.
2. **वही**, 73.
3. **वही**, 121. 1-5.
4. **तुलसी दर्शन मीमांसा—पृ.** 255-58.
5. **गीता**—5.25.

दृष्टि में मानव-शरीर धारण करने का एक मात्र फल परोपकार है।[1] मानव-शरीर पाकर भी दूसरों की भलाई नहीं की गई तो मानव-जीवन व्यर्थ है।[2] परोपकार वेदों का सार है।[3] दूसरों की भलाई करने से मनुष्य संसार-सागर को अनायास पार कर जाता है।[4] 'मानस' में भी अनेक स्थलों पर परोपकार की महिमा वर्णित है।[5]

2.1.27 निष्कर्ष

तुलसी की वैष्णव भक्ति की उत्पत्ति, परम्परा और विकास का विवेचन किया गया है। इसमें निश्छल, उद्‌गारों, मार्मिक भावनाओं तथा विनम्र आत्मनिवेदन को भगवान् राम के चरणों में अर्पित है। फिर भी इन उद्‌गारों के माध्यम से भक्त तुलसी ने उन सभी बातों को कह दिया है, संकेतित कर दिया है, जिसे भक्तिशास्त्र के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया था। यहाँ सरस और सरल शैली में भक्ति-सम्बंधी सभी बातें मिल जाती हैं। 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' और 'नारदभक्तिसूत्र' आदि ग्रन्थों में, संस्कृत की सूत्र-शैली के कारण वह सरलता और रोचकता नहीं है।

तुलसी ने कलि के माध्यम से, उस युग के व्यष्टि और समष्टि में परिव्याप्त अविद्या माया के प्रचण्ड प्रकोप का 'विनयपत्रिका' में सजीव वर्णन किया है तथा उससे त्राण पाने के साधन के रूप में राम-भक्ति को प्रस्तुत किया है। तुलसी के अनुसार भक्ति-प्राप्ति का प्रमुख हेतु है प्रभुकृपा. भक्ति के अधिकारी, न केवल मानव अपितु प्राणी मात्र हैं। प्रभुकृपा की कामना करने का मानव को पूरा अधिकार है। भक्त इस कृपा याचना में अथवा प्रभु के प्रति सर्वस्त्र समर्पण में विवशता एवं असहायता का अनुभव नहीं करता उसे प्रभु-प्रेरित कर्मठता की अद्‌भुत गरिमा प्रतिक्षण दिखाई देती है। यहीं भक्तियोग और कर्मयोग दोनों समन्वित हो जाते हैं और भक्ति के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण का पावन-पथ प्रशस्त होता दिखायी देता है।

तुलसी पहले भक्त हैं फिर कवि। वे जिन विचारों, भावनाओं और अनुभवों को भक्ति की अनवरत साधना के द्वारा पा सके थे, जिनकी उपलब्धि प्रायः ग्रन्थों से होती नहीं, जो भक्त अथवा साधक की अपनी अनुपम निधि होती है उन

1. **विप.**, 203.8.
2. **वही**, 201.1.
3. **विप.**, 202.1.
4. **वही**, 186.3.
5. **मानस**. 7.41.1.3.31.

सबका मनोरम संकलन इन पदों में है। 'विनयपत्रिका' के ये पद भक्ति-मणिमाला की वे भास्कर मणियाँ हैं, जिन्हें इस भक्त-शिल्पी ने भगवान राम के साकार और सगुण रूप के मनोहारी सूत्र में पिरोया है। भक्ति की गहराई, आत्मनिवेदन की तन्मयता, शरणागति एवं दैन्य की चरम सीमा तथा भगवान् के असीम ऐश्वर्य की अनुभूति की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' अपने रूप में विनय एवं भक्ति सम्बंधी काव्य की दृष्टि से एक अप्रतिम कृति है।

2.2 त्यागराज की वैष्णव भक्ति

श्री रामचन्द्र का नाम और उनका रूप त्यागराज के जीवन का सर्वस्व और उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। राम से भी राम का नाम उनके लिए अधिक रुचिकर और महत्वपूर्ण था। अपनी जिह्वा पर सदा विराजित राम नाम के मंत्र राज की महिमा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि रामनाम का सुख बड़े भाग्य से मिलता है क्योंकि वेदान्त चर्चा से जो सुख मिलता है और निर्गुण परब्रह्म की उपासना से जो सिद्धि मिल सकती है, उन दोनों से अधिक निःश्रेयस आनन्द रामनाम से मिलता है। नियम और क्षेम का दिव्य धाम रामनाम का दूसरा नाम है। राम से वे केवल इतना ही वर माँगते हैं उनकी रसना (जीभ) पर निरन्तर राम का नाम विराजमान हो और अपने मन को समझाते हैं कि राम नाम का सार ही उनके जीवन का ध्येय बने।

त्यागराज बचपन से ही राम के अनन्य आराधक रहे। यह नहीं कि जीवन के संघर्ष में घिस-पिस कर बुढ़ापे में लाचार होकर उन्होंने रामनाम का आश्रय लिया हो। त्यागराज दर्शन के मर्मज्ञ समालोचक डॉ. राघवन ने ठीक ही कहा कि प्रह्लाद की भाँति त्यागराज भी आगर्भ भागवत थे। राम का चिन्तन उनको अपने दादा और परदादाओं से विरासत में मिली पैतृक सम्पत्ति है जिसे उन्होंने सुरक्षित ही नहीं, 'बल्कि यथेष्ट मात्रा में संवर्द्धित भी किया था। उनके पिता समब्रह्मम पितामह गिरिराज कवि और प्रपितामह पंचनद ब्रह्म तीनों राम-नाम के समर्थ साधक और आराधक थे और उनकी तपस्या का फल त्यागराज को मिला था। वे अपने कई गीतों में अपने इन पूर्वजों का आभार प्रकट करते हैं। इसके अलावा त्यागराज के पिता रामब्रह्म के सहपाठी काँची के स्वामी उपनिषद् ब्रह्मोन्द्रराम नाम के ज्ञाता और व्याख्याता थे। उन्होंने राम-नाम के रहस्य की विस्तृत व्याख्या करते हुए 'उपेय नाम विवेक' नाम का उद्ग्रथ लिखा था जिससे त्यागराज अवश्य परिचित और प्रेरित हुए होंगे। उपनिषद् ब्रह्मोन्द्र के अनुसार राम-नाम की उपासना साधन और साध्य दोनों रूपों में की जा सकती है। वह संसरणशील जगत् से मुक्ति पाने का उपाय भी है और अपने में पूर्ण शुद्ध निरपेक्ष 'उपेय' भी है। पहले रूप में वह सविशेष है और दूसरे रूप में निविशेष परब्रह्म का वाचक जिस प्रकार प्रणव तत्व के विवेचक उसको परम तत्व का वाचक मानते

हैं उसी प्रकार राम के द्रष्टा उसे परमध्येय अनुसंधेय और उपेय परब्रह्म के रूप में ही देखते हैं।

यही दृष्टि त्याग ब्रह्म की भी थी, जिन्होंने अपना सारा जीवन रामनाम के चिन्तन, मनन और ध्यान में बिताया था। स्वामी रामकृष्णानन्द की अनुशंसा पर उन्होंने छियानबें करोड़ रामनाम जप कर राम के रूप में साक्षात्कार भी किया था। उनका राम, दशरथ नंदन राम नहीं था। वह परम तत्व का साकार रूप था। राम गरुड़ ध्वनि में तत्वमेरुग 'तरमा' नाम के गीत में वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि 'तत्वमसि' के वाक्यार्थ ने ही राम का रूप धारण कर लिया है जिसका रहस्य केवल परमार्थ कोविद ही जान सकते हैं। इस गीत में राम गरुड़ ध्वनि के प्रयोग के पीछे भी एक रहस्य छिपा हुआ है। परम पुरुष के वाहन पन्नगेश्वर की अनुकम्पा से ही अविगत भगवत्तत्व की यह गति अवगत हो सकती है, यही इस राग का अभिप्रेत रहस्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिकवि के 'कौसल्या-नंद-वर्द्धन' राम को त्यागराज ने सर्वांतर्यामी और सर्वातिशायी परब्रह्म के रूप में देखने का सफल प्रयास किया था। इसीलिए वे कभी-कभी यह निर्णय नहीं कर पाते हैं कि चींटी से लेकर ब्रह्मा तक शिव, केशव आदि सभी रूपों में प्रेमाकार में व्याप्त परब्रह्म राम को किस रूप में देखा जाए और किस रूप में उनकी आराधना की जाए। राम 'देवामृतवर्षिणी' में त्यागब्रह्म अपने परब्रह्म राम की व्याख्या करते हुए गाते हैं—

'एवरनि निर्णयिचिरि रा निन्नेट्लाराधिं चिरा नरवरुलु
शिवुडवो माधवुडवो कमलभवुडवो परब्रह्म वो
शिवमंत्रमुनकु मा जीवमु माधव मंत्रमुनकु रर जीवमु
विवरमु तेलिसिन धनुलकु भ्रोक्केव वितरण गुण त्यागराजनुत।

बुद्धिमान लोगों ने आपको किस रूप में पाया है या आपका रूप निर्णय कैसे किया है? आप शिव हैं या केशव हैं या परब्रह्म हैं? वैसे देखा जाए तो शिवमंत्र (पंचाक्षरी) का प्राण 'म' कार है क्योंकि 'नम-शिवाय' में अगर 'म' कार को निकाला जाए तो 'न शिवाय' बचता है और अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इसी प्रकार सप्ताक्षरी नारायणमंत्र (नमो नारायणाय) में से 'राम' को निकाला जाए तो 'नमो नायनाय' बचता है जिससे उलटे अर्थ का बोध हो जाता है। पर संयोग की बात है कि इन दोनों मंत्रों के आधारभूत अक्षरों म(म और रा) के संयोग में 'राम' शब्द का निष्पत्ति होती है। यही राम शब्द का परम रहस्य है जिसके त्राताओं के चरणों पर त्यागराज नतमस्तक है।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि त्यागराज में जिस क्रम से राम शब्द के दोनों अक्षरों को यहाँ दिया है उससे उसका उल्टा रूप (म-रा) ही हमारे सामने

आता है जिसके पुरश्चरण (बार-बार रटने) से अपने आप राम शब्द निष्पन्न हो जाता है। आदि कवि वाल्मीकि के बारे में यह वृत्तांत प्रसिद्ध है कि राम का उल्टा नाम जपते-जपते वे ब्रह्म भाव को प्राप्त कर गये थे—उल्टा नाम जपत जग जाना वाल्मीकि भे ब्रह्म समाना। हो सकता है, राम-नाम की इसी अद्‌भुत महिमा की ओर त्यागराज ने इस गीत में संकेत किया हो।

इसके अलावा 'मा' अक्षर लक्ष्मी का वाचक है और 'रा' नारायण का प्राण है। इस प्रकार 'राम' शब्द लक्ष्मीनारायण का बोधक है और शिव-केशव के अभेद का सूचक भी। संत की सरल वाणी में मुखरित यह छोटा-सा वाक्य कई रमणीय अर्थों का प्रतिपादन करने वाला रसात्मक काव्य बन गया है। इतना तो स्पष्ट है कि त्यागराज का राम न विष्णु का अवतार है न शिव का अंश है न ब्रह्म का द्योतक है। वास्तव में वह इन तीनों से परे और तीनों का सत्व सार लिए संतों के मानस में सदा विराजमान साक्षात् परब्रह्म स्वरूप है।

राग 'अठाणा' में रचित अपने गीत में त्यागराज कहते हैं कि सृष्टि स्थिति और लय के अधिकारी ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ने सोचा कि राम तो एक साधारण राजकुमार है, पर लोगों को उसकी महत्ता का गुणगान करते हुए देखकर उनके मन में यह जानने की इच्छा हुई कि आखिर उसमें क्या महत्ता है। तीनों ने मिलकर अपनी सारी महिमा तराजू के एक पलड़े में रखी और दूसरे पलड़े में राम की गुणवत्ता रखी और देखा कि राम का पलड़ा ही भारी हो रहा है। इस गीत में आलंकारिक ढंग से त्यागराज यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि राम के शील सौन्दर्य और पराक्रम के सामने मूर्तित्रय का वैभव भी नगण्य है। वे तो अपने आराध्य राम को 'मरु समान धीर' मानते हैं। भगवान् के दस अवतारों में राम के अवतार को ही वे श्रेष्ठ मानते हैं, पर सबको एक ही परमात्मा के विभिन्न वेष मानते हैं। कहते हैं, 'पदि वेषमुल लो राम वेषमु बहु बागु' (दस वेषों में राम का वेष सबसे अच्छा है।) यही कारण है कि वे कभी-कभी राम का वर्णन करते हुए कृष्णलीला के प्रसंग को दृष्टान्त के रूप में देते हैं। उदाहरण के लिए रामभक्ति की महिमा का प्रतिपादन करते हुए हनुमान का सागर पार करना और यशोदा का अपने पुत्र कन्हैया को ऊखल से बाँधना—दो दृष्टान्त देते हैं। यहाँ राम और कृष्ण में भक्त एक ही भगवान् की अनेक रूपात्मकता देख रहे हैं। अन्यत्र वे स्वयं स्वीकार भी करते हैं कि राम के अलावा दूसरे देवताओं का चिन्तन करते समय भी राम ही उनके ध्यान में आता है। उनका विचार है कि अन्यान्य देवता अगर आभूषण है तो राम उन सभी आभूषणों को आभूषित करने वाला मंगल सूत्र है।

त्यागराज की अपने आराध्य के प्रति यह निष्ठा और अनन्यता गोस्वामी तुलसीदास की भक्तिभावना का स्मरण कराती है जिनका एकमात्र भरोसा, बल,

आस, विश्वास, रघुनाथ के यश का स्वातिसलिल था। संत त्यागराज भी जिस प्रकार अपने आराध्य में एक बात, एक बाण और एक पत्नी के प्रति निष्ठा के दर्शन कर लेते हैं वैसे ही अपने आराध्य के प्रति भी वे एकनिष्ठ और अनन्य प्रेमभावना निभाते हैं।

त्यागराज के मन में राम के प्रति जो श्रद्धा या भक्ति है वह विवेक से परिपुष्ट है, केवल गतानुगति का अंधा अनुसरण मात्र नहीं है। वे अपने मन को स्पष्ट रूप से समझाते हैं—'तेलिसि राम चिन्तन तो नाममु सेयवे ओ मनसा'। राम-नाम का भेद समझ कर विवेकपूर्ण चिन्तन के साथ आराधना करो। आगे वे और कहते हैं—मन को अपने अधीन बना कर पल भर के लिए ही सही अंतरंग में तारक रूपी राम के वास्तविक तत्व की अवधारणा कर उनकी उपासना करो। राम-नाम की सच्ची रमणीयता का बोध उसकी मननीयता में है। सच्चा मनन ही गहन मंत्र को सुगम बना सकता है। इसके लिए अधिकारी निर्णय भी करते हुए कहते हैं कि जब तक राम के प्रति सच्चा प्रेम न हो तब तक उनके नाम में रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती। जिसको राम-नाम का स्वाद मिल गया, उसके सुख को मापा नहीं जा सकता। इस अपरिमेय आनंद का अनुभव करने वालों में वे सबसे पहले भगवान् शंकर को रखते हैं जो स्वर और राग की सुधा में नाम की मिश्री को मिला कर राम रसायन के आस्वादन में निरन्तर मग्न रहते हैं और अपनी अर्द्धांगिनी गौरी को भी उसकी अधिकारिणी बनाते हैं। यहाँ भी तुलसीदास की भाँति त्यागराज भी शंकर को राम-नाम के उपासकों में अग्रगण्य मानते हैं।

त्यागराज की रामभावना या भक्तिभावना जहाँ अनन्य और निश्चल है वहीं पर निश्छल और निर्मल भी है। उसमें आडम्बर, अस्वाभाविकता या अयथार्थता कहीं लेशमात्र भी नहीं मिलती। जहाँ वे एक ओर अपने मन को उपदेश देते हुए कहते हैं—

'भज रे भज मन परम भक्ति से रामचन्द्र का भजन करो मन।
चतुरानन शंकर की दुर्लभ रामचन्द्र का भजन करो मन।
(भजन चेयवे मनसा-परम भक्तितो।अज रुद्रादुलभ भूसुरादुलकरुदैन)

वहीं दूसरी ओर आडम्बरपूर्ण भजन का खण्डन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि भजन तो वह नहीं कहलाता जहाँ अंतरंग में एक बात हो और बाहर से कोई दूसरी बात निकलती हो। एक और गीत में वे और भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

'तनुवोक्चो मनसोकचो दागिन वैषमोकचो निडि
जनुलनेचु वारिकि जयमगुने।'

(तन कहीं हो और मन कहीं हो और परपीड़न नित्य का नियम हो तो उनको सफलता कैसे मिलेगी ?)

भावना के बिना शुष्क तीर्थयात्रा करने से भी कोई लाभ नहीं होता इस आशय को स्पष्ट करते हुए त्यागराज कहते हैं—'कोटि नदुलु धनुष्कोटिलो नुंडग एटिकि तिरिगेद वे ओ मनसा' (जब करोड़ों नदियाँ धनुष्कोटि में पाई जा सकती हैं तो इधर-उधर भटकने से क्या लाभ ?)

सांसारिक वैभव, शारीरिक बल और उच्च कुल में जन्म इन सबको निरर्थक और केवल रामभक्ति को सार्थक बताते हुए, वे कहते हैं—शारीरिक बल और उच्च कुल से कोई लाभ नहीं है। केवल राम-भक्ति से ही सभी मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं। कौआ प्रतिदिन ठण्डे पानी में नहाता है, बगुला हमेशा ध्यान मग्न रहता है, बकरी सूखे पत्ते खाकर निरन्तर व्रत रखती है। सारी चिड़ियाँ आसमान में उड़कर खेंचरी विद्या का प्रदर्शन करती हैं। अनेक वन्य जीवी गुफाओं में रहते हैं और बन्दर हमेशा वन में रहते हैं। पर उनका जीवन भावनाहीन तपश्चर्या के कारण पावन तो नहीं माना जा सकता।

त्यागराज का निश्चित मत है, सच्ची साधना के लिए मन को नियन्त्रित रखना परम आवश्यक है, वे कहते हैं—'मनसु स्वाधीनमन वानिकि मरिमंत्र तंत्रमु लेला ? तनुवु तानु कादनि येंचु वारिकि तपन् चेयवनेल ?' (अगर मन स्वाधीन है तो मंत्र-तंत्र अनावश्यक हैं। जो अपने को अपने शरीर से अलग समझता है उसे किसी तपस्या की आवश्यकता नहीं है) इसी आशय को प्रकारांतर से प्रकट करते हुए वे कहते हैं—'मनसु निल्प शक्तिलेप पोते मधुर घंट विरुल पूजेमि चेयुनु, घन दुर्मदुडै ता मुनिगिते कावेरि मंदाकिनि येडु ब्रोचुनु?' (अगर मन को काबू में रखने में सफलता नहीं मिली तो मथुरा (मीनांक्षी) के मन्दिर में घंटी बजाने से क्या मिल सकता है। जब सारा मन मदमात्सर्य के कर्दम कीचड़ में फँसा हुआ है तो कावेरी में शरीर भी नहलाने से क्या लाभ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि त्यागराज की भक्ति भावना ज्ञानहीन संकल्प मात्र नहीं है। सच्चे ज्ञान का संबल ही वे भक्ति पथ में आगे बढ़ना चाहते हैं। वे अपने आराध्य को 'गरुड़ गमन' कहकर संबोधित करते हुए रग गमन श्रम, में ज्ञान का वर माँगते हैं और कहते हैं—हे गरुड़गामी राम ! मुझे सच्चा ज्ञान प्रदान करो। परमात्मा, जीवात्मा में चौदहों लोक, यहाँ के नर, किन्नर, किपुरुष, मुनि, ऋषि सभी में एक ही परमतत्व को देखने का सही ज्ञान प्रदान करो।

इस प्रकार त्यागराज की भक्ति भावना में बिमल विवेक, सच्चा संकल्प और परिनिष्ठित आचरण तीनों का मंगलमय संगम दिखाई देता है। त्यागराज के आराध्य राम के जीवन में अनुपम सौन्दर्य आदर्श शील और अप्राकृत पराक्रम का

अद्‌भुत समावेश है। इन तीनों को एक साथ चित्रित करते हुए त्यागराज अपने एक गीत में धनुर्भंग के प्रसंग का एक सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। मुनि की आँखों का इशारा पाकर जब राम ने शिवधनुष को तोड़ कर अपने लोकोत्तर पराक्रम का परिचय दिया था तब राजर्षि विश्वामित्र का मन आनन्द से फूला नहीं समाया था। त्यागराज कहते हैं कि उस आनन्दातिरेक में पता नहीं मुनि का मन किस ओर बह गया था। इतना बड़ा कार्य करने पर भी राम के मुख मण्डल पर थकावट का कोई आभास तक नहीं दिखाई पड़ा था। केवल उनके चेहरे पर घुँघराले बाल कुछ हिल गये थे तो उससे उनके सौन्दर्य की शोभा ही बढ़ गयी थी। तीसरी बात यह है कि राम ने शिवधनुष को तोड़ने का काम अपने आप या जानकी को पाने की लालसा से नहीं किया था, केवल मुनि की इच्छा पर उनका संकेत पाकर किया था। इसमें राम का अलौकिक शील व्यंजित होता है। इस प्रकार एक ही गीत में प्रस्तुत यह सुन्दर शब्द चित्र त्यागराज के आराध्य के शील शक्ति और सौन्दर्य तीनों की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार इस विभूतित्रयों का वर्णन एक और गीत में प्रस्तुत है—

'श्याम सुन्दरांग सकल शक्तिवि नीवेरा।
तामसा रहित गुण सांद्र धरनुवेलयु रामाचन्द्र'॥

(प्रभो! तुम्हारा शरीर श्याम वर्णन का और देखने में अत्यन्त सुन्दर है और संसार की सारी शक्ति के तुम मूर्तरूप हो। संसार के सारे गुण तुम्हारे अन्दर पुंजीभूत हैं और उनमें तमोगुण का आभास तक नहीं है।)

राम के भिन्न-भिन्न गुणों का अलग-अलग वर्णन भी त्यागराज के गीतों में यथेष्ठ मात्रा में मिलता है। कहीं राम बाण के त्राण शौर्य का वर्णन है तो कहीं 'मधुर-मधुर रघुवर तेरी छवि' कहकर राम की नित्य रमणीय रूप माधुरी का मनोहर वर्णन मिलता है। कहीं राम के मंदस्मित मुख मण्डल का मंजुल वर्णन है तो कहीं रणधीर राजकुमार रघुवीर का ओजस्वी चित्र प्रस्तुत है। पावन गुणराम और कल्याणराम रामभद्र को अपने जीवन का सर्वस्व बताते हुए राग-राग रबर हरप्रिया में त्यागराज कहते हैं—'तुम मेरे जीवन के आधार हो और आकार में सुन्दर हो, तुम मेरी तपस्या के फल हो और मेरे शरीर के बल हो, मेरे कुल के धन हो और मेरे सौभाग्य के आश्रय हो, मेरे मन की प्रसन्नता तुम ही हो और मेरे सुख के मूल स्रोत हो, मेरे भीतर की तृप्ति तुम हो और मुझे अच्छी लगने वाली मुग्ध मनोहर आकृति हो मेरे भाग्य और वैराग्य, जीवन और यौवन, आगमसार और जगदाधार तुम ही हो, तुम ही मेरे देव हो, निर्विकल्प परब्रह्म हो और सर्वोन्नत मायातीत और आप्त जन हो जिसमें मेरी सारी आशाएँ और आकांक्षाएँ सागर में रत्नों की भाँति सुरक्षित है।

इस प्रकार की संबुद्धियों में त्यागराज अपने आपको प्रभु के श्रीचरणों में अर्पित कर लेते हैं और कभी-कभी अपने को अपने आराध्य से अभिन्न समझ कर उसी परम सत्ता में एकाकार होने में ही परम श्रेय ही प्राप्ति समझते हैं। ऐसी ही भावना से प्रेरित होकर वे कहते हैं—'द्रष्ट दैवमु नीबेरा, इलनु त्यागराजु वेरा'। (तुम ही मेरे इष्ट देव हो, नहीं, तुम स्वयं त्यागराज हो।) लेकिन इस आत्मसमर्पण की अवस्था तक पहुँचने में भक्त को कई सोपानों को पाट करना पड़ता है, भव सागर की कई भाव-बीथिकाओं के साथ उठ गिर कर और फिर उठकर किसी तरह वह अन्त में तट पर पहुँचा जाता है। कभी वे अपने कुकर्मों से व्याकुल होकर कहते हैं 'राम कितने भी उद्धारक क्यों न हों मेरी रक्षा वे कैसे कर पाएँगे, क्योंकि सारा जीवन मैंने व्यर्थ गंवा दिया है और मेरी कहानी कर्णठोर बन गयी है। 'तो कभी वे निश्चित होकर कहते हैं कि सारे संसार का सूत्रधार बनकर जगन्नाटक रचने वाला राम जब हमारे साथ हैं तो हमें चिन्ता किस बात की?' कभी-कभी प्रभु के वात्सल्य पर शंका प्रकट करते हुए कहते हैं, 'किस मूर्ख ने तुम को प्रणतार्तिहर (आश्रित वात्सल्य) कहा है क्योंकि इसकी पुष्टि करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता' तो कभी अपने को ही दोषी समझ कर कहते हैं—'इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। दोष सारा मेरा है। जब मेरा सोना ही खोटा है तो बेचारा सुनार बढ़िया गहना कैसे बना देगा?' इस प्रकार कई शब्दों में, कई शैलियों में और कई भाव लहरियों में वे प्रभु से विनती कर अन्त में कहते हैं 'हे राघव! मैं और कब तक विनती करता रहूँ। मेरी चिन्ता दूर करने के लिए तुम इतने हठी क्यों बने हो।' इस पर भी जब राम के मुँह से सांत्वना या समाधान का कोई शब्द नहीं निकलता है तो भक्त कहता है, 'तुम जवाब क्यों नहीं देते? क्या बात करने से तुम्हारा कुछ बिगड़ जाता है? क्या सामने दिखाई पड़ने मात्र से मैं तुमसे अनुचित वर माँग कर तुमको परेशान करूँगा। नहीं नहीं, मैं ऐसा दुराकांक्षी नहीं हूँ। मैं जानता हूँ मेरे भाग्य में जो लिखा है सो मिलेगा। पर तुम से मैं केवल दर्शन का सुख चाहता हूँ। तुम्हारे दर्शन से मेरी सारी पीड़ा का परिहार हो जाएगा। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।' बड़ी दीन मुखमुद्रा में करुणासागर राम से भक्त त्यागराज विनंती के स्वर में कहते हैं—'कंट चूडूमी ओकपार क्रीगंट चूडुमी'। (एक बार मेरी ओर देखो, केवल एक बार तिरछी नज़र से ही सही मेरी ओर देखो) यहाँ पर 'बारक कहिए कृपालु तुलसीदास मेरो' वाली प्रसिद्ध पंक्ति याद आती है। त्यागराज कभी-कभी इतने हठी बन जाते हैं कि प्रभु से साफ-साफ बताते हैं कि जब तक तुम मेरा काम ठीक-ठीक नहीं करते हो तब तक मैं तुमको छोड़ने वाला नहीं हूँ' उनका काम कोई ऐसा दुष्कर नहीं है कि उसे कराने में राम को कोई परेशानी हो। वह बहुत साधारण और सीधा सादा है। वे केवल इतना ही चाहते हैं कि जब सोने की शय्या पर माँ जानकी के पास वे आराम से बैठे हों और जानकी मल्लिका के फूलों से अपने प्रभु

का अर्चन कर रही हों, उस समय उनकी एक अच्छा गीत गाने को कहा जाए। बस, वह और कुछ नहीं चाहते। कामना कितनी सरल और कितनी चतुर है। सच्चे कलाकार को कला के अधिकारी के सामने अपनी कला के प्रदर्शन से बढ़कर और क्या चाहिए।

त्यागराज की भक्ति भावना और संगीत साधना, उन्हीं के शब्दों में, 'नव-रस-युत' है। कभी वे अपने प्रभु को माता समझ कर उनसे पूछते हैं—'जरा यह तो बताओ माँ कि पुत्र की पुकार सुनकर माँ उसके पास दौड़ कर आती है या पुत्र माँ के पास चला जाता है?' बछड़े के पास गाय आती है या गाय के पास बछड़ा जाता है?' कभी वह शृंगार नायिका की भाँति मधुर भावना में अपने प्रभु से पूछते हैं, 'मैं आपसे कहाँ गले से मिलूँ?' कभी वे अपने प्रियतम के अंगांग को चुने हुए आभूषणों से सजा-सजा कर उसका लोकोत्तर सौन्दर्य देखना चाहते हैं और कभी वे अपने प्रियतम को प्यार से अपने घर बुलाते हुए कहते हैं 'रारा मा मिरि दाक') जरा हमारे घर तक आने का कष्ट करो।) वात्सल्य और शृंगार के अतिरिक्त त्यागराज में दास्य भावना अधिक दिखाई देती है। वे राम के राज दरबार में भट या सिपाही के पद पर काम करने में गौरव समझते हैं। राम-नाम से अंकित पट्टी बाँध कर रोमांच रूपी कंचुक धारण कर राम-नाम का खड्ग हाथ में लिये वे हमेशा राजा राम की सेवा में प्रस्तुत रहना चाहते हैं और चाहते हैं कि राम कहीं उनको छोड़ कर चले न जाएँ। इसी व्यग्रता को प्रकट करते हुए त्यागराज कहते हैं—

'नी चित्तमु निश्चलमु निर्मलमनि निन्ने नम्मिनान्।
ना चित्तमु वचन चंचलमनि मनु विडनाडकुमि श्रीराम'॥

(हे राम! तुम्हारा मन बहुत ही निश्चल और निर्मल है। राम मेरे मन में छल, कपट और चंचलता को देखकर मुझे छोड़ कर कहीं नहीं जाना)

आगे वे और कहते हैं कि मुझे हमेशा अपने पास ही रख लो। मैं तुम्हारे किसी न किसी काम जरूर आऊँगा। जैसे हनुमान और भरत प्रभु का इशारा पाकर सारा काम कर लेते हैं, उसी प्रकार त्यागराज अपने प्रभु को आश्वासन देते हुए कहते हैं—'मैं भी उन्हीं की भाँति आपका संकेत मात्र से आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। मुझे बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं होगी'। यहाँ पर स्मरणीय है कि भक्त मीरा से भी इसी प्रकार 'चाकर राखो जी' कह कर प्रभु की परिचारिका बनने की इच्छा प्रकट की। भक्तों की भाव-भूमिका देशकाल से निरपेक्ष होकर सर्वत्र समांतर चलता है सनातन तत्वों का प्रतिपादन करती है।

त्यागराज की भक्तिभावना उनकी 'नव रस युत' कृतियों से युक्त और भागवतकार की 'नवधा' भक्ति से अनुप्राणित है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण पाद

सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन को व्यंजित करने वाले गीत त्यागराज के अनेकों मिलते हैं। कभी वे प्रभु की पुण्य कथा के श्रवण के लिए लालायित होकर कहते हैं कि रामकथामृत के आस्वादन से उनकी जन्मजन्मांतर की भूख हमेशा के लिए मिट गयी है। उनकी निश्चित धारणा है कि रामकथा की सुधा के पान से मिलने वाला सुख किसी राज्य के पालन से मिलने वाले सुख से कहीं बढ़ कर है क्योंकि सीता, राम लक्ष्मण भरत की कहानी धर्म आदि चारों फल प्रदान करने वाली है, धीरज, आनन्द और सुख-संतोष की मंजूषा है, कर्म बंधन के सागर को पार कराने वाली नौका है और कलिमल को दूर करने वाला दिव्य रसायन है। रामभक्ति के साम्राज्य को अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करने वाला बताते हुए त्यागराज कहते हैं—

रामभक्ति साम्राज्य में मानवुल कब्बेने मनसा।
आ मानवुल संदर्शनमम्यंत ब्रह्मानंद मे।
ईलागिन विवरिंप लेनु-चाला स्वानुभव वेद्यमे।
लीलासृष्ट जगन्त्रयमने कोलाहल त्यागराजनुतुडगु॥

(राम भक्ति अपने में एक साम्राज्य के साधन है। जो इस साम्राज्य के अधिकारी होते हैं, उनके दर्शन मात्र से ब्रह्मनंद की प्राप्ति हो जाती है। जब परोक्ष रूप में आनन्द हो इतना लोकोत्तर है तो फिर उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति कैसी होती है इसका वर्णन करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। उसे केवल अनुभव से जाना जा सकता है। कोलाहल से भरा हुआ यह सारा संसार ये तीनों लोक, ईश्वर की लीला के परिणाम मात्र है। इस मायामय संसार का सनातन सत्य केवल रामभक्ति में पाया जा सकता है।)

राम कथा का श्रवण जितना महत्वपूर्ण है रामनाम का स्मरण उससे भी अधिक प्रभावशाली बताया गया है। 'स्मरण ही सुख है' (स्मरणे सुखम्) यह त्यागराज का दृढ़ विश्वास है। राम नाम ही श्रेय है और राम भाव ही प्रेय है यह भी त्यागराज की सूक्तियों में से स्मरणीय है। इस प्रकार सूत्रशैला में त्यागराज ने कई सूक्तियों को स्वरबद्ध किया है, जिनका स्मरण मात्र मानव मन को पावन बना देता है। राम एवं दैवतम् शान्ति बिना सुख नहीं कहीं भी, भक्ति बिना संगीत वृथा है' आदि इसी प्रकार की सूक्तियाँ हैं।

श्रीराम के पाद सेवन को भी त्यागराज विशेष पावन बताते हुए कहते हैं कि जिन चरणों में शिला के रूप में पड़ी हुई और श्रीराम को देखते ही रो पड़ी अहल्या को पुनर्जीवन प्रदान किया था उनकी कृपा। त्यागराज कहते हैं मन को पावन बनाने में सुलभ है। राम अमृतवाहिनी में निबद्ध उनका गीत 'श्रीराम पादमो

श्रनीकृप जालुने' इसी भाव को प्रकट करता। इस गीत में प्रयुक्त राग का भी अपना महत्व है।

राम को केवल अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाले आदर्श पुरुष के रूप में ही त्यागराज ने आराधा हो ऐसी बात नहीं है। संत त्यागराज की दृष्टि समन्वयात्मक है। उसके अलौकिक आलोक में लोक संग्रह की भावना भी यथेष्ट मात्रा में पाई जाती है। राम राज्य का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—

'कारु बारु सेयुचारु कलरे नीवले साके नगरिनि।
ऊरिवार देश जनुलु वरमुनुलुप्पोंगूचु भावुकुलसय्ये।
नेलकु मूड़ वानलखिल विद्यल नेर्पु गल्गि दीर्घायुलु गल्गि
चलमु गर्व रहितलु गालेव साधु त्यागराज विनुत राम'।

(साकेत के स्वामी राम! जैसे आपने साकेत का शासन किया है, वैसा सुन्दर प्रशासन और कहाँ देखने को मिलेगा? ग्रामीण नागरिक और सारे देशवासी भाव के धनी होकर काननवासी मुनियों को आनन्द प्रदान किया करते थे। प्रतिमास तीन बार यथेष्ट वर्षा हुआ करती थी। लोग सभी विद्याओं में पारंगत हुआ करते थे। सभी लोग दीर्घायु होकर निराडंबर और निर्मल जीवन व्यतीत किया करते थे। ऐसा साधुवाद प्राप्त करने वाला राज्य और कहाँ पाया जाएगा?)

संत त्यागराज की स्वच्छंद और सात्विक भक्तिभावना को किसी दार्शनिक सम्प्रदाय या परम्परा तक सीमित रखना सम्भव नहीं है। वे स्वयं निश्चित नहीं कर पाते हैं कि वे किस पथ का अनुसरण करें। यदि वे अपने आपको विश्वात्मा का अभिन्न अंग मानते हैं तो परमात्मा उनको अपना समझकर उनका भार वहन करने के दायित्व से छुटकारा पा सकता है। इसके विपरीत वह अपने प्रभु का दास बनकर रहना चाहता है तो उसे द्वैती कहकर टाला भी जा सकता है। इसीलिए वे निश्चित रूप से जानना चाहते हैं कि द्वैत में भावना श्रेय है या अद्वैत में। प्रभु से ही अपनी शंका समाधान पाने की इच्छा से वे पूछते हैं—

'द्वैतमु सुखमा? अद्वैतमु सुखमा?
चैतन्यमा! विढु सर्वसाक्षि विस्तारभुगनु देलपुमु नातो।
गगन पवन तपन भुवनादयवनिलो
नग धराज शिवेन्द्रादि सुरुल लो
भगवद्भक्त वराग्रेसरुल लो
बाग रमिर्च त्यागराजार्चित।'

'मेरे सर्वसाक्षी चैतन्य! मुझे विस्तार से समझा दो कि द्वैतभावना हितकर या अद्वैत। धरती, जल, प्रकाश, वायु और आकाश में तुम सर्वत्र छाए हुए हो और

ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के अलावा प्रमुख भक्तों के मानस मन्दिर में सदा विराजमान तुम्हारा सच्चा रूप मैं कैसे पाऊँ?'

इसी प्रकार की विचिकित्सा गोस्वामी तुलसीदास के मानस में भी मंथन पैदा कर गयी थी और उन्होंने इसका समाधान भी पा लिया था। उनका निष्कर्ष यह था—

'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥

जब भक्त सारे वाग्जाल को भ्रांति समझकर परमात्मा के आश्रय में परम शांति का अनुभव करता है तभी वह अपने को पहचान पाता है। हनुमान सुग्रीव, विभीषण आदि के सम्मुख भगवान रामचंद्र के दिये हुए अभय दान से इसी आशा की पुष्टि होती है।

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो वदाभ्येतद् व्रत मम॥'

प्रभु के इन्हीं वचनों का त्यागराज ने सिद्धांत के रूप में ग्रहण कर लिया है और इन्हीं को दुहराते हुए वे कहते हैं—

'सीतापती! ना मनसुन सिद्धांतमनि युन्नानु रा
वातात्मजुल चेतने वर्णिचिन नो पलुकुलेल्ल
प्रेमजूचि ना पै पेद्दा मनसु चेसि
नीमहिम लेल्ल निडार जूपि
ईमहिम भय मेरिकन्न माट
रामचन्द्र! त्यागराजनुतं॥'

(हे सीतापति राम! हनुमान आदि के सामने आपने जो बातें कहीं थीं, उनको मैंने सिद्धांत के रूप में ग्रहण कर लिया है और मैं बिल्कुल आश्वस्त हूँ। आपने मुझे प्यार से देखा और हृदय से स्वीकारा और सारे संसार में फैली हुई अपनी महिमा का प्रमाण भी दिया तो मुझे भय किस बात का है?)

प्रभु के इस अभयदान से आश्वस्त होकर भक्त त्यागराज कहते हैं—

'तब दासोह तब दासोहं दासोहं तब दाशरथे॥'

आत्म समर्पण की भावना में ही त्यागराज सबसे अधिक श्रेय और सबसे उत्तम प्रेय का सामरस्य देखते हैं। वास्तव में त्यागराज के लिए राम से बढ़कर प्रेम का आलंबन और कहीं नहीं है। वही उनके पिता, वही उनके गुरु, वही उनके स्वामी, वही उनके प्रियतम और वही उनके जीवन हैं। जीवनदाता धाता पालन

कर्ता विष्णु, हर्ता-धर्ता शंकर और इन तीनों से परे सबका शासन करने वाला नियन्ता परब्रह्म भी वही है।

रमते योगिनो नते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति राम पदेनासो परब्रह्मभिषीयते॥

* * *

*

*

तृतीय अध्याय

भक्ति-रस

3.1 भक्ति-रस का विवेचन

जिस प्रकार भट्टनायक आदि ने रस एवं दार्शनिक चिन्तन के समन्वय का प्रयास किया, उसी प्रकार रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वल नीलमणि' में रस और प्रेम-साधना के समन्वय का प्रयास किया। इन दोनों प्रयासों में मूलभूत समानता यह है कि जब दर्शन प्रधान था तथा दर्शन के आधार पर रस की व्याख्या की गई, जब माधुर्य भाव की साधना का प्रतिवर्त्तन हुआ तब उसके आधार पर रस की व्याख्या प्रस्तुत की। माधुर्य साधना भी भक्ति प्रधान थी। रूप गोस्वामी दर्शन के रूप में अर्चित्य भेदाभेद को मानते थे, किन्तु भक्ति रस की व्याख्या में उन्होंने 'लीला' का पूर्ण प्रयोग किया। अतः भक्ति रस को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए इन दोनों पक्षों-'अर्चित्यभेदाभेदवाद' तथा 'लीला' के स्वरूप का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

रूप गोस्वामी महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे और उन्होंने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' में उन्हीं के भक्ति-सिद्धांत के आधार पर रस की व्याख्या, का उपक्रम किया। इसलिए मधुर रस को पूर्ण रूप से समझने के लिए चैतन्य महाप्रभु के सिद्धांतों का ज्ञान उपयोगी होगा।

चैतन्य महाप्रभु के सिद्धांत को 'अर्चित्यभेदाभेद' कहा जाता है। इसके अनुसार ईश्वर और जीव एवं जगत भिन्न होते हुए भी अभिन्न है, क्योंकि ईश्वर शक्तिमान है और जीव-जगत उसकी शक्ति। जिस प्रकार शक्तिमान और शक्ति दोनों ही सत्य है एवं भिन्न होते हुए भी अभिन्न है उसी प्रकार ईश्वर तथा जीव एवं जगंत सभी सत्य भी है और अभिन्न भी। यहाँ तक चैतन्य का मत निम्बार्क के द्वैताद्वैत से समानता रखता है, किन्तु चैतन्य ने इस सम्बंध पर आगे विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि वह तर्क की दृष्टि से असंगत प्रतीत होता है। मत के नामकरण में ही सम्बन्ध का यह अन्तर्विरोध स्पष्ट है और तर्क के बल पर उसका समाधान संभव नहीं है। या तो अद्वैत की स्थिति संगत हो सकती है या द्वैत की। इनसे भिन्न जितनी भी स्थितियाँ हैं—विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत या अर्चित्यभेदाभेद उन सबका आधार शुद्ध तर्क न होकर भक्ति का आग्रह भी है। किन्तु केवल

चैतन्य ने इस सत्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है और कहा है कि वस्तुतः ईश्वर और जीव एवं जगत का स्वरूप बुद्धि एवं तर्क की सीमा से परे है और इसीलिए वह अचिंत्य भी है। अतएव भेदाभेद की अनुभूति का साधन ज्ञान नहीं वरन् भक्ति ही है।

चैतन्य ने निम्बार्क एवं बल्लभ के समान ही ईश्वर और उसकी शक्ति को कृष्ण और राधा के रूप में स्वीकार किया। उसकी दृष्टि में कृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, अवतार नहीं, और वृन्दावन वस्तुतः अमरपुरी है और वहाँ के निवासी मुक्त जीव हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय में आगे चलकर एक विलक्षण बात यह हुई कि कृष्ण का अवतार मान लिया गया और उनकी ही पूजा आरम्भ हो गयी।

3.1.1 परम तत्व

अचिंत्यभेदाभेद के अनुसार हरि ही परम तत्व है जिसे भगवान् और ईश्वर भी कहा जाता है। परमात्मा तो उसका एक अंश मात्र है जो अन्तर्यामी है और संसार का नियन्ता है। हरि के षड् ऐश्वर्य हैं, पूर्ण श्री, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण वैराग्य। इन सभी गुणों में भी श्री गुण प्रधान है एवं अन्य गुण उसके अंग है। पूर्ण रूप में हरि कृष्ण एवं राधा की युगल मूर्ति के द्वारा प्रकाशित है। कृष्ण और राधा भक्ति एवं प्रेम के अटूट बन्धन में बद्ध है। हरि की शक्ति अनन्त एवं अचिंत्य है जिसके द्वारा वे अनन्त होते हुए भी कृष्ण के रूप में भी विद्यमान है।

3.1.2 तीन शक्तियाँ

यद्यपि भगवान् की शक्तियाँ अचिंत्य हैं, फिर भी तीन प्रधान शक्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। वे हैं—स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और माया शक्ति। भगवान् का स्वरूप सच्चिदानन्दमय है इसलिए उनकी स्वरूप शक्ति एकात्मिक होने पर भी तीन शक्तियों के रूप में प्रकाशित होती है जिनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट कार्य है। प्रथम शक्ति है संधिनी शक्ति, जो भगवान् की सत्ता का आधार है तथा जिसके द्वारा वे अन्य वस्तुओं की सृष्टि करते हैं एवं उनमें व्याप्त रहते हैं। भगवान के आत्म-चैतन्य की आधारभूत शक्ति को संवित् कहते हैं और इसके द्वारा वे दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। तृतीय है ह्लादिनी शक्ति जो भगवान के आनन्द का कारण है तथा जो दूसरों को भी आनन्द प्रदान करती है।

दूसरी प्रधान शक्ति तटस्थ शक्ति है। इसे जीव शक्ति भी कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा भगवान जीवों की सृष्टि करते हैं। माया शक्ति के द्वारा प्रकृति एवं जगत का आविर्भाव होता है। स्वरूप शक्ति के द्वारा जीव भी सच्चिदानन्द है, किन्तु माया शक्ति के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपने आप को हरि से भिन्न समझने लगता है। यही जीव के बन्धन की स्थिति है। उक्त तीनों शक्तियों को समवेत रूप से पराशक्ति कहते हैं।

. उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हरि विकारी है, क्योंकि जीव जगत उनका परिणाम है अतः सत्य हैं। वे स्वरूप शक्ति के द्वारा निमित्त कारण भी हैं और तटस्थ एवं माया शक्ति के द्वारा उपादान कारण भी है। किन्तु चैतन्य हरि को विकारी भी नहीं मानते। उनकी इस मान्यता का आधार भी हरि का अचिंत्य होना ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अचिंत्य' के व्यवहार द्वारा तर्क की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर दिया गया है। यही कारण है कि यह मत शुद्ध दर्शन की कोटि में नहीं रखा जा सकता वरन् शुद्ध निष्ठा अथवा विश्वास के बल पर स्थित एक सम्प्रदाय मात्र है।

3.1.3 भक्ति

माया-शक्ति के कारण जीव अपने आप को भूला रहता है। वह यह भूल जाता है कि वह हरि का ही अंश है। इस सम्बंध का ज्ञान कर लेना ही मोक्ष है। मोक्ष का साधन ज्ञान भी है और भक्ति भी। भगवान के दो रूप हैं—एक ऐश्वर्य रूप और दूसरा माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूप की प्राप्ति ज्ञान द्वारा होती है और माधुर्य रूप की भक्ति द्वारा। भक्ति सर्वजन-सुलभ होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण है। भक्ति दो प्रकार की है—एक वैधी और दूसरी रागानुगा। वैधी भक्ति वह है जो शास्त्रोक्त विधि विधान के अनुरूप की जाती है। रागानुगा शक्ति में किसी प्रकार का शास्त्रीय बन्धन नहीं है और वह स्वच्छन्द रूप से भगवान् को प्रियतम मानकर की जाती है। गोपियों की भक्ति ऐसी ही भक्ति है। यह भक्ति वैधीभक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ है। चैतन्य मत में यह भक्ति साधन नहीं, साध्य है। भगवान की सेवा करते हुए माधुर्य रंग का आस्वादन मोक्ष के आनन्द से कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं काम्य है। चैतन्य-मतावलम्बी मधुरा भक्ति को पंचम पुरुषार्थ मानते हैं। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' के विवेचन का आधार यही भक्ति है।

चैतन्य मत का साहित्य बहुत कम है। उनकी स्वयं की कोई कृति प्राप्त नहीं है। कहा जाता है कि 'दशमुल श्लोक' उनकी रचना है। ऐसा भी माना जाता है कि चैतन्य महाप्रभु भागवत को ही ब्रह्मसूत्र का मान्य भाष्य मानते थे। बाद में जीव गोस्वामी ने 'षट्-सन्दर्भ' ग्रन्थ की रचना की और 18वीं शती में बालदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्द भाष्य लिखकर चैतन्य के मत का विवेचन किया।

3.1.4 लीला का स्वरूप

सृष्टि की उत्पत्ति क्यों और कब हुई ? यह प्रश्न जीवन के जटिलतम प्रश्नों में से है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से इस प्रश्न पर विचार होता आया है और इसका उत्तर हमेशा ही यह दिया जाता रहा है कि सृष्टि ईश्वर की लीला है और वह अनादि है। इस सम्बंध में विशेष बात तो यह है कि दार्शनिक एवं भक्ति-संभी लीला को ही सृष्टि का प्रयोजन मानते हैं 'एकाकी न रमते। सो

अकामयत एकोम्हा बहु स्याम'—इत्यादि वाक्यों में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि रमण की इच्छा से ही सृष्टि का उद्भव हुआ है।

यद्यपि ज्ञानमार्गियों और भक्तों दोनों ने ही लीला के सिद्धांत को स्वीकार किया, किन्तु फिर भी दोनों के विश्लेषण-क्रम में बड़ा अन्तर है। वेदान्त के अनुसार यह लीला मिथ्या है और आनन्द की प्राप्ति के लिए इससे छुटकारा पाना परम आवश्यक है। वहाँ कभी, ब्रह्म को आनन्द रूप माना गया है—रसो वै सः। रसंम्होव लब्ध्वा आनंदीभवति। किन्तु उस रस रूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए इस दृश्य लीला के मिथ्यात्व की सिद्धि होनी आवश्यक है, क्योंकि भेद-मिथ्यात्व पूर्वक अद्वैत की सिद्धि होती है। जब व्यक्ति इस दृश्य संसार के लीला के मिथ्यात्व की अनुभूति कर लेता है तब वह अद्वय ब्रह्म रूप हो जाता है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार लीला के प्रपाञ्च का भेदन ही साध्य है। वस्तुतः लीला है ही नहीं। वह तो शुद्ध अज्ञान की उपज है। यही अनुभूति लक्ष्य है और परम पुरुषार्थ है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत्य को पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार का माना है। इसी के अनुरूप लीला भी वास्तविक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक तीन प्रकार की होती है।[1] इस विषय में मुझे तीन बातें कहनी हैं। पहली तो यह कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत्य के कोई भेद नहीं है, क्योंकि जितने भेद हैं वे सब मिथ्या है। सत्य तो एक ही है शेष सब असत्य है। दूसरी बात यह कि वेदान्त की दृष्टि से भक्तों द्वारा मान्य लीला भी मिथ्या ही है क्योंकि

---

1. लीलारसिक महापुरुष लीला के तीन प्रकार अथवा भेद मानते हैं। अद्वैत वेदान्त मत में—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से सत्य का तीन रूप माना है। बौद्ध विज्ञानवाद के मत से स्वभाव का परिनिष्पन्न, परतंत्र तथा परिकल्पित ये तीन भेद कहा गया है। ठीक इसी प्रकार लीला तत्वविद् मनीषियों ने भी लीला के विषय में अनुरूप सिद्धांत का प्रवर्तन किया है। 'आलम्बदार' संहिता के षष्ठ अध्याय में लिखा है कि लीला भी वास्तविक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार की होती है। वास्तविक लीला का अभिनय अक्षर ब्रह्म के हृदय में होता है।······ नित्य साकेत अथवा नित्य वृन्दावन में जो लीला होती है वह प्रातिभासिक है। अयोध्या अथवा ब्रजभूमि में काल'- विशेष में जो लीला होती है वह व्यावहारिक है। 'आलम्बदार संहिता' में नित्य वृन्दावन लीला का भी प्रातिभासिक रूप से वर्णन किया गया है। परन्तु इस प्रकार की भेद कल्पना कृष्ण-भक्ति साहित्य में सर्वत्र नहीं पाई जाती। अतएव समन्वय दृष्टि से कहा जा सकता है कि वास्तव में लीला और प्रातिभासिक लीला के स्वरूप में कुछ विशेष मतभेद नहीं है।

—पंडित गोपीनाथ कविराजः रामभक्ति में रसिक संप्रदाय की भूमिका—
पृ. 13, 14.

वह भेद पर आश्रित है। यही कारण है कि लीला को स्वीकार करने वाले आचार्यों को अद्वैत से भिन्न अन्यान्य दर्शनों की प्रतिष्ठा करनी पड़ी, और तीसरी बात यह है कि भक्तजन लीला से परे किसी स्थिति की कल्पना नहीं करते। उनके लिए यह लीला ही परम पुरुषार्थ है।

भक्तों ने भगवान की जो भावना की है वह अन्तर्विरोध से ग्रस्त है। एक ओर तो वे सगुण रूप को—कृष्ण या राम आदि को मानते हैं और दूसरी ओर निर्गुण ब्रह्म के सभी विशेषणों—अनन्त, अव्यय, सनातन, अर्चित्य आदि को भी उसमें समाविष्ट कर देते हैं। भक्तों की भावना के लिए सगुण रूप चाहे कितना ही ग्राह्य क्यों न हो, तर्क की दृष्टि से वह निर्दोष नहीं है। पीछे अर्चित्यभेदाभेद का विवेचन करते समय भी इस ओर संकेत किया गया था। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भक्ति-संप्रदायों की सीमा दार्शनिक मतों की अपेक्षा कहीं अधिक संकुचित हो गई। उनका एकमात्र आधार भक्तों की भावना बन गई, और वह भावना भी विविध सम्प्रदायों में विविध रूपों में प्रकट हुई। फल यह हुआ कि इनकी साधना-पद्धति अत्यन्त संकुचित और उसकी प्रभविष्णुता अत्यन्त सीमित हो गयी। भावनाश्रित यह संप्रदाय यदि भावना के क्षेत्र में ही रहते तो कुछ सीमा तक उनके लिए उचित था किन्तु जब इन भावनाश्रित सम्प्रदायों के आधार पर काव्यशास्त्र की विवृत्ति की जाने लगी, या रस की व्याख्या का उपक्रम किया तो वह सर्वथा अग्राह्य सिद्ध होना ही था।

इस मत के अनुसार श्रीकृष्ण की चिन्मयी लीला तो नित्य रूप से गोलोक में होती रहती है। यह संसार मायामय है और इससे ऊपर चिज्जगत की सत्ता है। मायिक विश्व एवं चिज्जगत के बीच बिरजा नदी है। इस चिज्जगत के चारों ओर ब्रह्माधाम है और उसे पार करने पर बैकुण्ठ के दर्शन होते हैं। इसमें भगवान नारायण विराजमान हैं और श्री आदि स्वकीय भाव से उनकी सेवा में लीन हैं। गोलोक की स्थिति बैकुण्ठ से भी ऊपर है। यहाँ के राजा कृष्ण हैं और ब्रजवनिताएँ उनकी सेवा में लीन रहती हैं। भक्त का लक्ष्य इस लीला में ही सम्मिलित होना है।

सभी व्यक्ति इस लीला में प्रवेश पाने के अधिकारी नहीं हैं। इसके लिए सिद्ध देह की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष सामान्य शरीर भौतिक देह है। उसके द्वारा निरन्तर आध्यात्मिक साधना करनी चाहिए। साधना देह ही साधना देह है। जब उपासना, योग आदि की साधना द्वारा साधक को अपने वास्तविक स्वरूप स्वभाव का ज्ञान हो जाता है तब वह सिद्ध देह को प्राप्त कर लेता है। कुछ लोग इसे भाव देह से अभिन्न मानते हैं और कुछ भिन्न। इस सिद्ध देह के द्वारा ही भक्त भगवान् की लीला में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है और परम आनन्द की अनुभूति करता है। मधुर रस के स्वरूप की मीमांसा करते समय सिद्ध देह का उल्लेख किया

जाएगा क्योंकि यह स्पष्ट है कि काव्य में मधुर रस का आस्वाद करने के लिए भी सिद्ध देह की ही आवश्यकता होती है।

भगवद्भक्ति के दो रूप हैं एक वैधी, दूसरी रागानुगा। वैधी भक्ति वह है जिसमें शास्त्रोक्त विधान का पालन किया जाए। रागानुगा भक्ति का आदर्श ब्रजवासियों की भक्ति है जिसमें विधि-निषेध का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। भक्त स्वच्छन्द रूप से ईश्वर की भक्ति में तल्लीन होता है। यह सख्य, वात्सल्य आदि कई प्रकार की है। इसमें गोपियों की माधुर्य भाव की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है और इसलिए प्रत्येक साधक चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हो माधुर्यभाव से ही कृष्ण की भक्ति करनी होगी, उन्हें पति रूप में मान कर उनकी सेवा सुश्रूषा करनी होगी। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि स्त्रियाँ तो मधुरोपासना कर सकती हैं किन्तु पुरुष उसमें कैसे सफलता प्राप्त करें? इसके उत्तर में कहा जाता है कि एकमात्र कृष्ण ही पुरुष है, शेष सब जीव स्त्री रूप है। इसलिए मधुरोपासना के लिए पुरुष को अपना यह कान्ता-रूप ही जानना पड़ेगा।

अब प्रश्न यह है कि उक्त प्रेम का विकास कैसे हो? इसके लिए 'स्वभाव' प्राप्ति आवश्यक है और इस स्वभाव-प्राप्ति में गुरु सहायक होता है। एक बार जब 'स्वभाव' की प्राप्ति हो जाती है तब गुरु की भी आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार शिशु सहज भाव से ही माँ के प्रति स्नेह की अभिव्यक्ति करता है उसी प्रकार स्वभाव प्राप्त कर लेने पर भक्त की प्रत्येक क्रिया भगवान की भक्ति हो जाती है।

प्रेम की आरम्भिक अवस्था 'भाव' कहलाती है। यही भाव धीरे-धीरे विकसित होता हुआ प्रेम का रूप धारण कर लेता है। प्रेम के उदित होने पर भक्त अखंड रूप से भगवान की लीला का आस्वादन करता है।

भगवान की यह लीला अनिर्वचनीय एवं अचिंत्य है। वस्तुतः भगवान और जीव भिन्न होते हुए भी अभिन्न है—उसी प्रकार जैसे अंगी और अंग अभिन्न भी है और भिन्न भी। भक्त इस लीला को सत्य मानता है और इसे ही परम काम्य मानता है। किन्तु वेदान्त इस लीला को मिथ्या मानता है। ब्रह्म को सर्वथा लीलातीत।

3.1.5 भक्ति रस का स्वरूप: निष्पत्ति

रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में रूप गोस्वामी ने भरत के मत को ही स्वीकार किया है। जिस प्रकार प्रपानक रस के उदाहरण द्वारा भरत मुनि ने विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है उसी प्रकार साक्षात् कृष्ण के दर्शन से भक्ति-रस का उदय होता है। रस निष्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए रूपगोस्वामी ने दध्याद्रि द्रव्य

तथा शकर, मिर्च आदि के संयोग से बनने वाले रसाल रस का उदाहरण दिया है।[1] जिस प्रकार भरत के मतानुसार सामाजिक रस का आस्वाद करता है उसी प्रकार रूप गोस्वामी के मत में भी रस की अनुभूति भक्त को ही होती है। किन्तु इस विषय में इनका मत अभिनवगुप्त के समान है। क्योंकि दोनों ही रस की स्थिति आश्रय में मानते हैं।

अभिनव का मत अभिव्यक्तिवाद कहलाता है क्योंकि वे सामाजिक के हृदय में स्थित रत्यादि के व्यक्त रूप को ही रस मानते हैं। इस दृष्टि से रूप गोस्वामी के मत को भी अभिव्यक्तिवादी मत कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ भी भक्त के हृदय में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

किन्तु यहाँ दो मूलभूत अन्तर भी है जिन्हें स्पष्ट करना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि अभिनव के अनुसार रत्यादि की अभिव्यक्ति काव्य के अलौकिक व्यापार विभाजन व्यापार द्वारा होती है, किन्तु रूप गोस्वामी के मत में कृष्णरति को अभिव्यक्ति दीर्घ साधना का परिणाम है जो कि गुरु के आदेशनुसार की जाती है। साधक-देह और सिद्ध-देह के विवेचन में तथा भाव से प्रेम के विकास के विवरण में यह बात स्पष्ट की गयी है।

दूसरी बात यह है कि अभिनव के अनुसार रत्यादि लौकिक भाव अलौकिक रस-रूप में व्यक्त होते हैं किन्तु रूपगोस्वामी के मतानुसार तो कृष्ण-रति ही अलौकिक है।[2] अतः इनके मत में लौकिक रत्यादि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इसका कारण यही है कि इन्होंने केवल भक्त की दृष्टि से रस-निष्पत्ति की चर्चा की है, सहृदय मात्र की दृष्टि से नहीं।

रस का आश्रय

अभिनव ने सामाजिक को रस का आश्रय माना है। किन्तु इस विषय में रूप गोस्वामी का मत थोड़ा भिन्न है। वे रस का आलम्बन तो कृष्ण को मानते हैं किन्तु हरिबल्लभाओं को रस का आश्रय मानते हैं जो निरन्तर पति रूप में उनकी सेवा करती है। कृष्ण स्वयं भी अपनी लीला का उपयोग करते हैं इसलिए वे भी रस के आश्रय हुए। किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने भक्त को भी रस का आश्रय माना है और इस दृष्टि से कृष्ण भक्त के आलम्बन हो जाते हैं। अतः रूप गोस्वामी की

---

1. यथा दध्यादिकं, द्रव्य शर्करामरिचादिभिः।
संयोजन विशेषेण रसालाख्यो रसो भवते॥
तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्युनुभवाद्भूतः॥
प्रौढ़ानन्दचमत्कारो भक्तः को प्यनुरस्यते॥
—रूपगोस्वामीः हरिभक्तिरसामृतसिन्धु— 2/5/64, 65

2. अलौकिक त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भूता॥
—रूपगोस्वामी : हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, 2/5/89

दृष्टि से अनुकार्य एवं भक्त दोनों ही रस के आश्रय है।

रस-भेद

मूल भाव तो कृष्ण रति ही है। किन्तु उसके मुख्य एवं गौण रूप से दो भेद होते हैं। और फिर मुख्य के पाँच तथा गौण के सात भेद होते हैं।[1] इस प्रकार कुल रस बारह हैं। किन्तु मधुर रस ही सब रसों का राजा है।[2] इनमें से प्रत्येक रस के स्थायी भाव, रंग और देवता की कल्पना की गयी है, जो इस प्रकार है :—

मुख्य भक्ति रस

	रस	भाव	रंग	देवता
1.	शान्त	शान्त	श्वेत	कपिल
2.	प्रीत	विश्वस्त	चित्र	माधव
3.	प्रेयस्	मित्रता	अरुण	उपेन्द्र
4.	वात्सल्य	स्नेह	शोण	नृसिंह
5.	मधुर	श्याम	उज्ज्वल	कृष्ण

गौण भक्ति रस

	रस	भाव	रंग	देवता
1.	हास्य	हास-रति	पाण्डूर	बलराम
2.	अद्भुत	विस्मय रति	पिंगल	कूर्म
3.	वीर	उत्साह-रति	गौर	कल्कि
4.	करुणा	शोक रति	घूसर	राघव
5.	रौद्र	क्रोध रति	रक्त	भार्गव

1. **स्थायी भावो तत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः॥**
मुख्य गौणी सा द्वेधा रसज्ञः परिकीर्तिता॥ 2/5/2
× × ×
तत्र मुख्यः
मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सल॥
मधुरश्चेत्यभी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमा:॥
अथ गौणः
हास्योद्भतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि॥
भयानकः सबीभत्स इतिगौणाश्च सप्तधा॥ —**वही**, 2, 5, 96, 97
2. **स एवोज्ज्वलापरपर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः**
—**रूपगोस्वामी: उज्ज्वल नीलमणि (जीवगोस्वामी की टीका) पृ.** 104

6.	भयानक	भय रति	काला	बाराह
7.	वीभत्स	जुगुप्सा रति	नील	मत्स्य[1]

इन सब रसों में स्थायीभाव एक कृष्ण-रति ही हैं जो अन्य विरोधी एवं अविरोधी भावों का समाहार कर लेती है।[2] किन्तु अन्यत्र हास रति आदि को स्थायी भाव कहा गया है। वस्तुतः कृष्ण रति ही सब का आधार है।

सब भक्ति रसों का आस्वाद पाँच प्रकार का माना गया है। शान्त रस में पूर्ति, प्रीति आदि पाँचों रसों में विकास वीर तथा अद्भुत में चित्त का विस्तार करुण तथा रौद्र में विक्षेप एवं भयानक तथा वीभत्स में क्षोभ होता है।[3]

काव्यशास्त्र के मत के अनुसार यहाँ रसों की संख्या अधिक है, किन्तु उनका विस्तार अत्यन्त सीमित है क्योंकि सबके विषय कृष्ण है। सभी में वही सांप्रदायिक दृष्टि अनुस्यूत होने के कारण ही ऐसा हुआ है।

3.1.6 रस के अवयव

आलम्बन तो सर्वत्र कृष्ण ही है। अन्यत्र उद्दीपन, संचारी भाव और अनुभाव के वर्णन में प्रायः काव्य शास्त्रीय परम्परा को अपना लिया गया है। वसन्तागम कोकिल-कूजन मेघ-गर्जन, चाँदनी आदि तथा रूप, लावण्य आदि उद्दीपन विभाव है। अनुभावों के अन्तर्गत बाईस अलंकार सात उद्भास्वर और तीन अंगज माने गए हैं। भाव, हाव एवं हेला को अंगज अनुभावों में और लीला विलास आदि स्वभावज अनुभाव है। विवाद, दैन्य, त्रास आवेग आदि तैंतीस व्यभिचारी भाव माने गए हैं।

यद्यपि रस-निष्पत्ति आदि का रूप तो परम्परा अनुकूल है किन्तु रस के स्वरूप में महान् अन्तर हो गया है। भरत तथा उनके टीकाकारों ने स्थायीभावों का निर्णय लौकिक जीवन के आधार पर किया है। किन्तु रूप गोस्वामी ने उन सबका समाहार भक्ति रस के अन्तर्गत कर दिखाया। यह उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि का ही चमत्कार है, क्योंकि एक भक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आप को पूर्णयता भगवान् के प्रति अर्पित कर दे। उसके सभी विचार सभी कर्म और सभी भाव आराध्य से ही सम्बद्ध है। सभी लौकिक भावों का भक्ति रस में समाहार करने के प्रयास के मूल में उनकी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। वस्तुतः काव्यशास्त्र और भक्तिशास्त्र का पूर्ण समन्वय सम्भव ही नहीं है। कारण कि काव्यशास्त्र की दृष्टि

1. **रूपगोस्वामी :उज्ज्वल नीलमणि (जीव गोस्वामी कीटिका)**—पृ. 283-298 309, 310.
   —**भुवेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव': रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ.** 29-30
2. **अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतौं नयन्।**
   सुराजेद विराजते स स्थायी भाव उच्यते॥ —**वही**—2.5.1, 2
3. **हरिभक्तिरसामृतसिन्धु**—2, 5, 102-104.

काव्याश्रित तथा लोकाश्रित होती है, किन्तु भक्ति रस की स्थापना करते समय रूप गोस्वामी की दृष्टि न तो काव्याश्रित ही है और न ही लोकाश्रित वरन् वह तो भक्ति के एक सम्प्रदाय-विशेष पर आश्रित है। रूप गोस्वामी ने रस पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से रस-विवेचन का एक परिणाम यह हुआ कि उस रस की अनुभूति केवल उस सम्प्रदाय के व्यक्तियों तक ही सीमित हो गई। केवल भक्तों को ही भक्ति रस की या अन्य रसों की अनुभूति हो सकती है, अभक्त को नहीं। रूप गोस्वामी ने अपनी इस साम्प्रदायिक दृष्टि की स्पष्ट घोषणा की है।[1] किन्तु काव्यशास्त्र के अनुसार रसानुभूति सभी सहृदयों को उपलब्ध हो सकती है चाहे वे भक्त हों चाहे अभक्त। मीमांसकादि को तो काव्यशास्त्री भी रसानुभूति के अयोग्य ही ठहराते हैं, किन्तु उन्होंने रसानुभूति को भक्तों तक भी सीमित नहीं किया, वरन् सहृदय मात्र को अधिकारी माना है। भक्त और सहृदय समानार्थक नहीं है। कई व्यक्ति ऐसे हैं जो भक्त तो नहीं हैं, किन्तु उनकी सहृदयता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। रूप गोस्वामी के मतानुसार उन्हें रसानुभूति नहीं हो सकती तथा भरतादि के मतानुसारी वे भी रसास्वाद के अधिकारी हैं। जहाँ भी कहीं शास्त्रीय दृष्टि एवं साम्प्रदायिक दृष्टि में मतभेद या विरोध होगा, वहाँ शास्त्रीय दृष्टि की ही विजय होगी, साम्प्रदायिक दृष्टि की नहीं, क्योंकि शास्त्र की परिधि सम्प्रदाय से अधिक विस्तृत होती है।

रूप गोस्वामी के मत के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि उसको मानने पर साहित्य की सीमाएँ भी अत्यन्त संकुचित हो जाएँगी तथा सूरादि कृष्ण-भक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य किसी को कवि नहीं माना जा सकता। सिवाय भक्त कवियों के न तो कोई कवि ही होगा और सिवाय भक्ति-साहित्य के न और कोई साहित्य ही होगा।

इस मत के विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह है कि स्थायी भाव और रस में कोई अन्तर नहीं रहता। मधुर रति और भक्ति रस दोनों का रूप तत्वतः एक ही हो जाता है। जो भक्त के हृदय में उदित हो, वह मधुर भाव और काव्य में वर्णित होने पर वही भक्ति रस कहलाने लगता है। किन्तु दोनों में स्वरूपगत अन्तर कुछ भी नहीं है। सामान्य रूप से भाव और रस में बड़ा अन्तर होता है, जैसे रति और शृंगार में या शोक तथा करुण में। रसानुभूति भावानुभूति की अपेक्षा अधिक गंभीर

---

1. का प्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारान् स्वस्वरूपतः॥
रतिरात्यान्तिकस्थायीभावों भक्त जने खिले॥
× × ×
जरन्मीमांसद्रक्ष्य कृष्णभक्तिरसः सदा॥
सर्वयैव दुरूहोयमर्भक्तै भगवद्ररस ॥
—रूपगोस्वामी : हरिभक्तिरसामृतसिन्धु —2,5,37,113

और उदात्त होती है। किन्तु भक्ति रस में भाव और रस दोनों ही एक रूप है उनमें कोई अन्तर ही नहीं रह जाता।

चौथा आक्षेप यह है कि भक्ति रस के वर्णन में साधारणीकरण जो कि रसानुभूति का आधारभूत सिद्धांत है नहीं होता। कारण यह है कि वह एक साम्प्रदायिक अनुभूति है तथा उस सम्प्रदाय के बाहर वाला उसे उस रूप में ग्रहण ही नहीं कर सकता। जिसे रूप गोस्वामी भक्ति रस कहते हैं, शास्त्रीय दृष्टि से वह शृंगार रस के अन्तर्गत ही आएगा।

अतः जहाँ तक साम्प्रदायिक रूप में उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न है उसे उसी रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। भक्ति रस के सैद्धान्तिक एवं साम्प्रदायिक रूप का विवेचन करने के उपरान्त उसके नैतिक पक्ष का विवेचन भी आवश्यक है। इस मत में मधुर भाव सर्वश्रेष्ठ है और उसमें भी परकीया भाव सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वैकुण्ठ में स्थित नारायण की सेवा तो श्री आदि पति भाव से करती है, किन्तु उससे ऊपर स्थित गोलोक के स्वामी कृष्ण की क्रियाएँ गोपियाँ परकीया नायिकाएँ ही हैं और उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ माना है। परक्रिया प्रेम की श्रेष्ठता दिखाने के लिए यह तर्क है कि परकीया अप्राप्य होती है और इसलिए नायक का हृदय उसकी प्राप्ति के लिए अधिक व्यग्र होता है।[1] उधर परकीया भी अपने सभी बन्धनों एवं प्रतिबन्धों का तिरस्कार कर उपपति के प्रति अधिक गम्भीर रूप में आसक्त होती है। इसीलिए वैष्णवों ने परकीया को महत्व दिया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से, रूप गोस्वामी की दृष्टि सभी दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ है। द्वितीय व्यापक शास्त्रीय दृष्टि से और वही दृष्टि अधिक काम्य भी है। नैतिक दृष्टि से यह भावना सर्वथा त्याज्य है।

3.2 वैष्णव आचार्यों का भक्ति रस विवेचन

काव्य के स्वरूप के विषय में संस्कृत के आचार्यों ने अत्यधिक विचार किया है। उनमें बहुतों की परिभाषाएँ एकदेशीय है। भामह, दण्डी ने अलंकार को, कुन्तक ने वक्रोक्ति को, आनन्दवर्धन ने ध्वनि को, क्षेमेन्द्र ने औचित्य को और विश्वनाथ

---

1. ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी में पतिभाव से और ब्रजपुरी में उपपति भाव से लीला करते हैं। सकल ब्रजवासिनी ललना ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परकीया है । कारण कि परकीया के अतिरिक्त मधुर रस का अत्यन्त उत्कृष्ट विकास हो नहीं सकता। थोड़ा इसे विस्तार से समझना आवश्यक प्रतीत होता है। स्त्रियों में जो वामता, दुर्लभता निबन्धन-निवारणादि प्रतिबन्धकता है वही कंदर्प का परम अभ्युदय है। जहाँ निषेध विशेष है और ललना दुर्लभ है वही नागर का हृदय अतिशय आसक्त होता है। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण गोप हैं। वे गोप भाव के सिवा किसी से रमण नहीं करते। गोपियाँ जिस भाव से श्रीकृष्ण की भजन-सेवा करती हैं, शृंगार रसाधिकारी साधक भी उसी भाव से कृष्ण का भजन करते हैं।
—भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव': रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ. 27

ने 'रस को काव्य का सर्वस्व माना है। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं। उनके अनुसार गुणों से मण्डित दोषों से रहित, शब्दार्थ का मंजुल समन्वय काव्य है। शब्दार्थ का प्रयोग कहीं-कहीं अलंकार-रहित भी हो सकता है, पर उसे माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों से युक्त होना चाहिए। दोषों से श्रुति-कटुता, संस्कार-हीनता आदि अभिप्रेत हैं। मम्मट का यह काव्य लक्षण का वर्णनात्मक अथवा बहिरंग लक्षण हैं।[1] अन्तरंग लक्षण के रूप में विश्वनाथ की परिभाषा 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' (रसात्मक वाक्य ही काव्य है) बहुत प्रसिद्ध है। रस के अन्तर्गत भाव, रसाभास, भावाभास आदि रस की समीपवर्ती भावनाएँ भी अभिप्रेत हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने, काव्य-लक्षण में रस और गुण की ओर संकेत न करके, रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। 'रमणीयता' का तात्पर्य है चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द।[2]

'तुलसी-सतसई' में काव्य के पाँच अंग बताए गए हैं—अलंकार, रीति, गुण, दोष और विशद वर्णन। ये काव्य-सरोवर के पाँच कमल हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रस को विशेष महत्व दिया है।[3] डॉ. भगीरथ मिश्र ने शब्द अर्थ, अनुभूति, कल्पना और बुद्धि को काव्यतत्व के रूप में उपयोगी बताया है। उनके मत में शब्द सबसे अधिक बाह्य और स्थूल तत्व है। अर्थ और कल्पना क्रमशः सूक्ष्म हैं। वे अपने से भी सूक्ष्म अनुभूति और विचारतत्वों के द्योतक हैं। इन पाँचों में कल्पना अत्यधिक प्रेरक तत्व हैं, जिससे प्रेरित होकर विविध भाव उठते, उभरते और रूप ग्रहण करते हैं। काव्यगत कल्पना में अनुभूति और बुद्धि का भी संयोग होता है।[4] उन्होंने कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की अभिव्यक्ति को काव्य कहा है।[5]

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में तुलसी ने 'मानस' के निम्नलिखित अंशों में अपना अभिमत संकेतित किया हैं[6]—

1. **वर्णनाम् अर्थसंधानां रसानां छन्दसामपि।**
   मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ॥
2. **आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द-प्रबन्ध अनेक विधाना।**
   भाव-भेद रस-भेद अपारा। कवित-दोष-गुन विविध प्रकारा॥

इनमें काव्यतत्व के रूप में शब्द, अर्थ, अलंकार छन्द रस भाव, आदि को

1. **वाङ्मय विमर्श,—पृ.** 1-2.
2. **संस्कृत-आलोचना-- पृ.** 42-47.
3. **चिन्तामणि-- पृ.** 181.
4. **काव्य-मनीषा-- पृ.** 59-81.
5. **काव्यशास्त्र-- पृ.** 18-19.
6. **मानस-प्रथम श्लोक, मानस**—1.9.5

उपयोगी माना गया है। अतः तुलसी के अनुसार रसमयी, शब्दार्थमयी और मंगलकारिणी छन्दोबद्ध रचना काव्य है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य-लक्षण में छन्द और मंगल का नाम नहीं लिया था। तुलसी ने इन दोनों को महत्व दिया। वे मंगल-विधान को काव्य का अनिवार्य धर्म मानते हैं। सहृदयों को विषय-रस में निमग्न करने वाला काव्य तुलसी के मत में हेय काव्य है[1]—

1. **भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ। राम-नाम बिनु सोह न सोऊ॥**
   विधु-बदनी सब भांति संवारी। सोह न वसन बिना बर नारी॥
2. **राग-नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु विचारि त्यागि मद मोहा॥**
   बसन हीन नहि सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥

भगवद्भक्ति को ही तुलसी एक मात्र रस मानते हैं। शृंगार आदि उनकी दृष्टि में विषय रस हैं। उन्हें काव्य की आत्मा के रूप में भक्ति रस अथवा हरिपदरति-रस ही अभीष्ट है, जो मानव-जीवन का प्रमुख एवं अन्तिम उद्देश्य है और सबसे बड़ा सत्य है। तुलसी ने इस सर्वोच्च सत्य को अभिव्यक्ति दी है। आज का आलोचक यह मानता है कि रमणीयता के साथ-साथ कवि की वाणी में शिवत्व, अथवा लोक-कल्याण की भावना अपेक्षित है। यह तभी सम्भव है जब काव्य में सत्य का प्रतिपादन हो। राम-कथा के प्रसंग में अनेक बार 'मंगल' शब्द का प्रयोग करके तुलसी ने काव्य की आत्मा और उसके चरम उद्देश्य, दोनों का, स्पष्ट संकेत किया है।[2]

3.2.1 भक्ति रस का स्वरूप

प्राचीन आचार्य भरत के अनुसार रस वस्तुनिष्ठ या विषयनिष्ठ है। विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के साथ स्थायी भाव के संयोग से रस निष्पन्न होता है। अभिनव गुप्त तथा उनके अनुयायी रस को भाव कनिष्ठ या विषयिनिष्ठ मानते हैं। काव्य में निबद्ध विभावादि के भावन से सहृदय को जिस आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस अलौकिक चमत्कार रूप है, स्वयं में आनन्दमय है, 'ब्रह्मानन्दसहोदर' है। इस प्रकार, रस के स्वरूप के विषय में तीन प्रमुख धारणाएँ हैं—वस्तु-निष्ठ, विषयिनिष्ठ और अलौकिक चमत्कार रूप।[3]

तुलसी का रस सिद्धान्त मूलतः भक्ति रस से सम्बन्ध है। भक्ति के आचार्य कीर्तन आदि के द्वारा द्रुत भक्त चित्त की भगवदाकारता का तथा भक्तिपरक

---

1. **मानस**—1.10.2., 5.23.2.
2. **वही**—1.10.5—**राम-कथा जग मंगल करनी।**
   1.10—**छन्द—मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।**
3. **हिन्दी-वैष्णव साहित्य में रसपरिकल्पना**, पृ. 79-80.

विंभावादि का निरूपण करने वाले काव्य की भावना से आस्वाद आनन्द को भक्ति-रस मानते हैं। भक्ति-दशा भक्त की दृष्टि में रस-दशा है। वह भगवान् के स्मरण आदि से अथवा भक्ति-परक काव्य से उत्पन्न होती है। 'भक्ति-रसायन' में कहा गया है कि भक्त के मन में प्रतिविम्बित परमानन्द रूप भगवान् ही स्थायी भाव और रस बनते हैं। रस की अलौकिक चमत्कार-रूपता अथवा आनन्दवादी सिद्धांत भक्तिरस के सम्बंध में सबसे अधिक चरितार्थ है, क्योंकि भक्ति प्रत्येक स्थिति में आनन्दमय है।[1] उपनिषदों में रसों वै सः कहकर भगवान् को 'रस' बताया गया है।[2] उनकी प्राप्ति से ही सच्चे आनन्द की उपलब्धि होती है। तुलसी भी उपनिषदों के इस सिद्धांत के अनुयायी है। उनकी दृष्टि में भक्ति रूप काव्य-रा 'ब्रह्मानन्द सहोदर' न होकर ब्रह्मानन्द ही है।

संस्कृत के आचार्य अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि नौ रस मानते हैं। इन आचार्यों ने भक्ति को रस नहीं माना। 'किसी ने उसे रति का प्रकार विशेष माना किसी ने उसका शान्त रस में अन्तर्भाव किया और किसी ने हर्षोत्साह आदि में। कुछ ने उसे भाव-कोटि में रखा तो किसी ने अनुभाव कोटि में।[3] वैष्णव भक्ताचार्यों ने भक्ति को न केवल रस-कोटि में माना अपितु उसे रस-राज रूप में प्रतिष्ठित किया। इनके मत में शृंगार आदि लौकिक रसों में विषयावच्छिन्न चित्त का आनन्द आंशिक रूप में ही स्फूरित होता है। भक्ति-रस में अनवच्छिन्न चिदानन्द भगवान् का स्फुरण होता है। यह आनन्द असीम होता है। तुलसी के अनुसार इस भक्ति रस का आस्वाद मिल जाने पर सभी लौकिक रस तथा काव्य रस दोनों निस्वाद हो जाते हैं।[4] तुलसी दस रस मानते हैं। उन्होंने 'मानस' तथा 'विन्यपत्रिका' में नव रस तथा उनसे पृथक भक्ति रस का स्पष्ट उल्लेख किया है। तुलसी ने वात्सल्य रस का नाम सम्भवतः इसलिए नहीं लिया कि उनके समय तक इस रस की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकी थी। साथ ही सूर और तुलसी के साहित्य में अभिव्यक्त वात्सल्य प्रायः भक्ति-मिश्रित है। इसी कारण डॉ. उदयभानु सिंह ने वात्सल्य को 'वत्सल-भक्ति-रस' कहा है।[5] इस रूप में तुलसी के काव्य में ग्यारह रसों की अभिव्यक्ति हुई है।

3.2.2. भक्ति का रसत्व

वैष्णव आचार्यों ने मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय विवेचन द्वारा भक्ति रस को अन्य सभी काव्य रसों की अपेक्षा उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि

---

1. तुलसी-काव्य मीमांसा—पृ. 248. 49.
2. तैत्तिरीयोपनिषद 2.6.1.
3. तुलसी-काव्य मीमांसा—पृ. 249
4. विप० 169. 1.
5. तुलसी-काव्य-मीमांसा—पृ. 249.

से इन आचार्यों ने जिन ग्रन्थों की रचना की उनमें रूप गोस्वामी कृत 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' तथा उसके पूरक 'उज्ज्वलीलमणि' का महत्वपूर्ण स्थान है। नारायण भट्ट की "भक्ति-रस-तरंगिणी', बीपदेव कृत 'मुक्ताफल', जीव गोस्वामी कृत 'भागवत संदर्भ, मधुसूदन सरस्वती के 'भक्ति-रसायन' आदि में भी व्यक्ति के रसत्व-प्रतिपादन की दृष्टि से विद्वत्तापूर्ण विवेचन है।[1]

भक्ति के आचार्यों ने भक्ति के रसत्व का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति से किया है। भक्ति को वैष्णव आचार्यों ने अप्राकृत रस कहा है। उसके प्रतिपादन की दृष्टि से 'सत्व' नामक एक नये तत्व की कल्पना की है। यह तत्व, प्रकृति का विकारभूत सत्व गुण न होकर, परमेश्वर की स्वरूपभूता शक्ति अथवा विशुद्ध सत्व है। इसी शक्ति के द्वारा परमेश्वर और उसकी लीला में भाग लेने वाले सभी पार्षद साकार बनते हैं। इसी विशुद्ध सत्व की अनुभूति से सच्चे भक्तों के हृदय में भगवद् विषयक रति आविर्भूत होती है। इस कारण भक्ति रस का स्थायी भाव (भगवद्रति) न तो प्रकृति के किसी विकार से संबद्ध है, न चित्त के किसी धर्म से। वह अप्राकृत है। उसका परिपाक भक्ति रस भी अप्राकृत है। परमेश्वर के अतिरिक्त भक्ति ही पारमार्थिक रस है। उसकी अपेक्षा काव्य रस प्राकृत एवं हीन रस है। भक्ति रस के आस्वादन के लिए यह आवश्यक है कि भक्त में भगवद् विषयक रति-रूप स्थायी भाव सुस्थिर हो और वह निरन्तर सुसंस्कृत होता रहे। इस भगवद् रति की स्थिति जन सामान्य में न होकर उदात्त चित्तवृत्ति वाले कुछ सीमित व्यक्तियों में होती है। अतः काव्य-शास्त्र में सहृदय सामान्य के लिए स्थायी भाव के रूप में इनका स्वीकार किया जाना कठिन है। इस कारण काव्य रसिक सहृदय के लिए वह भाव-मात्र ही है, भले ही भक्त सहृदय के लिए वह परमार्थ अथवा अध्यात्म रस हो।

हिन्दी के वैष्णव साहित्य ने भक्ति-परक अनेक काव्य की रचना द्वारा काव्यशास्त्र को इसके लिए बाध्य किया कि वह भक्ति को रस-रूप में स्वीकार करे। विक्रम की तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक राम-कृष्ण के लीला-गान के रूप में भक्ति की प्रबल धारा बही, जिससे आज भी इस देश का वातावरण पूर्णतः प्रभावित है। विशुद्ध रस-कोटि की भक्ति का अनुभव जन-सामान्य की अनुभूति का विषय भले ही न हो, पर इस साहित्य में जन-सामान्य को सुसंस्कृत करने की वह शक्ति विद्यमान है, जिससे वे भगवद्रति का अनुभव करके आनन्द-मग्न हो सकें। भक्ति के सामान्य संस्कारों से जन-मानस सदा युक्त रहा करता है।

हिन्दी के भक्ति-साहित्य में उच्च कोटि के ऐसे अनेक काव्य हैं, जिसमें काव्य सुलभ रसिकता और भक्ति से ओत-प्रोत आत्माभिव्यंजन दोनों हैं। जब एक सफल कवि काव्य के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तब भगवद् रति के सामान्य

1. तुलसी-दर्शन-मीमांसा—368.

संस्कार वाले पाठक भी उस काव्य से रसात्मक अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं। हिन्दी के वैष्णव-भक्त कवियों के काव्य में उदात्त कवित्व, गहरी आत्मानुभूति और उसकी सफल अभिव्यक्ति ये तीनों विशेषताएँ हैं। इनमें भक्ति के रसास्वादन के लिए पूरा अवकाश है, भले ही यह भक्ति-रस भक्ति निरूपति भक्ति-रस न होकर काव्य क्षेत्रीय भक्तिरस हो। इस प्रकार भक्ति को काव्य रस मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखायी देती।[1]

3.2.2.1 भक्ति : रस-राज

भरत और अभिनव गुप्त के अनुसार शान्त रस प्रकृति है, अन्य रस तथा भाव उसके विकार है। अग्निपुराणकार तथा भोज ने शृंगार को सभी रसों तथा भावों का मूल माना है और भवभूति ने करुण रस को। कर्णपूर ने प्रेमरस में सभी रसों को अन्तर्भूत कर दिया है। विश्वनाथ अद्‌भुत रस को सबका मूल मानते हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्रियो ने शृंगार को रस राज कहा है। प्राकृत-कवि केशव भी शृंगार को सभी रसों का नायक मानते है। परन्तु भक्ति के आचार्यो के अनुसार एक मात्र भक्तिरस ही पूर्ण रस है।[2]

यादि सर्वजनानुभूति रस को ही रस माना जाय तो शृंगार का रसत्व भी खण्डित हो जायेगा, क्योंकि शृंगारिक रचनाओं से तत्वज्ञानियों और भक्तों के मन में घृणा और विरक्ति उत्पन्न होती है। तुलसी ने इसी दृष्टि से शृंगार को विषय-रस कहकर हेय बताया है—

'संबुक भक सेवार सामान। इहां न विषय-कथा रस नाना।[3]

3.2.2.2 भक्ति रस तथा शान्त रस

अभिनय गुप्त के अनुसार भक्ति शान्त रस का अंग है, पृथक रस नहीं। परन्तु इन दोनों में तात्विक भेद है। शान्त रस का स्थायी भाव है तत्वज्ञान, अथवा आत्मज्ञान-रूप शम। भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद् विषयक रति है। शम निवृत्तिमूलक है, भक्ति प्रवृत्तिमूलक। शान्त रस का आलम्बन संसार की असारता और परमात्मा का चिन्तन है। भक्ति का आलम्बन भगवान् और उनके भक्त हैं। इस कारण भक्ति को शान्त रस का अंग नहीं माना जा सकता। तुलसी के काव्य में भक्ति रस का प्रधान रूप से निबन्धन हुआ है तथा शान्त रस का उसके पोषक के रूप में।

---

1. **हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रस परिकल्पना—पृ.** 207-10.
2. **तुलसी-दर्शन-मीमांसा पृ.** 377-409 **तथा तुलसी काव्य मीमांसा—पृ.** 247-50.
3. **मानस**—1.38.2.

3.2.2.3 भक्ति रस के स्थायी भाव आदि: स्थायी भाव

भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद् रति है। यह दाम्पत्य रति से भिन्न है। भगवान् के नाम श्रवण आदि से उत्पन्न एवं संपुष्ट भगवद्रति भी भक्ति रस है और काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से काव्य में निबद्ध विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त सुखात्मक भगवद् रति भी भक्ति रस है।

आलम्बन विभाव

भक्ति के आलम्बन भगवान् और उसके भक्त है। तुलसी की भक्ति के मुख्य आलम्बन भगवान राम हैं। उनसे भिन्न अवतारों का वर्णन भी तुलसी ने किया है, पर इनका मन राम में अधिक रमा है। सीता राम की अभिन्न शक्ति हैं। अतः वे भी राम के समान ही आलम्बन हैं। तुलसी-भक्ति के आलम्बन के दूसरे वर्ग में कृष्ण आदि अवतार और शंकर आदि देवता हैं। तीसरा वर्ग राम-भक्तों का है जिनमें हनुमान प्रमुख हैं। 'विनयपत्रिका' एवं कीर्तनों में आलम्बन के इस विविध रूप की स्थिति स्पष्ट है। कवि ने, गणेश, शंकर दोनों आदि की स्तुति करके तथा विन्दुमाधव, नरनारायण आदि का सौन्दर्यवर्णन करते हुए भी, एक मात्र-राम-भक्ति की याचना और कामना की है। यद्यपि राम, कृष्ण, विष्णु इन तीनों को वे अभिन्न मानते हैं, तथापि कहीं भी वे राम से इतर रूप की भक्ति की कामना नहीं करते।

उद्दीपन विभाव

भक्ति रस के उद्दीपन विभाव दो प्रकार के हैं—आलम्बनगत और आलम्बन-बाह्य। पहले के तीन वर्ग हैं गुण, चेष्टा और प्रसाधन। गुण आलम्बन के स्वरूप के अन्तर्गत ही रहते हैं। पर जब उनका चित्र उद्दीपक रूप में किया जाता है तब वे उद्दीपन विभाव होते हैं। जैसे—राम का सस्मित मुख-मण्डल करुणार्द्र नयन। राम की विविध चेष्टाएँ, बालक्रीड़ा, भक्त-रक्षण, इत्यादि आलम्बनगत चेष्टाएँ हैं। आलम्बनगत प्रसाधन में भगदान के वस्त्र, आभूषण अंगों के चिह्न आदि समाविष्ट हैं। आलम्बनबाह्य उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत पर्वत, नदी तट मन्दिर आदि पवित्र स्थान, सन्तों का संग भगवान् की मूर्ति इत्यादि हैं।

अनुभाव

भक्त में भगवद् रति रूप स्थायी भाव का संकेत करने वाले विकार अनुभाव है। ये विकार अनन्त हैं। अतः अनुभाव भी अनन्त हैं। 'मानस' और 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने अनेक अनुभावों का वर्णन किया है, जिनमें नृत्य, स्तम्भ रोमांच अश्रु मूर्छा आदि प्रमुख हैं।

संचारीभाव

काव्यशास्त्र में तैंतीस संचारीभाव माने गए हैं। भक्ति रस के आचार्यों ने भी उन्हें स्वीकार किया है। मर्यादावादी तुलसी के साहित्य में भक्ति रस की

अभिव्यक्ति करने वाले संचारी भाव में निर्वेद और दैन्य प्रधान हैं। शंका, चिन्ता आवेग इत्यादि के संयोग से भी भक्ति रस की व्यंजना अनेक स्थलों पर हुई है।

3.2.2.4 भक्ति रस के भेद[1]

रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी ने भक्ति रस के पाँच मुख्य और सात गौण भेद माने हैं। मुख्य में शान्त प्रीत, प्रेयान, वत्सल और मधुर हैं। गौण में हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस का समावेश है। पाँच मुख्य भेदों के आधार पर भक्ति के क्रमशः शान्त भक्ति, सख्य भक्ति, प्रेयान (दास्य) भक्ति वत्सल तथा मधुर भक्ति नाम रखे गए हैं।

भक्ति रस के शुद्धत्व अथवा केवलत्व और इतर रसों के साथ मिश्रण के आधार पर इन्हें क्रमशः शुद्ध रस तथा मिश्रित भक्ति रस भी कहा गया है। तुलसी साहित्य में दोनों प्रकार का भक्ति रस है। शुद्ध भक्ति रस वहाँ है जहाँ स्थायी भाव के रूप में केवल भगवद्‌रति की व्यंजना है तथा मिश्रित भक्ति रस वहाँ है जहाँ भगवद्‌रति के साथ कामरति, हास शोक आदि भावों का सांकर्य है। 'विनयपत्रिका' में अधिकतर शुद्ध भक्ति रस की अभिव्यंजना है।

3.3. तुलसी का भक्ति रस

हमारे देश में काव्य की आत्मा रस माना गया है। यहाँ तक कि रसहीन वाक्य काव्य की अभिधा का अधिकारी नहीं हो सकता। चार एषणाओं में मोक्षैषणा सर्वोपरि एषणा है। जिस प्रकार सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य आदि मोक्ष के भेदों द्वारा ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है उसी प्रकार काव्य के द्वारा मनुष्य जागतिक नागदंशन से क्षणभर मोक्ष पाकर परमानंद की प्राप्ति करता है। सचमुच रस तो परमात्मा स्वरूप ही है जिसको उपलब्ध कर परमानंद की प्राप्ति होती है। इसलिए सिद्ध कवियों की रचनाओं में रस का अक्षय अमियस्रोत बहता रहता है।

महाकवि तुलसीदास का समग्र साहित्य रसमय है। उनका रामचरितमानस नौ रसों से पूर्ण है। इनके गीतिकाव्य में नौ रस मिल जाते हैं किन्तु विनयपत्रिका तो भक्ति रस का काव्य है। अत्याधुनिक विद्वान भी भक्ति को पृथक् रस नहीं मानते। पहले हम रस के क्रमशः विस्तार, पुनः भक्ति और वात्सल्य के रसत्व पर विचार करेंगे और तब विभिन्न रसों का सांगोपाँग विवेचन करेंगे।

साहित्य के प्रथम आचार्य भरत के प्रधानतः आठ रस माने हैं।[2] शृंगार, हास्य,

---

1. तुलसी-दर्शन-मीमांसा—पृ. 394-95 तथा हिन्दी वैष्णव साहित्य में रसपरिकल्पना, पृ. 214-15.

2. शृंगार हास्यकरुण रौद्र वीर भयानकाः
वीभत्साद्‌भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्येरसाः स्मृताः 6,16 निर्णय सागर प्रेम बम्बई।

करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत। उद्भट ने उनमें एक रस शान्त जोड़ दिया।[1] रुद्रट ने नौ रसों में प्रेयान् नामक एक रस और जोड़ दिया।[2] भोज ने इनमें दो रसों की और वृद्धि की[3]—उदात्त और अद्भुत। उन्होंने उदात्त का मति और अद्भुत का गर्व स्थायी भाव स्थिर किये। पं० विश्वनाथ ने वात्सल्य नामक एक और नये 'रस' का उल्लेख किया। लेकिन इन आचार्यों ने भक्ति रस की चर्चा नहीं की। आचार्य मम्मट ने उक्त नव रसों का ही विवेचन किया तथा भक्ति को देवादि विषयक रति ही मान लिया। देवादि विषय रति से रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती—भावध्वनि की सृष्टि होती है।[4]

साहित्य दर्पणकार ने भी भक्ति को मान्यता नहीं दी, भले मुनीन्द्र सम्मत वात्सल्य रस का उल्लेख किया है।[5] उसमें वात्सल्य स्नेह स्थायी होता है। पुत्रादि इसका आलम्बन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर चूमना, देखना रोमांच आनन्दाश्रु आदि इनके अनुभाव होते हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी होते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ भी भरतमुनि एवं मम्मटाचार्य द्वारा रचित लक्ष्मणवृत से आगे नहीं बढ़ सके—जब भगवद्भक्त लोग भागवत आदि, पुराणों का श्रवण करते हैं, उस समय वे जिस 'भक्तिरस' का अनुभव करते हैं, उसे आप किसी तरह छिपा नहीं सकते। उस रस के भगवान् आलम्बन हैं, भागवतश्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमांच, अश्रुपात आदि अनुभाव है और हर्षादि संचारी भाव है तथा इसका स्थायी भाव है भगवान् से प्रेमरूप भक्ति। इसका शान्त रस में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुराग वैराग्य से विरुद्ध है और शान्त रस का स्थायी भाव है वैराग्य।[6]

किन्तु भक्ति और वात्सल्य को रस नहीं मानना ठीक नहीं है। मम्मट ने रस की परिभाषा बनाई है—उसमें कहा है कि भक्ति और वात्सल्य को रस मानने में

---

1. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीर्भयानका:
   वीभत्साद्भुतशांताश्च नव नाट्ये रसाः समृताः 4,4 उद्भट (काव्यालंकार सारसंग्रह)
2. रुद्रद्र (काव्यलंकार)
3. शृंगारवीरकरुणरौद्राद्‌ 'भुतभयानकः। वीभत्सहास्य प्रेयासः शांतदांतोद्‌यता रसाः 5,164 भोज (सरस्वतीकंठाभरण)
4. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तभाज्जितः 48, पृ. 94.
5. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसंविदुः स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनः मतम् उद्दीयनादि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः, पृ.123.
6. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः
   भावः प्रोक्तस्दाभासा ह्मनोचित्यप्रवर्तिताः।
   रसगंगाधरः पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, पृ. 110, भाग—1

किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उनका कहना है—"पानक रसन्यायेन छर्यमानः पुर इव परिस्फुटन् हृदयभिव प्रविशन् सर्वांगिण मिवालिंगन् अन्यत्सर्वमिव तिरोद्धद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिचमत्कारों शृंगारादिको रस" पृष्ठ 77 (चतुर्थ उल्लास काव्यप्रकाश)।

अर्थात—

1. पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है।
2. हृदय में प्रवेश करते ही स्पष्ट झलक जाते हैं।
3. व्याप्त होकर सर्वांग को सुधारस सिंचित बनाते हैं।
4. अन्य वेद्यविषयों को ढेंक लेते हैं।
5. ब्रह्मानंद के समान अद्भुत होते हैं।
6. वे ही अलौकिक चमत्कार सम्पन्न शृंगारादि रस कहलाते हैं।

इस कसौटी पर अगर भक्ति रस को कसने की चेष्टा करें तो कोई कारण नहीं कि भक्ति रस नहीं है। भक्ति-रस का विस्तृत विवेचन रूपगोस्वामी ने श्रीहरि भक्तिरसामृतसिन्धु में किया है—

सामग्री परिपोषेण परमा रसरूपता
विभावैरनुभावैश्च सात्विकै व्यर्भिचारिभिः
स्वाध्वत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्।
प्राक्तनाधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना
एष भक्तिरसास्वाद स्तस्यैव हृदि जायते॥
भक्तिनिर्धूते दोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासंगर्गिणाम्
जीवनी भूतगोबिन्द पादभक्तिसुखश्रियाम्
प्रेमान्तरंगभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम्
भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला
रतिरानन्द रूपैव नीयं माना तु रस्यताम्।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनु भवाध्वनि
प्रौढानंदचमत्कार काष्ठामापद्यते पराम्॥[1]

अर्थात् विभाव, अनुभावादि की परिपुष्टि से भक्ति परमरस रूपा हो जाती है। विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से भक्तों के हृदय में

---

1. **श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु-दक्षिणाविभागे। लहरी, पृ. 120, 121.**

स्वाध्यत्व को प्राप्त कराई गयी है जो कृष्णरति रूप स्थायीभाव है, वह भक्ति में परिणत होता है, जिसके हृदय में प्राचीन (पूर्वजन्म) की अथवा तात्कालिक (इस जन्म की) सद्भक्ति की वासना या संस्कार है, भक्ति रस का आस्वाद्र उन्हीं के हृदय में होता है जिनके पाप-दोष भक्ति से दूर हो गये हैं जिनका चित्त प्रसन्न और उज्ज्वल है जो भागवत में रत हैं, जो रसिकों के सत्संग में रंगे हैं, जो जीवनीभूत गोबिन्द के चरणों की भक्ति को ही अपनी सुख श्री मानते हैं और जो प्रेम के अन्तरंग कृत्यों को करने वाले भक्त हैं, उनके हृदय में जो आनन्द रूपा रति स्थित होती है, वही दोनों प्रकार के संस्कार से उज्ज्वल बनी रति रस रूपता को प्राप्त होती है। यही रति अनुभूत कृष्णादि विभावादि के संसर्ग से उक्त भक्तों के हृदय में प्रौढ़नन्द और चमत्कार की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

इसी तथ्य की पुष्टि आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार की है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथार्जितः
भावः प्राक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदेः
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात्
तद्योव्यम्परमानन्द रूपे न परमात्मनि
कान्तादिविषया वा ये रत्याद्यास्तत्रनेहशम्
रसत्वम्पुष्यते पूर्ण सुखा रूपर्शित्व कारणात्॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभेव बलवत्तरा॥

—द्वितीय उल्लास 76-79, पृ.160-161.

अन्य रसों के समान विभावादि से युक्त होकर भक्ति चित्रफलक के सदृश मनोरंजक बनकर रसत्व को प्राप्त होती है। रस-कोविदों ने देवादिविषयक रति को भाव बतलाया है, रस नहीं, किन्तु इस विचार को अन्य देवताओं तक ही परिमित समझना चाहिए। क्योंकि उन लोगों की रति अलौकिक आनन्ददायिनी नहीं होती। परमानन्द स्वरूप परमात्मा की भक्ति के विषय में यह बात कही जा नहीं सकती। कान्तादि विषयक रसों में रसत्व का पोषण यथेष्ट नहीं होता, क्योंकि पूर्ण सुख स्पर्श नहीं करते। प्राकृत शुद्ध रसों से परिपूर्ण भगवद् भक्ति वैसी ही बलवती है जैसे खद्योतों में आदित्य की प्रभा।

इन सारे उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भक्ति एक स्वतंत्र रस है और उसको नहीं मानने के पीछे न कोई तर्क है न तुक।

भक्ति रस ही मुख्य रस

महाकवि तुलसी का समग्र साहित्य भक्ति रस से ओत-प्रोत है। जहाँ वे प्रबन्ध काव्य लिखते हैं, वहीं उनका एकवचन उतना मुखरित नहीं होता जितना उनके

गीति-ग्रन्थों में। उनकी विनयपत्रिका तो भक्ति रस का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। उसमें आद्यन्त मुख्यता एक ही रस है और वह है भक्तिरस। विनयपत्रिका के रस पर विचार करते हुए विद्वानों ने इसमें एकमात्र रस शान्त माना है। उनका कहना है कि 'विनयपत्रिका' में केवल एक ही रस है और वह है शान्त। विनयपत्रिका वास्तव में शान्त रस का ही ग्रन्थ है। शान्तरस की जैसी धारा विनयपत्रिका में बही है वैसी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं।[2] लेकिन इनकी दृष्टि में रस का परम्परित संस्कार ही है। एकाध उदाहरण लेकर देखें कि भक्ति का कैसा परिपाक हुआ है—

ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति देत गीध सबरी कहं प्रभु न बहंत जिय जानी।
जो संपति दससीस अरपि करि राउन सिव पहँ लीन्हीं।
जो संपदा विभीषणकहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं।
तुलसीदास सब भान्ति सकल सुख जो चाहिसो मन मेरो।
तौ भजु राम काम सब पूरन करें कृपानिधि तेरो।

पद सं. 162.

उक्त पद में स्वयं भगवान् आलम्बन हैं। भक्त आश्रय। उनकी सहज अनुकम्पा, सदारायता अतीव दयालुता आदि उद्दीपन हैं।

यद्यपि अनुभाव एवं संचारी स्पष्ट रूप में नहीं कहे गये हैं तथापि हर्ष आदि संचारी एवं पुलक आदि अभावों का इसमें अध्याहर करना सहज है। इस प्रकार यह पद भक्ति रस परिपूर्ण है।

इन गीति ग्रंथों में दूसरा प्रधान रस वात्सल्य है। साहित्य दर्पणकार ने वात्सल्य रस का उल्लेख किया है, लेकिन फिर भी इस रस को मान्यता नहीं मिल पाई है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने नाटक नामक ग्रंथ में 'वात्सल्य' को रस माना है। हरिऔध जी ने पुष्ट तर्कों के आधार पर 'वात्सल्य' को स्वतंत्र रस मानने का आग्रह प्रदर्शित किया है।[1]

श्रीकृष्ण गीतावली के आरम्भिक 17 पद तथा गीतावली के बाल-कांड के आरम्भिक 44 पद वात्सल्य रस के अन्तर्गत उपस्थित किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण गीतावली का पहला पद लीजिए—

माता लैं उछंग गोबिन्द मुख बार-बार निरखै।
पुलकित तनु आनन्द घन छन-छन मन हरषै॥

---

1. **वात्सल्य रस : श्रीअयोध्यासिंह उपाध्याय**

पूछत तोतरात बात मातहि जदुराई।
अतिसय सुख जाते तोहिं मोहिं कहु समुझाई॥
देखत तव बदन-कमल मन अनन्द होई।
कहै कौन रसन मौन जानै कोई कोई॥
सुन्दर मुख मोही देखाउ, इच्छा अति मोरे।
मम समान पुन्य पुँज बालक नहीं तोरे॥
तुलसी प्रभु प्रेमबिस्थ मनुज-रूप धारी।
बालकेलि लीलारस ब्रजजन-हितकारी॥

श्रृंगार रस की कविताएँ भी गीतावली और कृष्णगीतावली में पर्याप्त मात्रा में है। सम्भोग श्रृंगार के लिए सीता स्वयंवर, विवाह-वर्णन, राम की पंचवटी यात्रा, नख-शिख-वर्णन, हिंडोला वर्णन आदि स्थल उपस्थित किये जा सकते हैं। कानन में भगवान राम और सीता निवास कर रहे हैं। उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित-लता-जाल हरति, छबि बिताने की।
मंदाकिनि तटिनि तीरा, मंजुल सामगान की।
धीर मुनिगिरा गम्भीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुन्दर गिरि निर्झर झर।
जलकल घन छांह, छन प्रभा न भाव की,
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध बाउ
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबान की।
बिरचित तहँ पर्नसाल, अति विचित्र लषन लाल
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी
निजकर, राजीवनयन पल्लव-दल रचित-नयन।
प्यास परसपर पियूष प्रेम-पान की।
—सिय अंग लिखै धातुराग, सुमननि भूषण-विभाग।
तिलक करनि का कहौ कलानिधान की।
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की।[1]

---

1. गीतावली 2, 44

विप्रलम्भ शृंगार के लिए गीतावली के सुन्दरकांड के कुछ स्थल बड़े मार्मिक हैं। हनुमान के अशोक वाटिका पहुँचने पर सीताजी अपने वियोगकातर हृदय को उनके समक्ष खोलकर रख देती हैं। उनके चलते समय तो उनका अन्तस्तल और विगलित हो उठता है—

कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो।
कहन चह्यो संदेस नहि कह्यो, पियके जियकी जानी, हृदय दुसह दुख दुरायो।
देखि दसा व्याकुल हरीस ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनी तरनि-तायो।
मोच में तें नीच लगीं अमरता, छल को न बल को निरखि थल परुश प्रेमपायो।
कै प्रबोध मातु प्रीति सो असीस दीन्हीं ह्वै है तिहारोई मन भायो।
करुना कोप लाज भय भरो कियो गौन, मोन ही चरन कमल सीस नायो।
यह सनेह सरबस समौ तुलसी रसना रखी ताहीं तै परत गायो।[1]

इसके अतिरिक्त इसी काँड के 10 वें 20वें, 21वें पद इसके उदाहरण रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। श्रीकृष्ण गीतावली के कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की जो दशा हुई है तथा उद्धव से वार्तालाप के क्रम में जिसकी व्यंजना हुई है वे विप्रलम्भ शृंगार के लिए बड़े उपयुक्त स्रोत हैं। 24वें से 59 वें पद 26वें पदों में वियोग शृंगार देखा जा सकता है।

करुण रस की निष्पति राम वियोग के पश्चात् महाराज दशरथ और कौशल्या के कथनों में होती है। यहाँ बन्धु विनाश के कारण नहीं वरन बन्धु वियोग के कारण रस आप्यायित हो उठा है। महाराज दशरथ की उक्ति उस समय की है जब भगवान जंगल जा रहे हैं—

मोको बिधुबदन बिलोकन दीजै।
राम-लषन मेरी यहै भेंट, बलि जाउँ जहाँ मोहि मिलि लीजै।
सुनि पितु-वचन चरन गहे रघुपति, भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुँ अवनि बिदरत दरार मिस सो अवस-सुधि कीन्हें।
पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु, मुरछित भयो भूप न जाग्यो।
करम-चोर नृप-पथिक मारि मानो राम-रतन लै भाग्यो।
तुलसी रविकुल-रवि-चढ़ि चले तकि दिसि दखिन सुहाई।
लोग नलिन गए मलिन अवधसर, बिरह विषम-हिम पाई।

---

1. **गीतावली सुन्दरकांड** 15.

ये गीतिकाव्य भक्तिपूरित हृदय के उद्‌गार हैं। इसलिए यदा-कदा भगवान की अनुकम्पा दानशीलता तथा रण-कौशल प्रदर्शन में वीररस का परिपाक ठिकाने से हुआ है। लक्ष्मण-मूर्च्छा के पश्चात हनुमान का वीररस मूर्त हो उठा—

जौ हौं अनुसासन पावौं।
तौ चन्द्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं।
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत-कुँड मही लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं।
विबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौ मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं।
तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु विलम्ब न लावौं।
दीजै सोइ आसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हारे मन भावौं।[1]

काव्यशास्त्रियों ने वीर रस के चार भेद किये हैं—1. दानवीर, 2. धर्मवीर, 3. युद्धवीर, 4. दयावीर।

इन सब भेदों का स्थायी भाव तो उत्साह ही है फिर आलम्बन उद्दीपन अनुभाव और संचारी पृथक्-पृथक् होते हैं।[2] इन चारों के उदाहरण गीतावली में उपलब्ध हैं। युद्धवीर का उदाहरण ऊपर दिया गया है। अन्य के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

दानवीर

मेरे जान तात कुछ दिन जीजै।
देखियत आपु सुबन-सेवासुख मोहि पितु को सुख दीजै॥
दिव्य देह इच्छा-जीवन जग विधि मनाई माँगि लीजै।
हरि हर सुजस सुनाइ, दरस दै लोग कृजार्थ कीजै॥
देखि बदन सुनि वचन अमिय, तन रामनयन जल भीजै।
बोल्यो बिहग बिहँसि रघुवर बलि कहौं सुभाय पतीजै॥

दानवीर

सब भान्ति विभीषण की बनी।
कियो कृपालु सभय कालहु तें गइ संसृति सांसति घनी।
सखा लषन हनुमान संभु गुरु धनी राम कोसलधनी।

---

1. **गीतावली-लंकाकांड** 8 **अन्य उदाहरण-हनुमान रावण-संवाद, गी. सुन्दर. पद** 12, 14, **जटायु-रावण युद्ध, गी. अ. पद** 8
2. **काव्यकल्पद्रुम, रसमंजरी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ** 215

हिय ही और और कीन्हीं-विधि, रामकृपा औरै ठनी।
कलुष कलंक कलेस-कोस भयो जो पद पाय रावन रनी।
सोई पद पाय विभीषण भी भव-भूषण बलि दूषण-अनी॥
बाँह पगार उदार-सिरोमनि नत-पालक पावन पन।
सुमन बरिष रघुवर-गुन बरनत हरषि देव दुदुंभी हनी॥
रंक-निवाज रंक राजा किए, गए गरब गरि-गरि गनी।
राम-प्रनाम महा महिमा-खनि सकल सुमंगलमनि जनी।
होय भलो ऐसे ही अजहुँ गए राम-सरन परिहरि मनी।
भुजा उछाइ साखि संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी॥[1]

धर्मवीर

एक तीर तकी हतौ ताड़का, विद्या विप्र पढ़ाई।
राख्यो जज्ञ जीते रजनीचर, भइ जग बिदित बड़ाई।[2]

अन्य रसों का वर्णन कम ही है। फिर भी हास्य, शान्त तथा अद्भुत रसों के कतिपय उदाहरण प्राप्त हो ही जाते हैं।

हास्य

बावरो रावरो नाह भवानी
दानि बड़ो दिन, देत दए बिनु वेद-लड़ाई भानो॥
निज घर की घरवात विलोकहु हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत श्रीसारदा सिहानी।
जिनके भाल लिखों लिपि मेरी तु सुख की नाहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी॥
दुख दीनता दुखी इसके दुख जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिए औरहिं भीख भली न जानी॥
प्रेम-प्रसंसा विनय व्यंग्य-जुत सुनि विधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेस, मनहिं मन जगतमातु मुसुकानी।[3]

शान्त

मन पछितैही अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाय हरिपद भजु करम वचन अरु ही ते।

1. गीतावली सुन्दरकाण्ड 39.
2. वही, बालकाण्ड, 7 (50)
3. विनयपत्रिका—5.

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे अंत चले उठि रीते।
सुत बनितादि जानि स्वरथ-रत न करु नेह सबही ते॥
अंतहुँ तोहि तजेंगे, पामर। तू न तजै अबहिं तें॥
अब नाथहि अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तें॥
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ विषय-भोग बहु घी ते।[1]

रौद्र

जो हों प्रभु-आयसु लै चलतो।
तौ यहि रिस तोंहि सहित दसानन जातुधान दल दलतो॥
राबन सो रसराज सुझट-रस सहित लंक खल खलतो।
करि पुटपाक नाक-नायकहित घने-घने घर घलतो॥
बड़े समाज लाज-भाजन भयो, बला काज बिनु छल तो।
लंकनाथ! रघुनाथ बैर-तरु आजु फैलि फूली फलतो॥
कालकरम दिगपाल सकल जग जाल जासु करतल तो।
तो रिपु सों पर भूमि रारि रन जीवन मरन सुथल तो।
देखो मैं दसकंठ-सभा मोंते कोउ न सबल तो।
तुलसी आरि उर आनि एक अब एती गलानि न गलती।[2]

भयानक

ब्रज पर घन घमंड करि आए।
अति अपमान बिचारि आपनी कोपि सुरेस पठाए॥
दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिनि, भयो तम गगन गंभीर।
गरजत घोर बारिधर धावत प्रेरित प्रबल समीर।
बार-बार पविपात, उपल घन बरसत बूँद बिसाल।
सीत-सभीत पुकारत आरत गो गोसुत गोपी ग्वाल।
राखहु राम कान्ह महि अवसर दुसह दसा भइ आइ।
नंद विरोध कियो सुरपति सों सो तुम्हारे बल पाइ।
सुनि हँसि उठ्यो नन्द को नाहरू, लियो कर कुधर उठाइ।
तुलसिदास मघवा अपने सो करि गयो गबे गँवाइ।[3]

---

1. विनयपत्रिका—198.
2. गीतावली, सुन्दरकाण्ड—13.
3. श्रीकृष्णगीतावली—18.

अद्भुत

कौतुक ही कपि कुधी लियो है।
चल्यो नभ नाइ माथ रघुनाथहि, सरिस न बंग बियो है॥
देख्यो जात जानि निसिचर बिनु फर सर हयो हियो है।
पर्‌यो कही राम पवन राख्यो गिरि पुर तेहि तेज पियो है॥
जाइ भरत भरि अंक भेटि निज जीवन-दान दियो है।
दुख लघु लषन मरम घायल सुनि सुख बड़ी कीस जियो है॥
आयसु इतहि स्वामि-संकट उत परत न कछु कियो है।
तुलसीदास बिहर्‌यो अकास सौ कैसेक जात-सियो है॥[1]

3.4 त्यागराज का भक्ति रस

'मन्मना-भव मद्‌भक्तो मध्या जी मां नमस्कुरु,
मामे वैव्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियो सिमे'॥

जीवात्मा परमात्मा का ही विशेष स्वरूप है। अर्थात आश्रय आलम्बन का ही अंश है। वह शेषी है—यही भाव लेकर ईश्वर के प्रति दास्य, प्रपत्ति आदि अनुभावों द्वारा भगवान् के अनुग्रह का पात्र बन जाता है। अर्चन, नामजप, कीतर्नन आदि भक्ति के अनेक मार्गों द्वारा अप्राकृत नित्य विभूति को प्राप्त कर परमात्मा की दिव्य अनुभूति में निमीलित नेत्रों से भक्ति में मग्न होकर, स्वरूप में लीन होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है। भक्ति का चरम लक्ष्य यही है।

त्यागराज के भक्ति रस सम्बन्धी अनेक कीर्तनों में उपर्युक्त अनुभाव संचारीभाव, उद्दीपन अदि अनायास ही वर्णित है। उस समय त्यागराज ने यह सोच समझकर कि 'भक्ति को रसत्व प्रदान करता है' इन अनुभाव आदि को अपने कीर्तनों में स्थान नहीं दिया होगा। यही भक्तों की विशेषता है। भक्ति परवशता में आराध्य का ध्यान—उसकी आराधना—उसकी सेवा-सुश्रुषा त्यागराज के सभी कीर्तनों में भगवान् के स्वरूप, गुणगणों की प्रशंसा, आत्म स्वरूप आदि का वर्णन उद्दीपन बनकर भक्ति के मनोगत भक्ति-शक्ति को उद्दीप कर रस रूप में प्रवाहित होने में सहायक होता है। धर्म सम्बन्धी अनावश्यक चर्चा तीर्थाटन आदि बाह्याडम्बरों का बहिष्कार, देवी-देवताओं में विभेद मानना, इस विभेद सम्बन्धी वाद-विवाद, दर्शन-संबंधी आडम्बरपूर्ण चर्चा आदि के प्रति इनकी कोई रुचि न होना भी एक प्रकार से भक्ति रस के उद्दीपन हैं। भक्ति के अनुभावों के रूप में कैंकर्श आदि भक्ति के जो अनुकूल आचरणों को प्रधानता देकर आजीवन भक्ति को रस रूप में प्रवाहित किया।

---

1. **काव्यंदर्पण-पं. रामदहिन मिश्र- पृ.** 228.

भक्ति एक राजमार्ग है। उस पर चलकर कोई भी भक्त अपने लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य कर लेता है। अन्य मार्ग उन गली-वीथियों के समान है जिस पर चलकर मानव अपना मार्ग खो बैठता है। अपने लक्ष्य से दूर हो जाता है। उलझ-उलझ कर सारा जीवन भटकता रहता है।[1] त्यागराज का अटल विश्वास है कि साकेत राम ने उनके हृदय में ही घर कर लिया है। वे तन-मन में समाहित हैं। इस आत्म विश्वास से उत्पन्न दिव्यानन्द से संसार में यह प्रसार कर दिव्यानन्द का अनुभव करता है कि 'अत्यंत सुंदर रूप धारण किया हुआ साकेत राम की भक्ति नामक राजमार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करो! इसका आस्वादन पूर्व जन्म का सुकृत फल है। प्रत्येक वैष्णव भक्त यही विश्वास करता है। नवधा भक्ति रूपी अनुभावों द्वारा ईश्वर का अर्चन कर परवश होकर आनन्दाश्रु के द्वारा अपने मन की इस भक्ति रस धारा को प्रवाहित कर तल्लीन मनस्क भक्त, पुलकित गात-भक्त इस रस में अपने आपको पूरी तरह से मग्न कर मुमुक्षु बन जाता है। त्यागराज के प्रसिद्ध कीर्तन जिसमें आलम्बन श्रीराम की सेवा में उनकी दोनों ओर खड़े होने मात्र से अत्यंत शोभायमान लगने वाले गौरांग लक्ष्मण (दक्षिणांग पर) सुदति सीतम्मा (वामांग पर) का वर्णन है। इस कीर्तन में वंदन, कीर्तन, आत्मसमर्पण आदि अनुभाव, परवशता जैसी संचारियों का उल्लेख है।[2] इस कीर्तन की विशेषता यह है कि राम, 'खरहरप्रिय' हैं। यह कीर्तन भी उसी राग में बद्ध है। राम भक्ति मार्ग का महत्व सारा संसार श्रमण करने पर भी जाना नहीं जाता। यह राम भक्ति बाह्याडम्बरों से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है।[3] राम **सर्वान्तयामी हैं**। उन्हें अपने मन में ही ढूँढ़कर पाया जा सकता है। इसी में साधक की सार्थकता है।

त्यागराज के कीर्तनों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे अपने आप में स्वतंत्र हैं। फिर भी रस की दृष्टि से परिपूर्ण हैं। छोटी-सी अवधि में गाकर भी गायक अधिक समय तक तन्मय होकर उसके रसानन्द का अनुभव प्राप्त करता है। विभावानुभाव संचारियों का समग्र रूप से प्रतिपादन करने वाले हजारों कीर्तन प्राप्त हैं। कुछ कीर्तनों में किसी एक का स्वतंत्र एवं समग्र वर्णन है। कई कीर्तनों मे मिश्रित भक्ति का वर्णन पाया जाता है। वहाँ भक्ति के प्रत्येक प्रकार का सांगोपांग वर्णन भी हुआ है। ऐसे कीर्तनों में भक्ति रस की परिपक्व स्थिति दिखाई देती है। सभी प्रकार की भक्ति पद्धतियों को अपनाकर विभावानुभावों के द्वारा भक्त अपनी विरह वेदना व्यक्त कर, सम्भवतः यह आशा करता है इनमें से कोई-न-कोई मार्ग सफलता प्रदान कर सकता है। भगवान् की कृपा दृष्टि प्राप्त हो सकती है।

---

1. **'चक्कनि राजा मार्गमु उंडगा संदुलु दूरा नेन्ना'**
2. **'प्रक्काला निलाबाडी कोलिचे मुच्चटा बागा तेल्पगा रादा'।**
3. **'तेलियालेरु राम भक्ति मार्गमुनु, इलनंतटा तिरुगुचु कलवरिंचेरे गानि'॥**

उदाहरण के लिए 'घनराज पंचरत्न कीर्तन'[1], 'श्री रामा, जयरामा शृंगार रामा यानि', 'साधिचेने ओ मनसा' आदि इस वर्ग के हैं। 'संगीत के त्रिमूर्ति'[2] कहलाने वालों में अधिक प्रसिद्ध प्राप्त करने का सौभाग्य त्यागराज को प्राप्त हुआ। राजाश्रय निराकरण, निधि निक्षेपों से दूर रहकर सदा राम के सन्निधान में रहने का निश्चय करना।[3] भिक्षाटन को आजीविका बनाकर, भिक्षाटन करते समय सांसारिक भिक्षा लेकर अपने कीर्तनों द्वारा भगवांन की भक्ति रूपी भिक्षा संसार को प्रदान कर तद्वारा प्राप्त भक्ति की परवशता एवं अलौकिक आनन्द की अनुभूति को साथ लेकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करने का भाग्य त्यागराज जैसे संतों को राम के अनुग्रह के कारण संप्राप्त हुआ। इन्होंने एकान्तिक भक्ति का प्रचार करते हुए सभी देवी-देवताओं के समाहित रूप को राम के रूप में ही देखने का सफल प्रयत्न किया। 'दस अवतारों में तुम्हारा राम अवतार ही श्रेष्ठतम है' कहकर त्यागराज ने अपनी इस बात को पुष्टि पहुँचाई। हे जगंनायक! यदि आपने मेरी रक्षा करने का विचार नहीं किया तो मैं किसकी ओर जाऊँ? मेरी रक्षा करो'[4] इस कीर्तन में व्यंग्य से कहा गया 'क्या आपके लोगों ने मेरे विरुद्ध आपको कुछ भड़काया तो नहीं? यदि ऐसा ही हुआ तो आपने उन्हें समझाया नहीं? या आपका वाहन खगराजा ने आपके आदेश का पालन नहीं किया हो? उसने कहा होगा 'गगन (स्वर्ग) और धरती में दूरी बहुत है। इतनी दूर मैं नहीं चल सकता उसने साफ इन्कार कर दिया होगा। यदि ऐसी स्थिति है तो मैं और कहाँ जाऊँ? अब देर मत करना! हे जगन्नायक! मेरी रक्षा करो। क्योंकि तुम भव रूपी रोग के लिए वैद्य के समान हो। मैं तुम्हारा ही हूँ। जल्दी आकर मेरी रक्षा करो।[5] त्यागराज, भजन के कई विधानों का वर्णन कर प्रत्येक साधक के मन में भक्ति के प्रति आकर्षण उत्पन्न करते हैं। उसके लिए संगीत का सहारा लेकर कीर्तनों द्वारा यह काम सुसंपन्न कर लेते हैं। गान को और सुन्दर बनाने के लिए सहकारी वाद्यों की आवश्यकता पड़ती है। राग-ताल-लय सब इन वाद्यों के द्वारा गायक के वश में हो

---

1. ये पंचरत्न कीर्तन तीन प्रकार के हैं (इ) घनराग पंचरत्न (आ) कोवूरु पंचरत्न कीर्तन (इ) तिरुवत्तियूरु पंचरत्न कीर्तन। इनकी विशद् चर्चा परिशिष्ट में की गयी है।
2. 'कर्नाटक संगीत संसार के त्रिमूर्ति हैं—श्यामशास्त्री, मुत्तुस्वामी दीक्षितार तथा त्यागराज इन तीनों की विचित्र समानता यह है कि ये तीनों 'संगीत त्रेताग्नी' का जन्म स्थान एक ही है, 'तिरुआरुर'। (अर्थात् छः ग्रामों का संगम स्थान) निवासस्थान भी एक ही है, 'तिरुवय्यार'।
3. 'निधि चाला सुखमो? रामुनि सन्निधि सुखमो, निजमुगा तेलुपवे मनसा'।
4. ''गगनानिकि इलकु बहु दूरंबनि नाडो-जगमेले परमात्मा!
   एवरीतो मुरलिडुदु-वग चूपकु ताळनु नन्नेलुकोरा त्यागराजनुत!!
5. 'भव वैद्य, ने नीवाड नैति वेगा रारा'।

जाते हैं। त्यागराज भी इसी मार्ग को अपनाकर राग-ताल-मृदंग के साथ कीर्तन को जोड़कर सुंदर ढंग से तुम्हारा वर्णन करने वाला धीर कौन है? नव रस भरित सद् भक्ति से तुम्हारा भजन करना किसके लिए संभव है।[1] भजन के विधि विधान को नव रस भरित स्वादिष्ट बनाकर उसे अपने भक्त-शिष्य गण में बाँटने का सतकर्म कर त्यागराज ने स्वयं सद्गति को प्राप्त किया। साथ-साथ संसार को भी मार्ग दर्शन किया। उनका जन्म सार्थक तो हुआ, सार्थक वह धरणी है वह जननी है, वह प्रान्त है, वह देश है जहाँ उन्होंने जन्म लिया हो।

नामजप, आरती, वंदन, पादसेवन, कीर्तन, दासता, भजन, स्मरण, आत्मसमर्पण आदि भक्ति रस के अनुभाव हैं इनके अतिरिक्त आँखों से आँसू बहना, शरीर का पुलकित हो जाना, भक्ति की पराकाष्ठा की स्थिति में मूर्च्छित होना आदि भी अनुभाव है। आलम्बन के प्रति शंका दूसरे उन भक्त संतों के प्रति ईर्ष्या जिनका उद्धार भगवान ने पहले किया हो[2] विलम्ब की स्थिति में ईश्वर को उपालम्भ-उलाहना प्रकट करना जैसे कई बातें ऐसी हैं जिन्हें हम अनुभाव संचारी भाव तथा उद्दीपन भी कह सकते हैं। क्योंकि इन अनुभावों को व्यक्त करने के उपरान्त भक्त का मन पश्चाताप से तप जाता है।[3] उसके मन की भक्ति अपने किए पर पश्चात्तप्त होकर और निखर उठता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि में तप कर सोना निखर उठता है। अतः नामजप रूपी सुमनों से पूजा करने से ही यह नरजन्म सार्थक होता है। जो मानव भजन-नामजप में मन लगाता है उसे 'दंडपाणी' यमराज का डर क्यों होने लगा भला।[4] परन्तु उस भजन, नामजप के लिए एकाग्रचित्त, अर्थ जानकर भजन-नाम जप करना आदि की आवश्यकता है।[5]

आरती

वैष्णव भक्ति विधान की अन्य विधियों में आरती का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे पूजा विधि का एक प्रकार से 'इतिश्री' माना जाता है। षोडशोपचार नित्य एवं नैमित्तिक पूजाओं में आरती एक ऐसा उद्दीपन विभाव है कि आरती के प्रकाश में उपास्य की दिव्य मंगल मूर्ति को देखकर भक्त उद्दीप्त हो जाता है। उद्दीप्त-भक्त आरती उतारते समय आत्म विभोर हो जाता है। आँख भर आना, उच्छ्वास-निश्वास भारी हो जाना, आराध्य का रूप-गुण-गान, उनके चारों ओर रहने वाले सखी-सखा परिजनों-बन्धुजनों आदि का भी रूप, गुणगान, दंडवत् प्रणाम्, 'अन्यथाशरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम' भाव आदि अनुभावों से उनके हृद्गत भक्ति

---

1. 'सोगसुगा मृदंग ताळमुल जत कूर्चि निनु सोक्कु धीरुडेवडो'?
2. 'मरि मरि निन्ने मोरालिडा नी मनसुना दया रादू-रामा'॥
3. 'नाम-सुममुलचे पूजिंचे नरजन्म ने--जन्ममु'।
4. 'भजनपरुला केला दंडपाणि भयमु'।
5. 'तेलिस राम चिंतनमुतो साममु सेयवे ओ मनसा॥

रस व्यक्त होकर कंपन, गद्गद कंठ, परवशता आदि संचारियों की सहायता से रस सिद्धि पाकर भक्त के मन को आप्लावित एवं आह्लादित कर देता है। भक्ति-सुधारस का पानकर भक्त धन्य हो जाता है। पुनर्जन्म के चक्र से भी उसे छुटकारा प्राप्त हो जाता है।[1]

आलम्बन का शारीरिक सौन्दर्य, गुणगान कायिक चेष्टाएँ उसका मनोविज्ञान आदि सब भक्ति रस के उद्दीपक हैं। आलंबन राम के अनन्त गुणों की गणना, असमान सौंदर्य, अनुपम शक्ति अपूर्व शील आदि से प्रभावित भक्त त्यागराज उनका वर्णन करते-करते अघाते नहीं। उनके लिए राम अनन्त गुणवान हैं। भक्ति की गहराई में मग्न होकर सुध-बुध खोकर दिन-रात उनकी आराधना में मग्न रहते हैं। राम सुजनों के लिए जीवनाधार हैं—सुगुणों से भक्ति है।[2] उनका सौन्दर्य देखने के लिए ये दो आँखें काफी नहीं हैं—अर्थात इन दो शारीरिक आँखों से राम का सौन्दर्य देख पाना साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है।[3] उसके लिए मानसिक विकास की आवश्यकता पड़ती है। मन का पटल खोलना पड़ता है। तभी इनके सौन्दर्य का बोध हो सकता है। त्यागराज के तिरुपति की यात्रा के समय का जो वृतान्त जगत् प्रसिद्ध है, उस समय श्री बालाजी से प्रार्थना के रूप में त्यागराज ने जो कीर्तन प्रस्तुत किया वह इसी भाव से किया गया। अरिषड्वर्ग परदा बनकर मन को आच्छादित करने के कारण मार्ग दिखाई नहीं देता। अतः उस परदे को हटाकर सही मार्ग दर्शन करने की विनती इस कीर्तन में की गयी है।[4] 'सरसीरुहनेत्र' राम से जिनका शारीरिक सौन्दर्य करोड़ों कामदेवों के समान है, नवमन्मथ का साकारित रूप हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं अनुपम हैं।[5] ऐसे अनुपम गुणवान राम का ध्यान सदा करने की इच्छा आमूल व्यक्त होती है।[6] ऐसे आलम्बन के सेवा भाग्य के लिए सदा इनका तरसता दिखाई देता है। अवसर की प्रतीक्षा में मार्ग जोतने का मन व्याकुल रहता है, क्योंकि कितना भी अवसर प्राप्त क्यों नहीं होता हो वह त्यागराज जैसे भक्त के लिए नगण्य ही है। इनके घनराग पंचरत्नकीर्तनों में आलम्बन के शारीरिक सौन्दर्य का अपार वर्णन पाया जाता है। राम के सौन्दर्य की आराधना में तत्पर त्यागराज प्राकृत दृश्यों को अप्राकृत उत्कर्ष से जोड़कर रामचंद्र के जगन्मोहन रूप का अनुसंधान कर, तन्मय होकर, उनके सौन्दर्य का जी भर कर वर्णन करते हुए यह सौगन्ध खाते हैं कि वे राम के चरणों से कभी अलग नहीं

---

1. नी भक्ति भाग्य सुधानिधि कलदे जन्मंबु'?
2. सुजन जीवना-सुगुणा भूषणा, रामा॥
3. 'नी सोगसु चूडा तरमा'
4. तेरा तीयगा रादा, लोनी तेरातीयगा रादा।
   तिरुपति वेंकटरमणा, मच्चरमनु तेरा तीयगा रादा'॥
5. 'अनुपम गुणांबुधी यनि निन्नु नेरनम्मी अनुसरिंचिना वाडानैति'
6. 'मानसा संचररे-ब्रह्मणी'॥

होंगे।[1] इस प्रकार विभावानुभाव संचारियों से परिपूर्ण कीर्तनों में भक्ति रस आद्यन्त प्रवाहित होता हुआ दिखाई देता है। 'कना-कना' लगातार देखते ही रहने पर.....कोई भी काम लगातार ध्यान से करते रहने पर उसका महत्व अधिक होता जाता है। यही भाव है इस कीर्तन में व्यक्त है।

रामचन्द्र के मुखारविन्द की शोभा, मनसिज के लावण्य के समान कोमल शरीर वाले रोग के सुंदर चरणारविन्दों पर अपने हृदयारविन्द को समर्पित करने वाले भक्तों के सौभाग्य की प्रशंसा पतित पावन की प्रशंसा, सदा उनके कीर्तन-भजन की इच्छा गम्भीरता, मगर कोमलता से चलने वाले राम को सदा अपने आँखों से देखकर पुलकित होने वाले दर्शकों के सौभाग्य का वर्णन-ब्रह्मानन्द रूपी समुद्र में मग्न रहने वाले भक्त के गुणों एवं भाग्य की प्रशंसा आदि का वर्णन कई कीर्तनों में किया गया है। इतने अनुभाव उद्दीपन संचारियों से युक्त कीर्तन किसी अन्य वाग्गेयकार को शायद ही प्राप्त होते हों। त्यागय्या ऐसे भाग्यवान् महानुभावों का बार-बार वंदन करते हैं। ऐसे कीर्तनों में भक्तों की सेवा भाग्य का भी वर्णन किया गया है। मानव की सेवा माधव की ही सेवा मानी जाती है। भगवत् भक्तों की सेवा करने से भगवान् की सेवा हो जाती है। क्योंकि भक्तों के संसार में भक्त भगवान् का ही प्रतिनिधित्व करता है। वे भगवान् के अत्यन्त निकट होते हैं— उनके प्रीति के पात्र होते हैं। भक्तों की सेवा जिस प्रकार भगवान् की सेवा है, उसी प्रकार भक्तों को दुःख देना भगवान् को दुःख देना है। राजा अंबरीष, ध्रुव, प्रह्लाद जैसे परम भक्तों के चरित्र इस बात को पुष्टि पहुँचाते हैं। कीर्तन, दर्शन, आत्मसमर्पण, पादसेवन, नाम-जप आदि में संलग्न भक्तों की सेवा भाग्य का वर्णन प्रचुर मात्रा में पाया गया है। राम भक्तों की चरणधूलि का एक कण बनकर भी जन्म सार्थक माना जाता है। उनकी सत्संगति में लीन होकर उनकी आराधना करना ही दिव्यमूर्ति ईश्वर की सेवा है। इस मार्ग पर चलकर भक्त 'ध्यान लक्ष्मी' को सदा के लिए हृदय पीठ पर स्थापित करने में सफल हो जाता है। इस कीर्तन में अनुभावों के रूप में, कई निश्चल मानसिक स्थितियों का वर्णन है, जैसे चन्द्रमा के समान सुन्दर राम की मूर्ति को हृदय कमल पर स्थापित कर ब्रह्मानन्द का अनुभव प्राप्त करना, कीर्तन के द्वारा परात्परपतित पावन की प्रशंसा कर परमार्थ करने वाले भक्ति मार्ग पर अग्रसर होना पादसेवन आदि। शरीर में पुलक आदि संचारियों का उल्लेख कर समग्र रूप से भक्ति रस धारा को प्रवाहित किया गया। इनके 'घनराग पंचरत्न कीर्तन सभी इसी वर्ग के हैं।[2] 'एंदरो महानुभावुलु'—यह तेलगु भाषा में ब्याज स्तुति का भी शब्द बन गया। हरिगुण रूपी मणिहार पहनना, राम के पराक्रम पर मुग्ध होना, राम के दिव्य सौन्दर्य पर पुलकित होना आदि

1. **'कनाकना रुचिरा कनकावसन निन्नु'॥**
2. **'एंदरो महानुभावुलू! अंदरिकी वंदनमुलु'॥**

गुणों के वर्णन के द्वारा त्यागराज ने श्रोतागण के लिए भी दिव्य संकीर्तन से प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द का आयोजन किया। भक्त के निश्चल मानसिक स्थिति के कारण 'मन' रूपी मर्कट को अपने अधीन में रखने की जो आवश्यकता प्रतीत होती है, वह पूरी हो जाती है। भक्ति रस से ओत-प्रोत यह कीर्तन उस रस का सांगोपांग प्रतिपादन करता है। उपालम्भ, व्यंग्य, निष्ठुरता आदि को इनके कीर्तनों में भक्त का मनोवेग को व्यक्त करने के साधन के रूप में स्थान प्राप्त हुआ। इन्हें हम संचारियों के अन्तर्गत रख सकते हैं। क्योंकि ये उपालम्भ उलाहने, उपेक्षित की भावना से उत्पन्न व्यंग्य-आक्रोश, कुंठा, आलम्बन के प्रति निष्ठुर वचन आदि क्षणिक मात्र हैं। जब क्रोध उतर जायेगा तब भक्त का मन शान्त हो जाएगा। परन्तु उसकी एक विचित्र मानसिक स्थिति बन जाती है। वह है 'पश्चाताप'। अपने किए पर पश्चाताप-पश्चाताप की अग्नि में तप्त उसकी भक्ति और उद्दीप्त होकर निखर उठती है।

संचारियों का रस निष्पत्ति में महत्वपूर्ण स्थान है। बिना संचारियों के सहयोग के स्थाई भाव रस स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है? 'परिदान मिच्चिते' नामक कीर्तन में 'भगवान् के परिदान' स्वीकार कर ही भक्तों का उद्धार करेगा'—सह आलम्भ व्यक्त है। उदाहरण के लिए राजा जनक, जिन्होंने कन्यारत्न को परिदान में दिया, कुबेर ने धन दिया आदि कई प्रसंग उल्लिखित है।[1] भगवान से किसी ने पूछा माँगकर किसी ने सुख प्राप्त नहीं किया 'यह व्यंग्य कसा गया। इस कथन को पुष्ट करने नारद जी की कथा का वर्णन किया गया।'[2]

त्यागराज के कई कीर्तनों में एक रिक्त मनस्क की इच्छा नहीं, कोरे शब्द ही नहीं, एक परम भक्त के तादात्म्य की स्थिति का वर्णन पाया जाता है जो भक्ति की पराकाष्ठा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। श्रीराम की पवित्र सेवा को कल्पना कर उनके सन्निधान में नाम-जप भजने आदि से तन्मयता प्राप्त कर अपनी मनोगत वांच्छा को त्यागराज कई कीर्तनों में प्रकट करते हैं।[3]

सम्पूर्ण शरणागति भक्ति रस का उल्लेखनीय तथा महत्वपूर्ण अनुभाव है। आराध्य का अनन्य दास बनकर दीनातिदीन अवस्था में, आराध्य पर अटल-सम्पूर्ण विश्वास के साथ उनकी शरण में जाकर अपना सर्वस्व उनके सुपुर्द कर देना, अपनी भक्ति मुक्ति का सारा भार राम पर छोड़ देना 'माजलि किशोर न्यास' के अनुसार शरणागत हो जाना, जो भक्ति रस की पराकाष्ठा है, इनके अनेक कीर्तनों

1. **'परिदाना मिच्चिते पालिंतुवेमो'। लेन-देन की भावना इस कीर्तन में व्यक्त है। 'परिदान' मिलने पर ही मेरा उद्धार होगा?**
2. **'अडिगि सुखमुलु एवरनु भविंचिरिरा'—तुमसे वरदान माँगकर सुख कौन पाया? नारद आदि ने दुःख ही पाया।**
3. **'पाहि रामा राम यनुचु भजन सेयवे'॥**

में पाया जाता है। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, अंबरीष आदि इनके आदर्श हैं। शत्रु, शुत्रु के संबंधी कोई भी हो, भगवान् की शरण में जाने से कृपानिधि भगवान्, शरणागत वत्सल राम उन्हें खाली हाथ नहीं लौटाते। यही राम का बड़प्पन है। उनका सम्बंध उन भक्तों से है जो उनकी शरण में जाते हैं न कि उनके परिवार से। तभी वे शरणागत राजा विभीषण जो राम के परमशत्रु रावण का अनुज है उसे आश्रय देना ही नहीं उसके साथ न्याय भी किया। उसे उसका अधिकार दिलाया, लंका का राजा बनाया, शरणागतों का हित कर उनका उद्धार करना उनकी दूसरी प्रकृति है।[1]

त्यागराज का आस्तिकता में विश्वास अत्यन्त सराहनीय है। मानव को अपनी शक्ति पर विश्वास होना अत्यंत आवश्यक है। अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार ईश्वर के स्वरूप का निर्णय होता है। यही विश्वास धर्म की नींव है। त्यागराज के कई कीर्तनों में इसी का प्रतिपादन हुआ है।[2]

त्यागराज की भक्ति का जो दूसरा पक्ष है उसका आधार आर्ति है। इस आर्ति के कई कारण हैं जैसे दर्शन-उद्धार में विलम्ब, शंका कि 'शायद ईश्वर ने मुझे त्याग दिया हो' किसी ने उन्हें पढ़ाया-सिखाया हो, या 'मुझसे कोई बहुत ही बड़ा अपराध हुआ हो, या राम यह भूल गए होंगे कि मेरी सेवा करने वाले भक्त हैं' आदि संचारियों से संतप्त दास भक्त के मन उपालम्भों से भर जाता है। प्रेम-सेवा रति से उमड़ने वाले अनुभाव के कारण वे आलम्बन से कहते हैं कि मैं तुम्हारी कृपा दृष्टि प्राप्त करने यहाँ प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुम्हारा गुण-गान, यश गान कर रहा हूँ परन्तु आपकी ओर से कोई उत्तर या प्रतिक्रिया दिखाई नहीं दे रही है। आपका विचार है शायद कि दरवाजे पर सदा 'करबद्ध' 'वातात्मज' है। 'श्रकर' अनुज तीनों सदा आदेश की प्रतीक्षा में उपस्थित हैं। एकान्त सेवा के लिए माता जानकी सदा निकट ही हैं। अब अन्यों की क्या आवश्यकता है इसमें अप्रत्यक्ष रूप से इन सबके प्रति शंका भी प्रकट की गयी है कि शायद वातात्मज, अनुज तथा जानकी जी ने तुम्हें पढ़ाया हो कि तुम्हारी सेवा के लिए जब हम लोग हैं तो अन्यों की आवश्यकता क्या है? यह कीर्तन ईश्वर प्रणिधान का उत्कृष्ट उदाहरण है।[3] 'जीवन मे धन-संपत्ति प्राप्त नहीं हुई' 'भाग्य में सम्मान नहीं लिखा गया' आदि एक भक्त के दुख के कारण नहीं बनते। दुख इसी बात का होता है कि ईश्वर के दर्शन प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

---

1. 'हितवू माटलेतो बागा पल्किितिवि। सतमुगा अयोध्या नितुनंटिवि।
नत सहोदरुनि राजू चेसि चाला, हितमु चेसितिवि त्यागराजनुना'॥
2. 'बद्‌दनुवारिकि कद्‌दु'॥
3. (अ) 'उपचारमु चेसे वारुन्नारनि मरचितिवो'। नामक कीर्तन।
(आ) 'नगराजधरा! नीदु परिवारुलु लेरा?
वगि बोधना चेसे वाटलु कारे'

वैष्णव भक्ति की साधना का मार्ग स्त्री-पुरुष भेद, जाति-पाँति, वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं मानता। इन बंधनों से वह मुक्त है। साधु-संत, सज्जन-दुर्जन, पंडित-पामर, पापी-पुण्यवान्, धर्मी-अधर्मी सभी इसके पात्र हैं इसके अधिकारी हैं। यही बात स्पष्ट शब्दों में कीर्तनों में व्यक्त है कि पतित-पावन राम के सामने इन बातों का कोई महत्व नहीं है।[1]

उद्धार की प्रतीक्षा का आश्रय थक गया। आश्रय की ओर आलम्बन का ध्यान ही नहीं गया। अब मनोविज्ञान विचित्र-सा हो जाता है। प्रतीक्षा की सीमा समाप्त होने पर मानव धैर्य-स्थैर्य, दुगुना हो जाते हैं। वह डीठ बन जाता है अब ज़िद मन मैं बैठ जाता है। अब बात हो जाती है। आराधक निराशा की स्थिति में भी पहुँचता है। प्रार्थना करते हैं कि 'इतनी विनती करने पर भी तुम्हारी कृपा दृष्टि मुझ पर नहीं पड़ रही है। कारण क्या है? इतना ज़िद आप क्यों कर रहे हैं रघुनाथ! मेरी इस चिंता को दूर करने इतनी ज़िद क्यों ?[2]

'कितना सहूँ'[3] 'तुम्हारा मन पिघलता क्यों नहीं मेरी दुर्दशा पर ?[4] जैसे कई विनतियों में आश्रय का आर्तनाद सुनाई देता है। माना जता है कि त्यागराज ने 24 हज़ार कीर्तनों की रचना की। परन्तु आज सब प्राप्त नहीं हैं। केवल 700 कीर्तन प्राप्त हैं। उनके कीर्तनों के कई वर्ग हो सकते हैं। जैसे दिव्यनाम संकीर्तन, दीप-धूप-नैवेद्य आरती जैसे नित्य पूजा-उपचार सम्बंधी, बसंत आदि उत्सव सम्प्रदाय संबंधी लोरियाँ-जागरणगीत, भोजन के समय के कीर्तन आदि। इनमें से सबसे अधिक प्रचलित कीर्तन वे हैं जिनमें मन का उद्‌बोधन प्राप्त है। इस वर्ग के कीर्तनों में भक्ति रस का प्रवाह उमड़ता हुआ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है।[5] क्योंकि मन यदि सब समझ जाएगा तो संघर्ष के लिए जीवन में स्थान नहीं रहता। मन से चित्त से जो भी काम होता है वह काम सफल होता है और शाश्वत भी मन और मस्तिष्क में जब तक संघर्ष चलता रहेगा तब तक

---

1. 'बलमु कुलमु एला रामा? भक्ति कारणमु वेलयु सिद्धु लेल्ला वेंटा वच्चु गानि'॥
2. 'एंतो वेडिकोंदु राघवा, पंतामेलारा ओ राघवा॥
   चिंता दीर्चटा केंता मोडिरा' नामक कीर्तन॥
3. 'एंतनि सैरिंतुनु? सीता कातुनि दया राडु'॥
4. 'एंदुकु दया रादुरा श्रीरामाचन्द्रा'॥
5. 'अतडे धन्युडु मनसा। सतत यान सुत धृत मैना॥
   (अ) सीतापति पादयुडमुला सततमु ध्यानिंचु'॥
   (आ) 'पाहि रामा यनुचु भजन चेयवे मनसा'॥
   (इ) 'निधि चाला सुखमा, रामुनि सन्निधि सुखमा॥
   निजमुगा तेलुपवे ओ मनसा'॥
   (ई) 'संगीत ज्ञानमु भक्ति विना, सन्मार्गमु कलदे, ओ मनसा'॥
   (उ) 'चक्कनि राजा मार्गमु उंडगा, संदुलु दूरा नेले मनसा'॥

मानव को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः सब कुछ मन के मानने पर निर्भर रहता है। अतः भक्ति की जितनी बातों को मन समझ पाएगा, भक्त उनका आचरण कर सफल भक्त कहलाएगा।

आलम्बन का साम-दाम-भेद-दंड आदि उपायों में चतुर होना—अर्थात राजनीति में निपुणता, युद्धनीति में उनका बुद्धि चातुर्य[1] से मुग्ध आश्रय के लिए इस आलम्बन से अधिक शक्तिवान शूर-वीर अन्य कोई नहीं है। रावण के समान दम्भी को दर्प का दमन करने वाला अन्य वीर कौन है ?[2]

राम की वीरता का, युद्ध रंग का अनेक कीर्तनों में आँखों देखा वर्णन पाया जाता है।

राग-ताल-लय-भक्ति-रक्ति (ईश्वर के प्रति अनुराग) से ज्ञान-योग आदि से भी दूर रहने वाले जो दंभी है, वे अपने आपको परम भागवत कहलाते हैं। वास्तव में वे उदरपोषण के लिए ऐसे बाह्याडम्बर रचाते हैं। उनके भजन विधान में न राग-ताल है न भक्ति-शक्ति। कम से कम एक मानव के लिए जो आवश्यक गुण हैं—'मानवता',—अनुराग उनमें वे भी लुप्त है। मैं तुम्हारा परम भक्त हूँ। मेरी उनके साथ समानता कर तुमने मेरा उपहास किया।[3] यह भावना कि 'घोड़े-गधे को समान स्थान दिया जा रहा है भक्ति रसोद्दीपक ही कहा जा सकता है, क्योंकि इस भावना से आराध्य के प्रति उपालम्भ उद्विग्न हो जाता है, उपालम्भ उद्दीप्त दशा में पहुँचकर संचारी उद्विग्नता उत्पन्न करता है। यह वेदना कि 'मेरे गुणों को पहचांना नहीं गया' इस उद्विग्नता का कारण है। इन सभी संचारी-उद्दीपनों का सहारा लेकर 'भक्ति' रस रूप में परिवर्तित होता है।

संगीत का ज्ञान भक्ति दोनों मोक्ष प्राप्त करने अत्यंत आवश्यक है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। यदि सद्गति प्राप्त करनी हो तो मानव को चाहिए कि वह इन दोनों मार्गों को अपनाए।[4] इसीलिए भक्ति रस के पोषण के लिए उन्होंने संगीत को आधार बनाया। भक्ति रस के प्रकार के अनुरूप रागों को बाँधा। भक्ति के मधुर, शान्त, वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि से संबंधित कीर्तनों को कोमल कान्त पदावली में रचा, रस का चयन गुंफन भी उसी प्रकार का किया। उदाहरण के लिए 'खरहरप्रिय' राम की भक्ति के प्रतिपादक कीर्तनों के लिए, उनके शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन करने में 'खरहरप्रियराग' का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार हरिकांभोजी, हंसनाद, शुद्ध सावेरी मध्यमावती आदि कोमल रसों के साथ-साथ त्यागय्या ने

---

1. **सरसा सामादाना भेदा दंडा चतुरा! साटि दैवमेव्वारे, ब्रोववे'**
2. **'शरशर समरैकशूर शरदिमदविषारा।**
   सुर रिपु मूला बलमुनु दूल गिरुलकनलसम मौ श्री रामा'॥
3. **'मरियादा कादुरा करुणाकर! वारिनि-वीरिनि सरिचेसि चूचेदी'॥**
4. **संगीत ज्ञानमु भक्ति विना-सन्मार्गमु कलदे, ओ मनसा'॥**

रणरंग में राम के शौर्य का वर्णन करते समय संदर्भ के अनुकूल, रस के अनुरूप राग में कीर्तनों को सजाया। उदाहरणार्थ समर रंग में एकमात्र शूर-वीर, सुररिपु रावण के दर्प का दमन करने वाले राम की गम्भीरता वीरता का वर्णन, उसके अनुरूप राग 'कुंतलवराली' में कर उस वीर रस के वर्णन को सार्थक एवं अधिक हृदयंगम बनाया। युद्ध रंग में बजने वाले दुंदुभियों की आवाज, नगाड़ों की आवाज के समान लगने वाला यह राग इस संदर्भ में कितनां ही उपयुक्त लगता है।

मुक्ति मार्ग का जो सर्व प्रथम सोपान है भक्ति उसे अपनाकर त्यागराज ने यह प्रामाणित किया कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है। पर्वतारोहण किसी भी दिशा से हो, शिखर पर पहुँचने के उपरान्त चारों ओर का दृश्य एक ही प्रकार का प्रतीत होता है। ठीक उसी प्रकार भजन, नाम-संकीर्तन तुम यह नहीं कहना कि तुम 'द्वैत' हो। (दो मार्गों पर चलने वाले हो! अतः मैं तुम्हारा उद्धार नहीं कर सकता।') मैंने तन मन से मनोवाक्काय कर्मों से भक्ति मार्ग को अपनाया। अब मेरी उपेक्षा मत करो।[1]

इनके कीर्तनों में अनन्य आराध्य राम के चरणारविन्दों की अर्चन तत्परताप्रेम का रूप धारण कर विभावानुभावों के संयोग से भक्ति रस के रूप में प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। इस दिव्यानुभूति के साथ आनन्द को मिलाकर सद्वैतग्य के द्वारा ही अद्वैत साम्राज्य प्राप्त होता वही 'सायुज्य' है। संसार में यह प्रचार करते हुए त्यागराज स्वयं आनन्दमग्न हो जाते हैं।[2] अतीत स्थिति को प्राप्त करने के उपरान्त त्यागराज का मन आतुकु एवं मंगलप्रदायक जो सात्विक भक्ति भिक्षा है। उसकी ओर अग्रसर हो जाता है। राजस से दूर भागने वाला उनका मन तामस की ओर नहीं, स्वभावतः भक्ति के सात्विक रूप की ओर अग्रसर हो जाता है। इस सात्विक वृत्त रहित राम भक्ति, उसके बिना की जाने वाली कोरी आराधना श्रवालंकार के समान है।

भक्ति अत्यंत सरल, मगर महत्वपूर्ण मार्ग है। जिस पर चलकर प्रत्येक साधक अपने गम्य को प्राप्त कर सकता है। लोग सारा संसार भटकते फिरते हैं। परन्तु इस भक्ति मार्ग को अपना नहीं पाते हैं।[3] भव-सागर पार करने का नाव है भक्ति। संगीत की परिपक्कवता के लिए भी चित्र की परिपक्कवता भक्ति की परिपक्कवता ईश्वर के चरणों में अर्पित तत्परता कितने ही आवश्यक है।

---

1. **'ए दारि संचरिंतुरा! इक पल्करा....।' 'मरुगेलरा। ओ राघवा....... आर्दि कीर्तन।**
2. **'अद्वैत साम्राज्यमुलु अब्बिनटुलु रामा सद्वैराग्यमु निदियु सागुज्यमे रामा'॥**
3. **तेलियलेरु, रामा भक्ति मार्गमुनु, इलनंतटा तिरुगुचू कलवरिंचे वारे गानी'॥**

राम का ध्यान पवित्र गंगास्नान के समान है जिससे मन में निहित छल-कपट द्रोह-द्वेष और अरिषड्वर्ग आदि समाप्त हो जाते हैं।[1] अरिषड्वर्ग एक परदे के समान मन को आच्छादित कर इट पर दोनों से मानव को वंचित कर देते हैं। अतः उसे हटाकर मुक्ति देने की याचना अनुभाव के रूप में की गयी है।[2] त्यागराज ने सारा संसार ढूँढ़कर परास्त होकर फिर अंतरंग में ढूँढ़कर सही आलंबन को प्राप्त किया। अब ये अनन्य रामभक्त हो गए। दूसरों की शरण में जाने का प्रश्न अब उठेगा नहीं, क्योंकि चराचर जगत का सर्वस्व राम ही है। यही है सम्पूर्ण शरणागति। सत्य एक ही है अनेक नहीं हो सकते। इस ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भक्त यह भी समझ पाया कि परात्पर परमेश्वर के लिए कोई राज की बात नहीं है।[3] जप आदि द्वारा भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने वाला भक्त जिस आसानन्द एवं तादात्म्य का अनुभव करता है वह वर्णनातीत है।

इस मार्ग पर अग्रसर होने वाला भक्त आराध्य के प्रति जो पूजनीयता का भाव रखता है वही सच्ची भक्ति है।[4] मोक्षप्राप्ति का यह भक्ति सर्वतोमुखी-विश्वतोमुखी विधान है। यह भक्ति 'एकान्तिक' है। भक्ति का यह एकान्तिक मार्ग श्रेष्ठतम है। किसी प्रकार के बंधन निष्ठा आदि से मुक्त यह मार्ग त्यागराज के समान अन्य संतों ने भी अपनाया है। द्वैत-अद्वैत गीता नादरायण, विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद आदि के उपरान्त कालान्तर में विकसित अरविंद दर्शन आदि सब मिलकर साधक-उपासक के सामने प्रश्न चिन्ह प्रस्तुत कर देते हैं कि 'जाऊँ तो कहाँ जाऊँ?' चौराहे पर खड़ा पथिक निश्चित नहीं कर पाता कि कौन-सा मार्ग सुगम है और जिस पर चलकर वह अपना गम्य अवश्य प्राप्त कर सकता है। भक्त त्यागराज ने भी अपने कीर्तनों द्वारा यही व्यथा व्यक्त की है कि 'वहाँ या यहाँ?' अर्थात 'निर्गुण की ओर या सगुण की ओर?' इस दुविधा कारण को बतलाते हुए त्यागराज कहते हैं कि पहले मुझे अन्य सभी मार्गों ने यही कहा कि 'मैं ही सब कुछ हूँ।' पर मुझे मार्गमध्य में ही छोड़ दिया गया—ये मार्ग मुझे 'गम्य' तक पहुँचा नहीं पाया है। अब मैंने भक्तिमार्ग को अपनाया। भार समझकर मुझे त्यागना नहीं। जब मैं उद्धार करने के लिए कहूँ तो हे आदि मध्य अन्त रहित राम! त्यागराज से संसार की शिकायत है कि वह राम का आदमी है। विचित्र ढंग से भक्त दोषी ठहराया गया। न चोरी का आरोप न डाके का आरोप है राम का परम भक्त होने का।[5] वे कहते हैं ईश्वर कभी भी विश्वास-घात नहीं करते। फिर

1. 'ध्यानमे वरमैना गंगा स्नानमे मनसा'॥
2. तेरा तीयगा रादा-लोनी। तेरा॥
3. तिरुपति वेंकट रमणा-मच्चरमनु॥ तेरा॥
4. 'पूज्येषु अनुरागः भक्तिः'।
5. नीवाडनु मेननि लोकुलु पल्केरुगा।

भी कभी-कभी भक्त के मन में संचारी शंका उत्पन्न हो जाती है कि 'कही भगवान मुझे भूल तो नहीं गए ? यदि यही सच है तो यह मेरे प्रति घोर अन्याय है।[1]

आलम्बन रामपर मन संलग्न करना भी एक आवश्यक अनुभाव है। भक्त को चित्त शुद्धि से राम का आराधक बनकर भक्ति को आश्रय देना चाहिए। अन्यथा पूजा की सामग्री की, घंटी की मधुर ध्वनि, पुष्प आदि पूज़ा सामग्री व्यर्थ है।[2] बिना भक्ति के, बिना आत्म शक्ति के की जाने वाली पूजा वृथा पूजा सामग्री को व्यर्थ कर देती है। अत: चित्त शुद्धि भक्ति का प्रधान अंग है। इस पर त्यागराज ने अनेक कीर्तनों में प्रकाश डाला है। केवल त्यागराज ही नहीं सभी संतयोगियों ने जो वास्तव में पूजा-अर्चना का तात्पर्य समझ, संसार को यही बतलाने का प्रयत्न किया चित्तशुद्धि अत्यन्त आवश्यक अंग है। योगि वेमना भी इस बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि स्वयं चित्तशुद्धि के बिना पूजा क्यों करते हैं।[3] त्यागराज ने जीवन में स्वयं यह उत्तम मार्ग अपनाया तथा संसार को इसे अपनाने का प्रोत्साहन दिया और कहा कि अपने हृदय में ही तुम्हारे दर्शन करने का सौभाग्य उत्तमोत्तम हैं। 'आत्म....' ही भक्ति का उत्तम मार्ग है।[4]

इन अनुभावों के अतिरिक्त प्रदक्षिणा (परिक्रमा) साष्टांग दंडवत् प्रणाम्[5] आदि अनेक अनुभाव ऐसे हैं जिसका उल्लेख करना त्यागराज भूलते नहीं। नित्य नैमित्तिक पूजा विधान में आरती का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है जो एक अनुभाव भी।[6]

चित्तशुद्धि की आवश्यकता के परिचायक अनेक कीर्तन हैं। त्यागराज ने अपने जीवन काल में इसी मार्ग को अपनाया तथा चित्तशुद्धि से 96 करोड़ों नाम जप के कारण उन्हें आराध्य का साक्षात्कार हुआ। यहाँ महत्वपूर्ण अंश करोड़ों नाम-जप का नहीं, चित्तशुद्धि का है। यदि चित्तशुद्धि से यह जप किया नहीं गया होता तो और 96 करोड़ नाम जप का भी कोई लाभ न हुआ होता। उनकी तपस्या का फल उन्हें प्राप्त हुआ। इस स्वानुभव के आधार पर त्यागराज यही मार्ग अपनाने का संसार को भी उपदेश देते हैं। उन्हें यही प्रसन्नता होती है कि वे अपने चित्त में ही निहित ईश्वर के दर्शन कर पाए हैं। जो सर्वोत्तम मार्ग है। उसका अनुगम करना लाभदायक ही रहा।

---

1. **नम्मिना वारिनि मरचेवि न्यायमा रामा॥**
2. **तेलुगु की एक कहावत है कि बिना भक्ति की, की जाने वाली पूजा पुष्प एवं पत्र को व्यर्थ करने वाली है। भक्तिलेनि पूजा 'पत्रि' (पूजा में उपयुक्त पत्ते) चेटु'।**
3. **चित्शुद्धि लेनी शिव पूजा लेलरा—विश्वदाभिरामा॥**
4. **चित्तमंदु निन्नु चूचू सौख्यमे उत्तमंबनुचु उप्पोंगुचुनु।**
5. **'पतिकि हारतीरे, सीतापतिकि.......'।**
6. **'चित्तमंदु निन्नु चूचू सौख्यमें, उत्तमंबनुचु उप्पोंगुचुनु'॥**

आराध्य का गुणगान सौन्दर्य वर्णन भक्ति रस के उद्दीपक है तथा भक्ति का महत्वपूर्ण अंग है। क्योंकि इन गुणों के कारण ही आराधक के मन में आराध्य के प्रति अटल विश्वास उत्पन्न होता है। फलस्वरूप आत्मसमर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है। अनुपम गुणांबुद्धि[1] राम का शारीरिक सौन्दर्य अनन्त है। उसका वर्णन करना किसी के लिए ब्रह्म-रुद्रों को भी सम्भव नहीं है। उनका सौन्दर्य देखते-देखते बढ़ता हुआ ही लगता है। नव मन्मथ का रूप धारण किया हुआ आराध्य राम की वीरता धीरता भी कम नहीं है। वह 'मेरुपर्वत के समान' अत्यंत उन्नत है।[2] इनके सौन्दर्य का आस्वादन करने के लिए हजारों नेत्र चाहिए।[3] ये सुगुणों से भूषित आराध्य राम सुजनों के लिए जीवन है प्राण है, आत्मा है।[4] अतः उनका नाम स्मरण अत्यन्त सुखदायक है।

इतना सुन्दर, इतना गुणवान राम का सौन्दर्य उनके इन निम्न गुणों से और उद्दीप्त होता है—वे हैं—'एक ही बात (सत्यवचन) एक ही बाण (जिसे वापस लिया नहीं जा सकता) 'एक पत्नीव्रत'। एक शक्तिशील सौन्दर्य के समन्वित इस असामान्य रूप को देखकर कौन मुग्ध नहीं होगा ? वह भी त्यागराज जैसा राम का अनन्य भक्त! मुग्ध त्यागराज के मन में आलम्बन के उपर्युक्त अनुपम गुणों से उद्दीप्त भक्ति रस कीर्तन के रूप में अभिव्यक्ति पाती है।[5]

ऐसे आराध्य के प्रति त्यागराज के मन में अटल विश्वास बैठा हुआ है कि 'राम चिरजीवता तथा निर्जर वरदान का सुख हमें अवश्य प्रदान करेंगे।' भक्ति एवं शरणागति का अपूर्व उदाहरण! मन को जाग्रत करते हुए उस विश्वास को बनाए रखकर भक्ति मार्ग पर अग्रसर होते हैं। फिर मन को समझाते हैं कि जिस प्रकार सभी नदी तालाब समुद्र में मिलकर एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी छोटे-मोटे भक्ति मार्ग समयक्ति में लीन हो जाते हैं। करोड़ों नदियों का संगम स्थान 'धनुषकोटी[6] ही छोटे-छोटे सैकड़ों तालाबों में स्नान करने से अच्छा है कि धनुष्कोटी

---

1. अनुपम गुणांबुधि
2. मेरु समान धीरा वरदा! रघुवरु चूतामू॥
3. वेणुगाना लोलुनिगन वेभिकनुलु कावलेने॥
4. सुजना जीवना! सुगुण भूषणा! रामा (सुजना)
5. ओका माटा-ओका बाणमु ओका पत्नी व्रतुडे मनसा॥
6. रावण के वध के उपरान्त राम जब समुद्र पार कर आ रहे थे तब उन्होंने इस स्थान पर अपना विजयध्वजा फहराया। पुराणों की इस गाथा पर कई कहानियाँ प्रचलित हैं। दक्षिण के 'रामेश्वर' द्वीप की नैगुडती दिशा में श्रीलंका के मार्ग पर एक 'बंदर घाट' है, धनुष्कोटी। इस पवित्र तीर्थस्थान में लोग स्नान कर धन्य हो जाते हैं।

   त्यागराज का कहना है जब सभी पवित्र नदियों का संगम स्थान 'धनुष्कोटी' है तब उसके किसी भीतर पर स्नान करो क्या अन्दर पड़ता है? तात्पर्य यह है कि सभी

में स्नान कर मोक्ष प्राप्त करो'[1] तात्पर्य यह है कि 'छोटे-छोटे देवी-देवताओं की आराधना में लगे रहने से अच्छा है कि केवल रामभक्ति में मन लगाकर मोक्ष प्राप्त करो। क्योंकि सभी भक्ति मार्ग रामभक्ति में समाश्रित हैं।

आर्त भक्त के पास उपास्य भगवान के प्रति उपालम्भों की कमी नहीं रहती। त्राण मानसिकता कोई न कोई सांत्वना चाहती ही है। वह न प्राप्त होने पर अर्ति आक्रोश कुंठा उत्पन्न होकर उपालम्भ-उलाहनों को स्थान देता है। अर्तिपरायण भगवान की ओर से विलम्ब भक्ति रस का सब से पहला उद्दीपक है। 'आर्तपरायण' पतित-पावन 'भक्तवत्सल' आदि उपाधियों से विभूषित होकर भी, जाति-वर्ग वर्ण आदि का अंतर न रखते हुए—भक्तों का उद्धार करने का अनुज्ञापत्र' प्राप्त कर भी भगवान कमल लोचन राम किस 'योचना' (सोच) में पड़ गए? यह समझ के बाहर की बात है। आराध्य की ओर से शायद यह शंका इसका कारण हो सकता है कि आराध्य ने किसी अन्य देवी-देवताओं की शरण ले ली—इसीलिए वह सोच में पड़ गए। त्यागराज निर्धारित रूप से कहते हैं कि मैंने अन्यों की शरण में जाकर आपके लिए अपमान जनक कोई काम नहीं किया। फिर सोच-विचार किस बात का?[2] साकेत राम से त्यागराज पूछते हैं कि मोक्ष के सभी मार्गों में भक्ति मार्ग श्रेष्ठतम जानकर मैंने यह मार्ग वरण किया और तुम्हारा समग्र वर्णन करने की प्रतीक्षा में हूँ। फिर भी तुम्हारा आदेश ही प्राप्त नहीं हो रहा है। इस विलम्ब या विमुखता का कारण क्या है? तुम्हें छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? नाच-गाकर अपना जीवन काल व्यर्थ बिता नहीं सकता। अब यह विलम्ब सहा भी नहीं जाता।[3]

विरहाकुल भक्त के मन की भक्ति को उद्दीप्त कर यह विलम्ब उस भक्ति को अन्य संचारियों की सहायता से रस की स्थिति में पहुँचने में सहायता करती है। यह भक्ति विरह में ठीक उसी प्रकार तपकर निखर उठता है जिस प्रकार अग्नि में तपकर सोना। इस जाज्वल्यमान भक्ति रस में शंका, ईर्ष्या, द्वेष उलाहनें-उपालम्भ आदि सभी संचारी विलीन होकर लुप्त हो जाते हैं। भक्ति रस का प्रवाह निश्चल रूप से आगे बढ़ जाता है। जिस प्रकार रामभक्ति रूपी चिन्तामणि के प्रकाश के

तीर्थ स्थानों का महत्व एक समान है। कोई अंतर उसमें रखा जाना नहीं चाहिए। 'एकता' या समन्वय का प्रतिपादन इनके इस कीर्तन में पाया जाता है।

1. **'कोटी नदुलु धनुष्कोटी लो नुंडागा। एटिकि तिरिगिदवे ओ मनसा'.......**
2. **'योचना? कमला! लोचना! ननु ब्रोवा'॥**
3. **चलामेलरा! साकेता रामा॥**
   वर्लाच भक्तिमार्गमुतोनु निन्नु वर्णिचुटकु वेचियुन्ना नापै (चला)
   एंदु पोवुदु एमि चेयुदुनु एलाहितो मोरा पेट्दुदुनु।
   वंदानालतो पोदुपुच्चा जाला तालाज़ाला नुरा त्यागराजनुता (चला)

सामने अन्य सभी दीपक के प्रकाश मन्द पड़ जाते हैं, उसमें विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार छोटी-मोटी नदी तालाब, समुद्र में मिलकर 'एकरूपा' हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार उन सभी संचारियों को भक्तिधारा अपने में आत्मसात कर समेट लेती है। भक्ति रसधारा निरंतर निराटंक गति से प्रवाहित होकर ब्रह्मानन्द की स्थिति से ब्रह्मानन्द स्वरूपा बनकर भक्त को शाश्वत सुख प्रदान करता है। अनन्य भक्ति की यही विशेषता एवं लक्ष्य भी है जो राम के भेजने से ही प्राप्त हो सकता है।

वास्तव में राम भजन से अन्य कोई उत्तम मार्ग दिखाई नहीं देता है जिस से मानव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। क्योंकि यह नाम जप अत्यन्त सरल उपाय है जो न केवल मानव पशु-पक्षी भी सीखकर, रटकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। एक तोते को रामनाम सिखाये जाने का उदाहरण देकर त्यागराज इसे प्रमाणित करने में सफल होते हैं।[1]

इस प्रकार के कीर्तनों में उन सब भक्तों के दुख का वर्णन है, जिन्हें अपने मन की इच्छा पूरी करने की प्रार्थना करने पर दुख ही प्राप्त हुआ। जैसे नारद ने भगवान की माया जानना चाहा—तो उन्हें सांसारिक बन्धनों में बाँध लिया गया। सीता माता ने आजीवन सेवा भाग्य चाहा तो विरह ही—अरण्य वास ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार आशा-निराशा सुख-दुख, विश्वास-अविश्वास उपालम्भ उलाहनें व्याप्त-स्तुति से सब मानव के सबल-दुर्बल मनोस्थिति के कारण उत्पन्न होते हैं। उसके मन की भाव विह्वलता जीवन में सम्भव होती है। अन्त में मानव इसे 'कर्म का फल' मानकर राम की शरण में जाकर 'तवदासोटदृर्व' कहता है। यह भी ईश्वर के प्रति उपालम्भ है कि जिन्होंने भी आप की शरण में आना चाहा उन्हें दुःख ही दुःख प्राप्त हुआ।

अन्योपदेश व्याप्त स्तुति त्यागराज के कीर्तनों में भरपूर दिखाई देते हैं। उलाहनें-उपालम्भ अन्योपदेश व्याप्त स्तुति आदि एक प्रकार से वेदनापूर्ण भक्त मन की अभिव्यक्ति करते हैं। तदनन्तर उद्दीपन का भी काम करते हैं। आराध्य की वेदना में संतप्त मन असहायता की स्थिति में आराध्य को दोष देना-व्यंग्य कसना, आदि करता है। जब मन ठंडा पड़ जाता है तो अपने किए पर लज्जित होकर पश्चात्तप्त मन से क्षमा भिक्षा माँगता है। इस पश्चाताप की अग्नि में संतप्त होकर भक्त के मन की भक्ति द्विगुणीकृत हो जाती है। भक्ति रस का अनुभाव एवं उद्दीपक होने के कारण ये सब उस रस के महत्वपूर्ण अंग हैं 'पहले के भक्तों की रक्षा करते-करते क्या आपकी शक्ति कम हो गई कि आप मेरे उद्धार करने अशक्त हो गए स्वामी! 'सत्य वचन का सदा पालन करने वाला'—तुम्हारी इस उपाधिने, तुम्हारी इस सत् कीर्ति ने मेरे चरित्र के संबंध में कुछ शिकायत तो नहीं की? या पत्नी-सहोदर-अन्य भक्तों के भड़काव में आप आ गए? आखिर बात क्या

---

1. 'एन्नागानु रामा भजना कन्ना मिंचि युन्नदा…'

है।[1]—जैसे कई कीर्तनों में विभावानुभावों संचारियों के संयोग-सहयोग से उमड़ता हुआ भक्ति रस का प्रवाह आस्वादन होता है। कभी-कभी आराध्य की बारी है रूठने की—भक्त यही समझता है कि ईश्वर मुझसे रूठ गए-तभी उनकी ओर से किसी प्रकार का उत्तर नहीं प्राप्त हो रहा है। मैंने आजीवन उनकी इतनी सेवा की। वह सब भूल गये। इस रूठने का कारण कौन है। यह भी पता नहीं। भक्त संदिग्धावस्था में पड़कर कि कहीं मेरे कारण तो ये रूठे हुए नहीं हैं? मेरी गलतियों के कारण ही मेरा आराध्य मुझसे रूठ गए। अब भक्त पश्चाताप करने लगता है। संसार में पश्चाताप से बढ़कर कोई पाप प्रक्षालन करने वाला औषधि नहीं है। उसी के अपना कर भक्त भगवान् के सामने आत्मनिन्दा प्रस्तुत करता है, क्षमा भिक्षा माँगता है। अपनी पिछली सेवाओं का स्मरण दिलाकर कहते हैं कि मैंने तुम्हारी जो सेवा की, क्या तुम वह भूल गए हैं?[2] तुम्हें गलती लगी, हे राम! मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया जिससे तुम क्रुद्ध हो या तुम्हें आघात पहुँचे। मुझे अनजाने में हुई अपनी गलतियों की सज़ा तुम्हारे मौन के द्वारा मिल चुकी है। अब मुझ पर विश्वास कर कृपा करो। अनुभाव के रूप में भक्त भगवान् आलम्बन के समक्ष आत्मनिन्दा कर अपना पश्चाताप व्यक्त करता ही नहीं, आराध्य के मन में जो गलती है उसे दूर करने का सफल प्रयत्न करते हैं।

वैष्णव भक्ति का उल्लेखनीय अंश है आत्मनिन्दा। संसार में प्रायः आत्म-स्तुति परनिन्दा अधिक पाई जाती है। परन्तु एक सच्चा वैष्णव भक्त का लक्षण है पहले अपनी गलतियों की ओर देखना-अपने दोषों को समझकर सुधारने का प्रयत्न करना। यदि प्रयत्न सफल होना ही तो उसे तन-मन से प्रयत्न करना है। फिर असफलता का प्रश्न ही नहीं उठेगा। यही प्रवृत्ति त्यागराज में पाई जाती है कि वह पहले अपने दोषों की ओर ध्यान देकर ईश्वर के सामने उन्हें स्वीकार करता है कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है कि तुम मेरा उद्धार नहीं कर रहे हो। सारा दोष मेरा है कि मैं दोषों का भंडार हूँ।[3] जब तक मैं अपने दोषों को दूर न करूँ तब तक मेरा उद्धार कैसे होगा? कौन करेगा?'[4] मैं कोई तुमसे रूठा हुआ नहीं हूँ कि तुमने मेरी रक्षा नहीं की या उद्धार नहीं किया। भला कोई अपने माता-पिता से रूठेगा?[5]

त्यागराज एक सच्चा वैष्णव भक्त है। असत्य, हिंसा, परनिंदा आदि लक्षण जो एक साधारण मानव के लिए भी वर्जित हैं त्यागराज जैसे महा भक्तों में हम कहाँ

1. 'भुक्तमु कादु ननु रक्षिंपक उंडेदि रामा' नामक कीर्तन।
2. 'चेसिना देल्ला मरचितिवो, ओ रामा! रामा'
3. 'नीवल्ला गुणदोषा मेमी रामा नावल्लने कानि'।
4. 'दुडुकुगल नन्नु' ए दोरा कोडुकु ब्रोचुरा'।
5. 'निन्नाडनेला नीरजाक्षा। कन्नवारि पैना काका सेयग नेला'?

पायेंगे ?' मन को संबोधित कर उसके माध्यम से त्यागराज उपर्युक्त सभी दोषों को वर्जित कर राम के चरणारविन्दों—षोडशोपचार पूजा-अर्चना, दासता की भावना ज्ञान-वैराग्य, शान्तगुण, जीवित रहने के लिए जितना भोजन आवश्यक है, उंछवृत्ति से उतना ही समाज से ग्रहण कर संसार के बीच में रहते हुए भी सांसारिकता से दूर रहकर सदा नवधा भक्ति से राम की भक्ति करते हुए बाह्याडम्बरों से दूर रहना, तन-मन-धन से उपास्य के कैंकर्य में रत रहना, सदा उनके चरणारविन्दों का ही ध्यान रखना, मन संलग्न करना आदि असंख्य लक्षण जो एक सच्चे वैष्णव भक्त में उपेक्षित हैं, त्यागराज में दृग्गोचर होते हैं।[1]

आत्मनिन्दा परस्तुति की यह दशा एक परिपक्व दशा है। मन की यह वह स्थिति है जिसमें एक सच्चा वैष्णव भक्त सभी दुर्गुणों का आरोप अपने व्यक्तित्व में कर अपने आपको अधमाधम कहकर दीनातिदीन अवस्था में आत्मसमर्पण कर लेता है। उन सभी लक्षणों का आरोप जो उसके व्यक्तित्व में नहीं है उनकी कल्पना भी कभी-कभी करता है। त्यागराज कहते हैं कि सांसारिकता के प्रलोभनों में पड़कर, अत्याशा से असत्य वचन कहता फिर रहा था क्या? अविवेक से इधर-उधर भटकते रहने वाले लोगों का साथ देकर कभी गलत मार्ग पर गया था क्या? तन-मन से आजीवन-बाल्यावस्था से ही तुम्हारी सेवा में लगा हुआ हूँ। फिर उद्धार में देर किस बात की हो रही है? अब कितना सहूँ। अब रक्षा करो-या न करो—मैं तुम्हारे चरणों की शरण नहीं छोडूँगा।' अन्त में 'अन्यथा शरणं ना-स्ति वृमेव शरणं ममा' कहकर शरणागत बन जाते हैं। ·····'पाला मुंचिना नीटा मुंचिना पदमुलेगति' —बहुत ही सुंदर उक्ति! पालु=दूध; नीरु=पानी! पाला मुंचु=रक्षा करना; नीटा मुंचु=पानी में छोड़ देना। त्याग करना। 'रक्षा करो या पूरी तरह से छोड़ दो तुम्हारी इच्छा तुम पर निर्भर है। सारा भार आराध्य पर छोड़ देना आश्रित वत्सल का काम है।

'देह की यात्रा में उपेक्षा, आत्मा की यात्रा में अपेक्षा 'प्रकृति योग्य वस्तु नहीं है' वह धारा वैराग्य की भावना आदि इनकी जीवनी के उल्लेखनीय अंश हैं। ये प्रत्येक मानव के लिए भव सागर पार करने हेतु अनुकरणीय हैं। अहंकार को दूर करने वाला सूत्र है।—'न धर्म निषोस्मि नचात्मवेदीन भक्तिमां'।[2] यह शास्त्रोक्त धर्म है कि प्रत्येक वैष्णव को चाहिए कि वह इसे समझे और अनुकरण करें। इसका अनुकरण करते हुए त्यागराज सदा अकिंचन भाव से रहा करते थे। वह कहते हैं कि हे राम! तुम्हें आकर्षित करने के लिए मैं सदा तुम्हारे समक्ष अपने दोषों को छुपाकर गुणों का ही प्रदर्शन करता रहा। वास्तव में मैं स्नान आदि सुकर्म जानता

---

1. **निनु विना ना मदेंदु निल्वदे श्री हारि'।**
2. **सुप्रसिद्ध वैष्णव भक्त रामुनाचार्य की सूक्ति।**

नहीं। वेदाध्ययन मैंने कभी नहीं किया। हे श्रीनायक! इस पापी को क्षमा करो।'[1]

सारा संसार जिस आधिभौतिक वृत्तियों का अनुकरण करता है। वह मुक्ति के लिए बाधक है। अतः उससे दूर रहने के लिए जिस मार्ग को अपनाना है उसे अपनाकर मोक्ष प्राप्ति के प्रति आर्ति प्रकट करते हैं। अहंकार, दारा-पुत्र-सांसारिक बंधन के प्रति ममता आदि छोड़ने के आतुर त्यागराज कहते हैं 'हे एकान्त रामय्या! मेरा जीवन चरित्र कर्ण कठोर है। एक बेकार गाय—जो न दूध देती न ही वह और किसी काम का है—के समान खाता-पीता-भटकता रहा। दुस्संगति में पड़कर दुष्कर्म करता रहा। जिससे तुम्हारी बदनामी हो रही है। उदर-पोषण के लिए जन्मजात लोभियों की प्रशंसा करता रहा। यही मेरा जीवन चरित्र है। ऐसे अनघ का उद्धार तुम कैसे कर पाओगे। पता नहीं।[2]

शरणागति भावना सात्विक भक्ति का उल्लेखनीय तथा महत्वपूर्ण अंश है। सम्पूर्ण शरणागति के प्रतिपादक अनेक कीर्तन त्यागराज ने प्रस्तुत किए जिनमें आराध्य को अपने कर्तव्य-पालन का स्मरण दिलाया गया कि एक बार अभय देकर पाणिग्रहण कर फिर नहीं छोड़ना[3] प्रत्येक देवी-देवता का घनिष्ठ संबंध श्रीराम चन्द्र जी से जोड़कर इस शरणागति भावना को अभिव्यक्त करते हैं। यही इनकी शरणागति की विशेषता है। राम के सभी निकट संबंधियों की शरण में जाना इनकी अनन्य भक्ति का प्रतीक है। उदाहरणार्थ देवी त्रिपुर सुंदरी के प्रति जो शरणागति की भावना इन्होंने व्यक्त किया है वह इसीलिए कि त्रिपुर सुंदरी दशरथी की सहोदरी है।[4]

इस प्रकार देवी त्रिपुर सुंदरी से संबंध जोड़कर अपनी रक्षा का भार उन्हें सौंपकर अपना अधिकार जमाने का भक्ति मार्ग प्रशंसनीय है। वैष्णव भक्ति के मूल में निहित स्मार्त सम्प्रदाय का परिचय इनके कई इस प्रकार के कीर्तनों में प्राप्त होता है। अन्त में फिर 'धरती पर तुम्हारे समान अन्य कोई देवता नहीं है। अतः मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ।' 'तव दासोरह' कहकर राम के चरण वंदन करते हैं। उनके आराध्य राम 'आगम विनुत, राग विरहित हैं। अतः इस प्रकार का कोई

---

1. 'सुगुणमुले चेप्पुकोंटि सुंदर रघुरामा'॥
2. 'एटुला ब्रोतुवो तेलियदु एकान्त रामय्या।
   कटा-कटा ना चरितमु कर्ण-कठोरमु रामय्या।
   वट्टि गोड्डु रीति भक्षिंचि तिरिगिति। पुट्टु लोभुलनु पोट्टाकै पोगिडिति।
   दुपटुलतो गूडि दुष्कृत्यमु सिल्प, रट्टु चेसिना त्यागराजुनु दयतो—
   (एटुला)
3. 'पट्टि विडुवा रादू ना चेयि'।
4. 'दारि तेलुसु कोंटी त्रिपुर सुंदरी! निन्ने शरणंटी॥
   मारु नि जनकुडैन मा दशरथकुमारुनि सहोदरिवि'॥

देवता-आलम्बन अन्यथा दुर्लभ है। भक्तों के संसार को देखकर रामराज संतप्त हो गए कि सब भगवत् भक्ति में लीन होकर उस मार्ग पर जा रहे हैं। सन्मार्ग पर चलने वाले ये लोग अब पाप कर्मों से दूर ही रहेंगे। फिर मेरा क्या होगा? मेरे लायक कोई काम ही नहीं है—अर्थात संसार का प्रत्येक व्यक्ति भक्ति का साधक है। दिन-रात त्यागराज जो संकीर्तन करते हैं वह सभी के कानों में अनायास पड़ जाता है 'मार्ग भटकने वालों को भी सन्मार्ग पर ले जाने वाला यह भजन मेरा सारा काम नष्ट कर देगा'—यही यमराज का डर था।[1] भक्ति पूर्व जन्म का पुण्य फल है[2] तो पूर्व जन्म के 'पापवन' के लिए कुठार के समान भी है।[3] संसार में रहते हुए भी सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहकर प्रह्लाद ध्रुव आदि के समान मोक्ष मार्ग पर जीव आगे बढ़ सकता है। कमल के पत्ते पर पानी की बूँद के समान रहने वाले मानव के लिए यह कोई असम्भव बात नहीं है। इसके लिए ईश्वर की कृपा चाहिए।[4] सामाजिक मर्यादाओं का पालन करते हुए ईश्वर की भक्ति करना ही मुक्ति का श्रेष्ठ मार्ग है। क्योंकि गृहस्थ जीवन या गृहस्थ आश्रम एक अनिवार्य अवस्था है। संसार को आगे बढ़ाने के लिए प्रत्येक जीव को इससे गुजरना आवश्यक है। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' की आवश्यकता पर विद्वज्जनों ने प्रकाश डाला ही था।

सिद्ध संतों का स्वानुभव है अनन्त भिन्नत्व में एकात्व के दर्शन। सभी देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी प्रत्येक साधक का मन एक 'इष्ट देवता' में मग्न होता है। भक्त इसी 'देवता' में अन्य सभी देवी-देवताओं के दर्शन कर लेते हैं। अपने मनोफलक पर उसी मूर्ति को प्रतिष्ठित कर निरन्तर सुगन्ध प्रदान करने वाले नाम जप सुमनों से उसकी आराधना करता है। ब्रह्मत्व का यही मूल प्रतिपादन है। तिक्कना-पोतना आदि अन्य सुप्रसिद्ध भक्त इसी परम्परा में आने वाले भक्त हैं। त्यागराज ने भी इसी मार्ग का अनुकरण किया। 'श्री गणनाथ' भजाम्य-हं' से अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति प्रारम्भ कर, प्रत्येक क्षेत्र स्थल की महिमाकर वे, परब्रह्म के प्रत्येक अवतार की स्तुति प्रस्तुत करते हैं। अन्त में 'पिपीलिकादि ब्रह्मांड पर्यन्त' में शिव-केशवों में (हरि-हरों में) राम के दर्शन कर अनन्त भिन्नता में एकता का प्रतिपादन करते हैं और सुंदर समन्वय स्थापित करते हैं। मन में राम की मूर्ति को प्रतिष्ठित कर उनके अनन्य उपासक बन गए। समन्वय का यह मार्ग अद्वैत सिद्धि के मल में निहित है। इस प्रकार ईश्वर के विविध रूपों की उपासना करने वाले त्यागब्रह्म ने अपने मन को एक सीमा में

1. **'चिंतिस्तुन्नाडे यमुडु। संततमु सुजनुलेल्ला सद्भजन चेयुटा चूचि।'**
2. **'तोलि ने चेसिना पूजा फलमु। तेलिसेनू ना पालि दैवमा'॥**
3. **'तोलिने चेसिना पापवन कुठारमा'॥**
4. **'ससारु लैते ने मय्या, शिश्वि पिंछावतंसु डेदुटा नुडेगा'।**

बाँधकर रामचन्द्र के दिव्य मंगल रूप पर केन्द्रित हो गया इसी स्थिति में उन्होंने कहा 'दस अवतारों में राम का अवतार ही श्रेष्ठतम है।'[1]

इनके भक्ति रस संबंधी कीर्तनों के आलम्बन कभी-कभी अन्य देवी-देवता भी बने हुए हैं। गणेश जी[2] त्रिपुर सुंदरि[3] (दुर्गामैया) शंकरजी[4] तुलसी[5] कृष्ण, लक्ष्मण-भरण, पवनसुत सीता माता आदि का भी समय-समय पर स्मरण किया गया है। कभी इनकी स्तुति की गई तो कभी भगवान् राम तक भक्त का आर्तनाद पहुँचाने का माध्यम बनाया गया। एक मनोवैज्ञानिक बात इन प्रसंगों में दिखाई देती है। परिवार के सदस्यों की, इष्टजन की परिजन की प्रशंसा करनेसे यजमान संतुष्ट एवं प्रसन्न हो जाता है कई कीर्तनों में इसी मनोविज्ञान का सहारा लिया गया।

'त्यागराज' वास्तव में सार्थक नाम है। 'त्याग में अग्रगण्य' इसका शाब्दिक अर्थ है। सभी सांसारिक इच्छाओं को त्यागकर महलों को त्यागकर चन्दन आदि सुगन्ध द्रव्यों को छोड़कर, आजीवन तपस्या में ही संलग्न, अंगों पर भस्म लगाए हुए, श्मशाम वटिक को अपना निवास स्थान बनाए हुए महादेव शंकर का नामधेय है—तिरुवारुर को अपना स्थिर निवास बनाने के उपरान्त त्यागराज के पितामह 'गिरिराज कवि' का पाँचवाँ पुत्र राम ब्रह्मम् का सीतम्मा से विवाह उनके दो पुत्रों का जन्म, ये दोनों पुत्र पंचापकेशं तथा शिमनाथं से आतंकित पति-पत्नी वहाँ के सुप्रसिद्ध देवता त्यागराज स्वामी की सेवा में संलग्न रहे। स्वामी प्रसन्न होकर स्वप्न में दर्शन दिए—और कहा—'वाल्मीकि-नारद-सरस्वती के अंशों से सुगुणवान् सुपुत्र की प्राप्ति होगी।' — पुत्र का जन्म हुआ। उसे.वही नाम 'त्यागराज' दिया गया। क्योंकि वह 'त्यागराज' का वर प्रसाद माना गया। ऐसे त्यागराज ने सारा जीवन त्याग के ही मार्ग पर चलकर व्यतीत किया।

इनके त्याग का एक उत्कृष्ट उदाहरण है इनके 'आनन्द भैरवी' राग का त्याग। किसी नौटंकी वालों से नृत्य देखने को त्यागय्या आमंत्रित हुए। आनंद भैरवी में बंधे हुए कीर्तन से जो नृत्य के समय गाया गया, वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। तुरन्त नौटंकी वालों ने त्यागराज से प्रार्थना की कि 'यदि हमारे इस कीर्तन को आप युग-युगों तक जीवित रखना चाहेंगे तो आप इस आनंद भैरवी राग में कृपा कीर्तनों की रचना मत कीजिए-अन्यथा हमारा यह गीत जीवित नहीं रह सकेगा।' त्यागराज ने

---

1. **'पदि बेसाललो रामावेसमे मेलू'॥**
2. **'श्रीगणनाथ भजाम्यहं', 'गिरिराज सुतातनया सदया'...॥**
3. **'सुंदरि निन्नु वर्णिपा ब्रह्मादि सुरलकैना तरमा' आदि कीर्तन।**
4. (1) **'शंभो शिव शंकरा, गुरु अंभोरुह नयना'**
   (2) **'शिव शिव शिव यनरादा ओरी'—**
5. (1) **'श्री तुलशम्मा मा इंटा नेलाकोना वम्मा'॥**
   (2) **'अम्मा रावम्मा तुलशम्मा, ननु पालिंपा'॥**

विशाल हृदय का परिचय देते हुए उन्हें वचन दिया—'ऐसा ही होगा'। यही कारण है कि त्यागराज का एक भी कीर्तन इस राग में पाया नहीं जाता।

इस प्रकार इह लोक के सुखों को त्यागराज ने भक्ति मार्ग पर न्योछावर तो किया था परन्तु रागों का त्याग भी इनके जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। एक संगीतज्ञ के लिए इससे कठिनतम काम और क्या हो सकता है? एक और उल्लेखनीय बात यह है कि इन्होंने सांसारिक सुखों को ही नहीं अपने सभी सत्कर्मों के फल को भी राम के चरणों में समर्पित कर दिया। अत: 'कर्मफलत्यागी' कहलाते हैं। इस दृष्टि से भी त्यागराज का नाम सार्थक है। इनमें गीता में उल्लिखित दिव्य नैतिक धर्म संबंधी सभी गुण घर कर लिए हैं। जो मानव अपने सत्कर्मों का फल त्याग सकता है उसके लिए सांसारिकता को छोड़ना कोई कठिन काम नहीं है।

जिस प्रकार अग्नि में तपकर ही सोने का रंग निखर आता है, उस सोने पर सुहाग-विरह से व्याकुल त्यागराज का भक्त-मन तपकर भक्ति रस से आप्लावित होकर संगीत के द्वारा, कीर्तनों के द्वारा व्यक्त होकर परिपक्व स्थिति में पहुँच गया। यह स्थिति पूर्व जन्म के सुकृत के कारण ही सम्भव है। कीर्तनों के अतिरिक्त त्यागराज ने अपनी अन्य कृतियों में[1] इसी प्रकार की भक्ति रस की धारा को प्रवाहित किया।

विविध रामायणों का ज्ञान भी इनके कीर्तनों में परिलक्षित होता है। भागवत् जैसे पुराणों से इन्होंने मधुर भक्ति आदि के प्रभाव को ग्रहण किया। रामायणों में वाल्मीकि रामायण का प्रभाव तो है ही। तदनन्तर उत्तर रामायण[2] आध्यात्मिक रामायण[3] अद्भुत रामायण[4] 'भुसुंडि रामायण*[5] आनन्द रामायण[6] आदि विविध-रामायणों के क्षीर सागर का मंथन कर, संप्राप्त अमृत को संसार में बाँट दिया।

डॉ० राघवन का कहना है कि भुसुंडि-अध्यात्म रामायण तुलसीदास के लिए भी मार्ग दर्शक है, तथा त्यागराज के मधुर भक्ति का मूल आधार भी ये ही रामायण है।

---

1. प्रह्लाद भक्त विजयमु (2) नौका चरित्रमु (3) सीता राम चरित्रमु (अप्राप्य) ये तीनों त्यागराज की अन्य कृतियाँ हैं।
2. बाली सुग्रीव का वृत्तान्त।
3. रावण द्वारा माया सीता हरण का वृत्तान्त—'कानकेगि याज्ञमीरका मायाकार-मुनिषि शिश्वि चेंतने युंडि'—मा जानकी'
4. सीता माता शक्ति स्वरूपिणी है इस विश्वास का आधार अद्भुत रामायण है।
5. 'दस अवतारों में श्रेष्ठतम रामावतार ही है।' रावण के समझौते पर आने से अयोध्या का राजा बनने का प्रस्ताव, राम को.....
   'सरस सामदान भेददंड चतुर' के रूप में प्रस्तुत करना इसी का प्रभाव है।
6. 'सत्य वचन पालन', 'रामबाण', एक पत्नीव्रत' आदि के दस अवतारों में रामावतार की श्रेष्ठता प्रतिपादन का आधार यह रामायण है।

इस प्रकार त्यागराज के विविध रामायणों का परिज्ञान आश्चर्य जनक है। आस्तिक संसार के लिए त्यागराज गुरु के समान मार्गदर्शक बने।

इस प्रकार राम भक्ति साम्राज्य का सम्राट त्यागराज स्वयं नाद-सुधा रस का पान कर भक्ति रस में आजीवन मग्न रहने का सौभाग्य प्राप्त कर संसार को यह संदेश दिया कि बिना भक्ति की पूजा पूजा-द्रव्य को व्यर्थ करती है। त्यागराज ने संसार के सामने यह भी प्रकट किया कि 'भक्ति-मुक्ति दायक कीर्तनों की रचना मैंने संसार को दिया।[1] मन से विनती करते हुए कहते हैं कि 'हे मन! मैं तुम्हारी इस अनुशासन हीनता को कैसे सह सकूँ? मैंने तुम से कहा कि दिनकर कुल भूषण राम हैं उसका भजन कर विनम्र होकर जीवन बिताओ पर तुमने मेरी एक न माना। तुम गुणहीन हो।[2]

उत्तमोत्तम संस्कृति सभ्यता संगीतज्ञता, विद्वत्ता, भक्ति आदि साधारणतया एक स्थान पर अप्राप्य है। परन्तु दक्षिणवासियों के सौभाग्यवश ये सारे सद् लक्षण उस परिवार में पाये जाते हैं जिसमें त्यागब्रह्म का जन्म हुआ। श्रीराम के ध्यान में प्रजा-अर्चना उपासना, कीर्तन-रचना, नाम-संकीर्तन, तारक-मंत्र जप आदि से निरंतर भगवान् की चिन्ता में सारे जगत् को 'राममय' देखकर प्रसन्न चित्त से सारा जीवन व्यतीत करने वाला महानुभाव था त्यागराज। जीवन को राम के चरणों में अर्पित कर देने से उन्हें अनन्त एवं शाश्वत सुख प्राप्त हुआ। ऐसी बात नहीं थी कि उनसे ईर्ष्या करने वाले-कोई वैरी नहीं था। अग्रज जायेशु से लेकर कई सगे संबंधी, अपने आपको बड़े से संगीतज्ञ समझने वाले अनेकानेक पाखंडी विद्वान आदि ने भी उन्हें कम दुख नहीं दिया। यह दुख उनके कीर्तनों में यत्र-तत्र व्यक्त होता है।[3] दुखदायक लोगों के प्रति भी दया दिखाने की महानीयता त्यागराज के व्यक्तित्व में समाया हुआ है। अग्रज जायेशु की अनारोग्य स्थिति में उनकी रक्षा के लिए राम से प्रार्थना करते हैं।[4]

***

---

1. 'भक्ति मुक्ति कलुगु ननि कीर्तनमुला बोधिं चिना त्यागराजाकूर्चिता'॥
2. 'मनसा एटुलोर्तुने नामनविनि चेकोनवे........
   दिनकरु कुलभूषणुनि दीनुडवै भजन चेसि दिनमु
   गडुपु मनिना, विन वदेला, गुणहीना'.........।
3. 'अन्यायमु सेयकुरा! नापूर्वजु बाधा तीर्पगलेवा'—
4. 'प्रारब्ध मिट्लुंडगा परुला तना पनिलेदु। नीवुंडगा',
   'ईवरकु चूचिनदि चालदा? इका नी रीतेना', 'नादु पै पलिकेरु नरुलु', 'कलियुग मनुजुलु नीकु महत्वमु कलदु, लेदनु कालमाये', 'अनेक जगदाधारिवि नीवने नादुपै विने चाडी चालुने' आदि।

चतुर्थ अध्याय

तुलसी एवं त्यागराज की कृतियों में भक्ति-रस

4.1 भक्ति गीतों में रस

4.1.1 हिन्दी-साहित्य तुलसी पूर्व और समकालीन भक्ति गीत

हिन्दी में भक्तिपूर्ण गेय पदों के आदिकवि विद्यापति ही माने जा सकते हैं। भक्तिपूर्ण पद उनके पदों में बहुत ही कम हैं। राधा और कृष्ण इनके आराध्य नहीं थे। वे शैव थे। इसलिए उनके भक्तिपूर्ण पद चंडी और शिव के सम्बंध ही में मिलते हैं। एक पद इस प्रकार है—

जय-जय भैरवि असुर-भयाउनि
पशुपति-भामिनि माया।
सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि
अनुगति गति तुअ पाया।
बासर-रैनि सवासन सोभित
चरन, चन्द्रमनि चूड़ा।
कतओक दैत्य मारि मुँह मेलल,
कतओ उगिल कैल कूड़ा।
सामर बरन, नयन अनुरंजित
जलद-जोग फुंल कोका
कट कट विकट ओठ-पुट पाँडरि
लिधुर फेन उठ फोका।
धन धन धनए युधुर कत बाजय,
हन हन कर तुअ काता।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक
पुत्र विसरु जनि माता।[1]

---

1. विद्यापति की पदावली 38.

विद्यापति के बाद भक्तिपूर्ण पद लिखने वालों में कबीर आदर के योग्य हैं। यह बात दूसरी है कि इनकी भक्ति निर्गुण भक्ति है लेकिन कबीर भक्त हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। एक भावपूर्ण पद का उदाहरण लीजिए—

तुम बिन राम कवन सौ कहिये,
लागी चोट बहुत दुःख सहिये (टेक)
बेध्यौ जीव विरह कै भालै, राति दिवस मेरे उर सालै।
को जानै मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद वहि गयौ सरीरा।
तुम से बैद न हमसे रोगी, उपजो बिथा कैसें जीवै बियोगी।
नित बासुरी मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आई मिले राम राई।
कहत कबीर हमकी दुख भारी, बिन दरसन क्यूँ जीवहि मुरारी।[1]

4.1.2 निर्गुण संतों के भक्ति-गीत

निर्गुणिया सन्तों की परम्परा में भक्तिपूर्ण पदों के रचयिताओं में रैदास तथा धरनीदास के नाम उल्लेखनीय हैं। पहले रैदास के एक पद का उदाहरण दिया जाता है जिसमें आराध्य अपने आदर्श के दर्शन के लिए अपनी अपार उत्कंठा व्यक्त करता है—

दरसन दीजै राम, दरसन दीजै,
दरसन दीजै विलम्ब न कीजै।
बरसन तोरा जीवन मोरा। बिन दरसन क्यों जिव चकोरी।
साधो सतगुरु सब जगचेला। अबके विधुरे मिलन दुहेला॥
धन जीवन की झूठी आसा। सत सत भाषें जन रेदासा।[2]

नानक के अधोलिखित पद में परमात्मा की सर्वव्यापकता के प्रति एकांत निष्ठा द्रष्टव्य है। उनका कहना है—

आपे रसीआ अपि रसु, आपे रावण हाए
आपे होवे चोलड़ा, आपे सेज मताए
रंगरिता मेरा साहिबु, रवि रहिआ भरपूरि-
आपे माछी मछुली, आपे पाणी जालु
आपे जाल भणकड़ा, आपे मन्दिर लालु
नित खे सोहागणी, देखु हमारा हालु

---

1. कबीर ग्रंथावलीः सम्पादक श्यामासुन्दर दास, पृ. 185
2. संतकाव्यः परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 221

प्रणवे नानक बेनती, तू सरवरु तू हँसु
कउल तहै कवीआ तू हैं, आदे बेखि विगसु।[1]

धरमदास ने अपने इस पद में परमात्मा और गुरु की एकतानता निर्घोषित की है—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजं, खन बिजुली चमकै, लहरि उठे सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसं, प्रेन अनंत है साधु सहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अंधियरिया धनि सतगुरु जिन दिया लखाय॥
धरमदास विनवैं करी जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय।[2]

4.1.3 कृष्णभक्ति कवियों के भक्ति गीत

कृष्ण भक्त कवियों में अष्टाछाप के कवि भक्त-विह्वल पद लिखने में विख्यात है। लेकिन अष्टछाप में भी सूरदास सर्वश्रेष्ठ हैं। ये तुलसीदास के पूर्ववर्ती तथा ईपत्काल तक समकालीन भी कहे जा सकते हैं। सूरदास पूर्ण भक्त थे। व्यापकता की दृष्टि से सूर का काव्य तुलसी की तरह नहीं है। उनके पद कृष्ण के बाल और किशोर जीवन से ही सम्बंधित है। किन्तु इतने सीमित क्षेत्र में ही सूर ने भक्ति के असंख्य भाव अभिव्यंजित किये हैं। इससे उनकी कल्पना की उर्वरता और भक्ति की तल्लीनता का पता चल जाता है। उनके भक्ति पदों में से एक देखिए यह कितना सरस और मार्मिक है—

मन-बच-क्रम मन, गोविन्द सुधि करि।
सुचि-रुधि सहज समाधि साठि सठ, दीनबन्धु करुनामय उर धरि।
मिथ्या-बाद विवाद छाँड़ि दै, काम क्रोध मद लोभहि परिहरि॥
चरन-प्रताप आनि उर अंतर, और सकल सुख या सुख तरहरि।
बंदनि कम्हो सुमतिहूँ भाष्यौ, पावनपतित नाम निज नरहरि॥
जाको सृजन सुनत अरु गावत, जंहै पाप-बूँद भजि भरहरि।
परम उदार, श्याम-धन सुन्दर सुखदायक संतत हितकर हरि॥
दीनदयाल, गोपाल, गोपपति, गावंत ग्रुन आदत ढिग ठरहरि।
अति भयभीत निरखि भवसागर, धन क्यौ घेरि रम्हो घट घरहरि॥

---

1. **सन्तकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी**, पृ. 240
2. **हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल**, पृ. 83.

अजहूँ चेत मूढ़ चहुँ दिसि तै, उपजी काल अपिनि झर झरहरि॥
सूर काल-बल व्याल ग्रसत हैं, श्रीपति तरन परत किन फरहरि॥[1]

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त गीतों का मधुर प्रवाह बहाया स्वामी हितहरिवंश ने। ये तुलसीदास से वय में बड़े थे। इनके पद विद्यापति और जयदेव के पदों से होड़ लेते हैं। ये राधा जी के भक्त थे। माधुर्य गुण से सन्निविष्ट एक पद देखें—

बज नव तरति कदंब मुकुट-मनि स्यामा आजु बनो।
नख सिख सौ अंग-अंग माधुरी मोहे स्याम घनो॥
यों राजति कबरी गूथित कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चंद्रि कन बीच अधरविश्रु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर सवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
मृकुटी काम कोदंड नैन शर कज्जल-रेख अनी॥
भाल तिलक ताटक गंड पर नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, गौतम मन समनो॥
हितहरिबंस प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनो।
गाव श्रदमनि सुनत सुखाकर विश्व दुरति दवनी॥[2]

तुलसीदास के समकालीन सन्तों में मीराबाई भी थीं जो स्वयं भक्ति की अवतार-सी थीं। इनके पद भक्ति से पूर्णतः ओतप्रोत हैं। अपने प्रभु की चरणोपासना से सम्बन्धित पद में मीरा कहती हैं–

मण थें परस हरि रे चरण।
सुभग सीतलकंवल कोमल जगत ज्वाला हरण।
इण चरण प्रह्लाद परस्यो, इन्द्र पदवी धरण।
इण चरण ध्रुव अटल करस्यॉं, सरण असरण सरण।
इण चरण ब्रह्माण्ड भेट्यॉं नखसिखॉं सिरी करण।
इन चरण कलियॉं नाथ्यॉं, गोपीलीला करण।
इन चरण गोवरधन धारयॉं गरब मघ्वा हरण।
दासि मीरॉं लाल गिरधर अगम तारण तरण।[3]

---

1. सूरसागर: सम्पादक-नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 103
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं. रामचंद्र शुक्ल, पृ. 181
3. मीराबाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 131, पद-1

4.1.4 राम-साहित्य में भक्ति गीत

रामभक्ति परम्परा में पद लिखने वाले बहुत कम कवि हुए हैं। स्वामी रामानन्द के लिखें कुछ स्तोत्र बतलाते हैं। हनुमानजी की स्तुति में लिखा गया उनका एक पद इस प्रकार प्रचलित है जिसे मित्र बन्धुओं ने अपने 'विनोद' तथा शुक्ल जी ने अपने इतिहास में उद्घृत किया है—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट दलन रघुनाथ कला की॥
आनि सजीवनि प्रान उबार्‌यो। मही राबन के भुजा उखारयो॥
गाढ़ परे कपि सुमिरो तोही। होहु दयाल देहू जन मोहीं॥
लंका कोट समुन्दर खाई। जात पवनसुत बार न लाई॥
जो हनुमान जी की आरति गावै। बलि बैकुण्ठ अमर पद पावै॥

4.2 विनयपत्रिका में भक्ति-रस

4.2.1 शुद्ध भक्ति-रस

तुलसी में परम्परागत ? रस, विश्वनाथ आदि द्वारा स्वीकृत वात्सल्य और वैष्णव आचार्यों द्वारा स्वीकृत भक्ति-रस, ये सभी रस अभिव्यक्त हैं। भक्ति-रस मुख्य अथवा अंगी है, अन्य रस गौण हैं। तुलसी की दृष्टि में भक्ति ही वास्तविक रस है, अन्य काव्य-रस काव्य की आत्मा नहीं बन सकते। वे काव्य-सरोवर के जलधर हैं। रामचरित रूपी शीतल जल इन जलचरों का प्राणाधार है। इन रसों के न होने पर भी तुलसी का भक्ति-काव्य अकाव्य नहीं बनता। भद्‌दी कविता को भी राम-नाम के कारण तुलसी कलियुग में मंगलकारिणी मानते हैं—

1. **नव रस जप तप जोग विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।**[1]
2. **भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम-कथा कलि मंगल करनी।**[2]
3. **कलिमल-हरनि मंगल-करनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।**[3]

भक्ति रस-रहित काव्य तुलसी की दृष्टि में विषय-कथासर है। काव्य-सरोवर के लिए उनकी उपयोगिता घोंघे, मेंढक और सेवार के समान है।[4] भक्ति-रस के अनिवर्चनीय आनन्द की तुलना में ये सभी रस अनरस हो जाते हैं।[5]

---

1. मानस, 1. 37. 10.
2. वही, 1. 10. 5.
3. वही, 1. 10. 5. छन्द।
4. वही, 1. 38. 2—संबुक भेक सेवार समाना।
5. विप., 169.।

तुलसी की भक्ति-भावना आदर्श दास्य भाव की है। इसमें उच्च कोटि के ज्ञान, विवेक और वैराग्य का योग है। डॉ. प्रेम स्वरूप गुप्त ने तुलसी के काव्य में काव्य-रस और भक्ति-रस के योग और समन्वय से रस-परिकल्पना के चार रूप प्रस्तुत किए हैं[1]—

1. केवल भक्ति-रस की परिकल्पना-इसमें कवि की दृष्टि न तो काव्य-रसों के परिपाक की ओर गयी है और न भक्ति के किसी अन्य रूप की ओर। इन प्रसंगों में केवल विशुद्ध भक्ति-रस की परिकल्पना है।
2. अंगभूत काव्य-रसों द्वारा परिपुष्ट अंगी भक्ति-रस की परिकल्पना।
3. भक्ति-रस के अंगी के रूप में न होकर एक व्यापक भावना के रूप में काव्य-रसों का परिपाक।
4. आदर्श भक्ति-रस के साथ अन्य रस-रूपों के समन्वय की परिकल्पना।

इन चारों में पहली तीन परिकल्पनाएँ तुलसी के आदर्श भक्ति-रस और काव्य-रसों के पारस्परिक योग के कारण हैं। चौथी परिकल्पना भक्ति-रस के साथ उसके अन्य रूपों के समन्वय-दृष्टि का परिणाम है। प्रथम तीन में काव्य-रसों की स्थिति क्रमशः नगण्य, अंगरूप और प्रधान है। भक्ति-रस क्रमशः एक मात्र, अंगी और गौण है। इन चार परिकल्पनाओं के परिचायक तुलसी के क्रमशः चार ग्रन्थ हैं—'विनयपत्रिका', 'मानस', 'कवितावली' और 'गीतावली'।

'विनयपत्रिका' में भक्ति-रस अंगी है। अन्य रस अंग हैं। पं. चन्द्रबली पाण्डे का मत है कि 'विनयपत्रिका' शान्त रस का ग्रन्थ है। उसमें जहाँ-तहाँ सभी रस दिखायी दे जाते हैं? पर जो भी आदि से अन्त तक बना रहता है वह निर्वेद है।[2] डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'विनयपत्रिका' में केवल एक ही रस है और वह है शांत'[3] यहाँ 'विनयपत्रिका' के रस-सम्बंधी विश्लेषण प्रस्तुत हैं।

'विनयपत्रिका' में शुद्ध भक्ति रस के दो रूप हैं—दास्य भक्ति-रस और शान्त भक्ति-रस। दास्य भक्ति-रस की अभिव्यंजना अधिकतर पदों में है। कुछ पदों में निर्वेद (विवेक, तत्वज्ञान आदि)—मूलक स्वतंत्र शान्त रस का निबन्धन भी है। पर विनयपत्रिका की समूची भावधारा के बीच इन पदों की रस-परिकल्पना पर विचार करने से स्पष्ट है कि इनमें शान्त भक्ति-रस है।[4]

'विनयपत्रिका' की भक्ति उदात्त वैराग्य, विवेक और तत्वज्ञान पर आश्रित है।

---

1. **हिन्दी-वैष्णव-साहित्य में रस-परिकल्पना**, पृ. 252.
2. **तुलसी**—पृ. 249-51.
3. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, पृ. 420.
4. **हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रसपरिकल्पना**, पृ. 359-60.

अतः उसमें भक्ति और शान्त दोनों एक हो गए हैं। प्रभु-चरणों के प्रति अनुराग की प्रबल धारा के मूल में सभी सांसारिक सम्बंधों के प्रति गहरे विराग की भावना है। फिर भी अभिव्यंजना और परिकल्पना के आधार पर कहीं शुद्ध भक्ति-रस, कहीं शान्त भक्ति-रस तथा कहीं शुद्ध शान्त रस की अभिव्यक्ति है।[1] शुद्ध शान्त रस के स्थलों में शान्त का स्थायी भाव शम अधिक प्रभावशाली है, भक्ति अपेक्षाकृत गौण है। अतः भक्ति को शान्त का अंग मानना होगा।

'विनयपत्रिका' में काव्य-रसों की स्थिति, स्वतंत्र अथवा अंग किसी भी रूप में, नहीं दिखायी देती। अनेक भावों की जो झलक यहाँ है वह भाव-व्यंजना तक ही रह जाती है, रस-दशा तक नहीं पहुँच पाती। कवि ने इसका विभावादि द्वारा पोषण नहीं किया है।

4.2.2 दास्य भक्ति-रस

'विनयपत्रिका' की दास्य-भक्ति, भक्ति का मूल है। राम की महिमा और भक्त की लघुता—

राम सो बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो।[2]

इस मूल भाव की परिधि अत्यन्त व्यापक और विविध रूप वाली है। भक्त के आलम्बन राम की शक्ति, शील, सौन्दर्य, आलौकिक महत्व, उनकी पतित-पावनता, भक्त-वत्सलता के साथ भक्ति के आश्रय तुलसी का लघुत्व, दैन्य, भगवान् में अनन्य निष्ठा, सभी इस बिन्दु में एकाकार हो गए हैं।

'विनयपत्रिका' के आरम्भ में निबद्ध देवों तथा राम के पार्षदों की स्तुतियों[3] में देवादि-विषयक रति भाव की व्यंजना है। इनमें, रूप और गुणों के वर्णन में, कवि ने रति भाव के विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) को प्रस्तुत किया है। यहाँ अनुभाव और संचारी भावों की स्थिति बहुत सबल नहीं है। शिव, हनुमान तथा सीता की स्तुतियों में तुलसी का सहज अनुराग विशेष रूप से अभिव्यक्त हुआ है। देव-स्तुतियों में कवि ने राम-भक्ति की याचना की है। अतः स्तुतियों में अभिव्यक्त देवादि विषयक रति, अंगी अथवा साध्य न होकर, अंग अथवा साधन है। राम के पार्षदों तथा सीता की स्तुतियों में भी कवि का एकमात्र उद्देश्य राम-भक्ति की प्राप्ति है। राम-विषयक भक्ति-रस की स्थिति इनमें नहीं मानी जा सकती। यहाँ राम-विषयक रति भाव की स्थिति ही रह जाती है, रस की स्थिति तक नहीं पहुँचती।

---

1. **हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रसपरिकल्पना**, पृ. 360
2. **विप.**, 72.2.
3. **वही**, 1.—41.

संस्कृत-काव्य की स्तोत्र पद्धति वाली भाषा और छन्द आदि में निबद्ध पदों[1] के द्वारा तुलसी ने राम की जो भव्य स्तुति की है उनमें नाम, रूप, गुण आदि का विस्तृत वर्णन किया है। राम-विषयक रति (स्थायी भाव) के विभाव पक्ष को भी प्रस्तुत किया गया है। इन पदों में प्रायः संचारी भावों और अनुभावों की योजना नहीं है। अतः यहाँ भी राम-विषयक रति एक भाव तक ही रह जाती है।

विनयखण्ड के पदों में संचारी भाव और अनुभावों के मार्मिक निबन्धन के द्वारा भक्ति रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। इन पदों में दैन्य, सम्पूर्ण समर्पण आदि दास्य भक्ति की सभी विशेषताएँ मनोरम एवं मार्मिक रूप में निबद्ध है। द्रष्टव्य है[2]—

1. देव!

तू दयालु दीन हौ, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पापपुंजहारी.......
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै।

2. **देव!**

और काहि मांगिए, को मांगिबो निवारैं.....
रामचन्द्र चन्द्र तू, चकोर मोहिं कीजै।

विनयखंड के कुछ पदों में भक्ति से सम्बद्ध अनेक भाव, जैसे हर्ष, शोक, ग्लानि, संचारी भाव के रूप में, दास्य रति का पोषण करते हैं। अन्त के पदों में प्रेम की प्रबल अनुभूति तीव्र गति से प्रवाहित होती हुई भक्त पाठक के मन को पूर्णतः आप्लावित कर देती है। द्रष्टव्य है[3]—

1. **हौ मचला लै छाड़िहौं, जेहि लागि अर्‌यो हौं।**
   तुम दयालु बनिहै दिये, बलि विलम्ब न कीजिए,
   जात ग्लानि गर्‌यो हौं॥
2. **तुम जनि मन मैला करो, लोचन जनि फेरो।**
   सुनहु राम बिनु, रावरे, लोकहु परलोकहु काउ न कहूँ हितु मेरो॥

4.2.3 शान्त भक्ति-रस

विनयपत्रिका के जिन पदों में शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है, वे दो प्रकार के हैं—प्रथम में विवेक, तत्वज्ञान, मन का उद्‌बोधन जैसी अनुभूतियाँ स्वतंत्र रूप

---

1. **विप.**, 43-64.
2. **वही**, 79, 80.
3. **विप.**, 267.3, 272.1.

में निबद्ध हैं। दूसरे में ये अनुभूतियाँ भगवद्रति का अंग बनकर आयी हैं। प्रथम प्रकार के पदों में शान्त रस तथा दूसरे प्रकार के पदों में शान्त भक्ति-रस की अभिव्यक्ति माननी होगी। शान्त रस के उदाहरण के रूप में पद 111, 121, 137 आदि द्रष्टव्य हैं। इनमें भावों का चित्रण जिस रूप में हुआ है उसमें शान्त रस का स्थायी भाव शम अधिक प्रभावपूर्ण है, भक्ति गौण है। अतः भक्ति शान्त रस का अंग है। शान्त भक्ति-रस को उदाहरण पद संख्या 59, 90, 121, 188 आदि हैं। इनमें संसार की अनित्यता, भयानकता आदि का चित्रण भक्ति के उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है। भक्ति रस की प्रधानता मानते हुए, इन पदों में शान्त रस स्वीकारना होगा।

4.2.4 मिश्रित भक्ति-रस

डॉ. वचनदेव कुमार ने 'विनयपत्रिका' में हास्य, वीर, शृंगार, करुण, रौद्र भयानक आदि रसों की अंग रस के रूप में अभिव्यक्ति मानी है। वे ईश्वर-विषयक रति की अभिव्यक्ति शृंगार रस के अन्तर्गत मानते हैं।[1] पर काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने देवादि-विषयक रति को भाव माना है रस नहीं। डॉ वचनदेव कुमार ने भयानक रस के जो उदाहरण दिए हैं, उनसे उस रस की पुष्टि नहीं होती। हनुमत् स्तुति के प्रसंग में कवि ने वीर, रौद्र, भावों का निबन्धन अवश्य किया है, पर इन भावों की रसरूप में स्थिति विचारणीय है। हास्य की प्रतीति 'बावरो रावरो नाह भवानी'[2] में मानी जा सकती है। पर वहाँ कवि का उद्देश्य शिव की व्याज स्तुति है। इसी प्रकार गर्भस्थ जीव की जुगुप्सापूर्ण स्थिति का चित्रण[3] भक्ति का उद्‌बोधक है, भक्ति-रस की अभिव्यंजना में सहायक मात्र है। इन स्थलों में हास, वीर आदि को, रस न मानकर, भाव मात्र मानना चाहिए, क्योंकि ये रस-कोटि तक नहीं पहुँचाते।

वस्तुतः ये मिश्रित भक्ति रस के स्थल हैं, क्योंकि इनमें भक्ति-रस के स्थायी भाव (भगवद्रति) के साथ अन्य रसों के स्थायी भाव (कामरति, हास, आदि) का मिश्रण है। मिश्रित रस, भाव-सन्धि के समान रस-सन्धि नहीं है क्योंकि एक ही रचना में दो या दो से अधिक भाव रसकोटि तक नहीं पहुँच सकते। भावविशेष की अत्यधिकता के अनुसार एक ही रस तत्वतः रस होगा, अन्य रस का अंग या सहायक बन कर ही रह सकेगा। यदि दोनों भाव प्रधान होंगे तो वे भाव-कोटि तक ही रह जाएंगे। इसलिए मिश्रित भक्ति-रस में भक्ति के साथ निबद्ध अन्य भाव भक्ति-रस के समकक्ष नहीं हो सकते। फिर भी उसे भक्ति का संचारी न मानकर किसी मिश्रित रस का स्थायी ही कहा जाता है क्योंकि वह भाव किसी अन्य रस

---

1. **तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, पृ.** 210.
2. **विप.,** 5.
3. **विप.,** 136. 3.

का स्थायी है तथा उसकी अभिव्यक्ति सामान्य संचारी भावों की तुलना में अधिक सशक्त है।[1] 'विनयपत्रिका' के निम्नलिखित स्थलों में विविध भावों के समन्वय की स्थिति है—

रति

'विनयपत्रिका' में राम के रूप-चित्रण[2] तथा बिन्दुमाधव के नख-शिखवर्णन[3] में कवि की भक्ति-दृष्टि ही प्रधान है। पर मिश्रित भाव के रूप में सौन्दर्यबोध अथवा रति भाव भी यहाँ निबद्ध है। इसी प्रकार नीचे के उद्धरणों में करुण, भयानक, रौद्र तथा वीर भक्ति-रस के पोषणार्थ, मिश्रित भाव के रूप में अभिव्यक्ति हुए है। द्रष्टव्य है—

करुण—

पाहि पाहि राम पाहि रामभद्र रामचन्द्र।
सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन।[4]

भयानक—

जयति जय वज्र तनु दसन नख मुख विकट चन्द्र भुजदण्ड तरु सैल पानी।
समर तैलिक जंत्र तिल-तमीचर निकर पेरि डारे सुभट धालि घानी।[5]

रौद्र—

काल अतिकाल कलिकाल व्यालाद खग त्रिपुर मर्दन भीम कर्म भारी।
सकल लोकान्त-कल्पान्त सुलाग्र कृत दिग्गजाव्यक्तगुन नृत्कारी।[6]

वीर—

चण्ड-भुजदण्ड-खण्डनि विहण्डनि महिष, मुण्ड-मद भंग कर अंग तोरे।
सुम्भ निःसुम्भ कुम्भीस रन-केसरिन क्रोध बारीस और वृन्द बोरे।[7]
बर्म चर्म कर कृपाण सूल सेल धनुष वाण
धरणि दलनि दानव-दल रण-करालिका।[8]

---

1. तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृ. 284-85
2. विप.,—45
3. वही—62. 63
4. वही—248.1
5. वही—25. 7
6. वही—11. 7
7. वही—154.
8. वही—16. 2.

इसके अतिरिक्त हास्य-मिश्रित,[1] शान्त-मिश्रित[2] तथा बीभत्स मिश्रित[3] भक्ति-रस के स्थल भी 'विनयपत्रिका' के कुछ पदों में उपलब्ध हैं।

4.2.5 भक्ति-रस के स्थायी भाव आदि अंग

4.2.5.1 स्थायी भाव

भवरोग के विनाश के लिए रामचरणों में कवि का अनन्य प्रेम 'विनयपत्रिका' के भक्ति-रस का स्थायी भाव है जो आरम्भ से अन्त तक समान रूप से प्रवाहित हुआ है।[4] प्रथम पद में गणेश की स्तुति करते हुए कवि ने उनसे 'बसहिं राम-सिय मानस मोरे' की याचना की है। इसी प्रकार शंकर की स्तुति में[5]—

1. **देहु कामरिपु राम-चरन रति**
2. **तुलसी जाचक जस गावै। बिमल भगति रघुपति की पावै॥**
3. **देहि कामारि श्रीराम-पद-पंकजे भक्ति अनवरत गतभेद माया।**

तथा देवी स्तुति में[6]—

1. **देहि माँ मोहि पन प्रेम यह नेम निज, रामघनस्याम तुलसी पपीहा।**
2. **रघुपति पद-परम प्रेम तुलसी यह अचल नेम**
   देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रणत-पालिका।

जैसे स्थल भगवद्रति रूप स्थायी भाव के परिचायक हैं। गंगा, हनुमान् तथा सीता से भी कवि ने इसी प्रकार राम-रति की याचना की है।

4.2.5.2 आलम्बन विभाव

शक्ति, शील और सौन्दर्य के परम धाम राम तुलसी के आराध्य हैं। वे शोभा, सम्पत्ति, ज्ञान और गुण के मन्दिर हैं। अत्यन्त सुन्दर और परम उदार हैं। संतों को प्रसन्न करने वाले, अखिल पापों और विषय विकार आदि के नाशक हैं।[7] इन विशिष्ट गुणों से युक्त राम और उनकी करुणा दया, उदारता आदि गुण तुलसी की दास्य भक्ति के आलम्बन हैं।

---

1. **विप.**,—5.
2. **वही**, 73, 121, 188, 200 **आदि।**
3. **वही** —136. 3-4.
4. **वही**,—103, 104
5. **वही, क्रमशः** 3.4, 6.5, 10.9
6. **वही**—15.5, 16.3.
7. **वही**—85, 93, 97-100, 104, 107 **आदि।**

4.2.5.3 उद्दीपन विभाव

'विनयपत्रिका' के प्रारम्भ में संस्तुत गणेश आदि देवता, राम के पार्षद काशी, चित्रकूट आदि तीर्थस्थान, गंगा, यमुना आदि पवित्र नदियों, संत भक्त उनके गुण तथा उनका संग इत्यादि रामरति रूप स्थायी भाव को उद्दीप्त करते हैं। चित्रकूट तथा काशी के वर्णन में कवि ने स्पष्टतः इन तीर्थों को भगवद्रति का उद्दीपक बताया है[1]—

1. **तुलसी जो रामपद चाहिए प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम**
2. **तुलसी बसि हरपुरी राम-जपु जो भयो चहै सुपासी।**

ये उद्दीपन विभाव हैं। इनके अतिरिक्त कवि ने अनेक पदों में संसार की अनित्यता[2] दुखात्मकता[3] एवं भ्रामकता[4] आदि कामार्मिक चित्रण किया है और उनके द्वारा संतप्त मानव को राम-चरणों में प्रीति करने का उपदेश दिया है। ये वर्णन भी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत हैं। कहीं-कहीं उद्दीपन विभावों का प्रयोजन दोहरा है। यथा—

घोर अवगाह भव-आपगा, पापजलपूर दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर अपारा।
सकल संघट सोच बस सर्वदा दास तुलसी विषय गहन ग्रस्त।।[5]

ऐसे स्थलों में संसार की त्रासदी आदि जीव के भक्तिभाव तथा भगवान् की करुणा दोनों के उद्दीपन हैं।

4.2.5.4 अनुभाव

भक्तिभाव में निमग्न भक्त में प्रकट होने वाले लक्षण अनुभाव हैं। 'विनयपत्रिका' के कुछ पदों में भय, हर्ष, साश्रु, नेत्र, गद्गद वाणी, और गहबर मन आदि अनुभावों का कवि ने स्पष्ट संकेत किया है। जैसे[6]—

1. **अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमान डरौ।**
2. **सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर।**
   गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भव-पीर॥
3. **प्रभु गुन सुनि मन हरिष है, नीर नयननि ढरिहै।**
   बिस्वास प्रेम लखि आनन्द उमगि उर भरिहै॥

---

1. **विप., क्रमशः** 23.9, 22.9.
2. **विप.,** 66, 111, 118, 1-1 **आदि।**
3. **वही,** 59, 119-21, 136 **आदि।**
4. **वही**
5. **विप.,** 59.9.

4.2.5.5 संचारी भाव

तुलसी ने राम के माहात्म्य और गुण के साथ-साथ अपनी दीनता, हीनता, लघुता आदि भावों का बार-बार उल्लेख किया है। इन विविध आत्मनिवेदनों और संवेदनों में भक्ति-रस के पोषक अनेक संचारी भाव निबद्ध हैं। पत्रिका के अनेक पदों में संसार एवं उसके विषयों के दोष-वर्णन में निर्वेद व दैन्यभाव की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे[1]—

ताँबे से पीठी मनहुँ तनु पायो।
जिन्ह भूपनि जग-बीति बाँधि जम अपनी बाँह बसायो।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हे तू गिनती कब आयो॥

श्रम[2], तर्क[3], त्रास[4], हर्ष[5], क्रीड़ा[6], और ग्लानि[7] आदि संचारी भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति भी 'विनयपत्रिका' के पदों में हुई है।

इन विभाव अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा भक्त अपनी भगवद्रति की निरन्तर वृद्धि चाहता है—

हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।[8]

इन भावों को राम पदों में अर्पित करने के बाद, उस पर राम की स्वीकृति पाकर कवि मनोराज्य में ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द परस्पर विनयपत्रिका के परिणाम फल हैं।

4.2.6 निष्कर्ष

तुलसी के अनुसार श्रेष्ठ काव्य वह है, जिसमें दोषरहित गुणरहित, अलंकृत एवं सरस शब्दार्थ का मंजुल समन्वय हो और सर्वहित की मंगलमयी भावना हो। 'विनयपत्रिका' इन विशेषताओं से अलंकृत है। भवभूति ने परम्परा के विरुद्ध करुण रस को अंगी बना 'उत्तररामचरित' की रचना की थी। तुलसी ने परम्परागत शृंगार की रसराजता को पूर्णतः निराकृत करके तथा अन्य करुण आदि रसों को प्रधान मानने वालों की उपेक्षा करके, भक्ति-रस को अंगी बना कर, 'विनयपत्रिका' की रचना की है। भक्ति के आचार्यों ने अनेक दार्शनिक युक्तियों द्वारा भक्ति का रसत्व

1. **विप.**, 200. 1-3
2. **वही**, 94. 2.
3. **वही**, 143. 8, 243. 4-5
4. **वही**, 92. 5.
5. **वही**, 279-2-3, 220. 10.
6. **वही**, 142.1, 208. 1.
7. **वही**, 195.4, 199. 4. 5.
8. **वही**, 103. 2.

सिद्ध कर दिया था पर उसके निदर्शन के लिए 'विनयपत्रिका' जैसे उत्तम काव्य की आवश्यकता बनी हुई थी।

काव्य की दृष्टि से इसके भावपक्ष के केन्द्र में अंगी के रूप में सर्वत्र भक्ति-रस की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। भक्ति-रस के विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का भी यहाँ यथोचित संनिवेश है। इसमें भक्ति-रस के मुख्य आलम्बन भगवान राम हैं। सीता उनकी अभिन्न शक्ति हैं। आलम्बन के दूसरे वर्ग में कृष्ण आदि अवतार तथा शंकर जैसे देवता हैं। तीसरा वर्ग रामभक्तों का है, जिनमें हनुमान् प्रमुख हैं। आलम्बनगत उद्दीपन विभाव में राम के शारीरिक सौन्दर्य वस्त्र, आभूषण एवं विविध लीलाओं का तथा आलम्बन ब्राह्य उद्दीपन विभाव में चित्रकूट, काशी जैसे तीर्थों तथा संतों के सेवन आदि का वर्णन है। भक्ति से उत्पन्न स्तम्भ, रोमांच, अश्रु आदि अनुभाव के रूप में वर्णित हैं। भक्ति-रस के संचारी भाव के रूप में निर्वेद तथा दैन्य का प्राधान्य है। शंका, चिन्ता, आवेग आदि के संयोग से भी अनेक पदों में भक्ति-रस की व्यंजना हुई है। 'विनयपत्रिका' में तुलसी की दृष्टि न तो अन्य काव्य-रसों के परिपाक की ओर गई है और न, दास्य भक्ति के अतिरिक्त, भक्ति के किसी और रूप की ओर। इसमें सेव्य-सेवक भाव वाले विशुद्ध भक्ति-रस की परिकल्पना है, अन्य काव्य-रस केवल भाव-कोटि तक ही रह गए हैं, उनकी रस-रूप में निष्पत्ति नहीं हो सकी है। अतः विशुद्ध भक्ति-रस की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' तुलसी की अप्रतिम कृति है।

4.3 त्यागराज के कीर्तनों में भक्ति-रस

षट् गोस्वामी आदि वैष्णव भक्ति के आलंकारिकों के द्वारा उल्लिखित भक्ति-रस के पाँच प्रकारों के साथ-साथ नवधा भक्ति के नौ प्रकारों का भी पालन करते हुए भारत के द्वारा उल्लिखित आठ रसों को भी अपनी भक्ति-रस के अन्तर्गत स्थान देकर अपने शान्त स्वभाव के कारण शान्त को इन सब प्रकारों का मूल आधार बनाकर, अंत में सभी रसों की भक्ति-रस के अन्तर्गत समाहित कर, उसके अंग बनाकर, अन्ततः आलम्बन राम को इन सभी अंग रसों का आलम्बन बनाकर त्यागराज ने अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। 'कीर्तनों द्वारा भक्ति का प्रतिपादन' जो इनका जीवन लक्ष्य है वह सफल एवं सार्थक हुआ। उनकी दृष्टि में भक्ति एक ही रस है। उस रस सागर में मग्न जीव ही मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी है। राम कथा सुधारस का पान मूल्य एक नहीं दस, सौ, हजारों राज्यों से भी बढ़कर है। वह अमूल्य है। वह एक ऐसा धर्म आदि अखिल फलों का परिणाम है। परम साध्वी सीता मैया, आदर्श प्राय तीनों अनुज, अनन्य सेवक पवन पुत्र आदि से आनन्दपूर्वक परिवार बसाने वाले श्रीराम का पुण्य चरित्र एक अमृत भांड है जिस के पान करने का मूल्य हज़ारों साम्राज्यों से भी बढ़कर है। ऐहिक राज्य में राजा जो मुकुट धारण करता है वह काँटों का होता है। परन्तु भक्ति साम्राज्य में जो

भक्ति-रस का पान कर मस्त रहते हैं उनके लिए इस प्रकार के मुकुट धारण की समस्या ही नहीं है। इस राम कथा नामक सुधारस के पान से इहलोक ही नहीं परलोक को साधने के कई उपाय भी मालूम पड़ जाते हैं। इससे मानव कितने ही कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। कर्म बंधन जलते हुए सागर के समान है। उस सागर को पार कराने वाले एवं मात्र नाव यह रामकथा सुधा रस ही है। अर्थात प्रारब्ध कर्म का नाश करने वाला है, रामकथा। धैर्य-आनन्द रूपी सौख्य प्रदायिनी है रामकथा। कलि द्वारा प्राप्त होने वाले दुख का भंजक है, रामकथा।[1] इस कथा का नायक राम एक असामान्य पुरुष है। इनकी असामता, अनन्यता के कारण अनेक हैं। 'मरुवम्'[2] के कोमल पत्ते के समान, अम्लान एवं सदा सुगंध को फैलाने वाले 'मरुवम्' के कोमल पत्तों के समान सदा साथ देने वाली धर्मपत्नी, सदा मकरन्द के समान मधुर वचन कहने वाले अनुज आदि उनमें उल्लेखनीय है। अर्थात अमल-विमल, सदा संतोष आनंददायक, अन्योन्य प्रेम से परिपूर्ण उनके परिवार के समान सुखी परिवार अन्य किसी देवता के भाग्य में नहीं है। अपूर्व अनुराग-सुधा से परिपूर्ण राम की स्थिति का वर्णन कर भक्त त्यागराज भक्ति रसांबुधि में मग्न हो जाते हैं।[3] ऐसे राम के प्रति जो अनुरक्त नहीं है उन्हें भक्ति रस का आस्वादन किस प्रकार होगा। असम्भव है। उनका दुर्भाग्य भी।

आलम्बन में आश्रय भक्त अपने समग्र-पूजा या पूजा विधान का समग्र रूप देखकर धन्य हो जाता है। भक्त के जीवन का आधार पूर्व जन्म का फल, नेत्रों का प्रकाश, नासिका का सुगन्ध, जप-वर्ण का रूप, पूजा का सुमन सब कुछ आलम्बन ही है। भक्ति-रस की पराकाष्ठा का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।[4] श्रीराम के दिव्य गुण, अद्वितीय सौन्दर्य, अनन्त माहात्म्य, प्रकृति सौन्दर्य, क्षेत्र-तीर्थ स्थानों की महत्ता, आराध्य की वीरता आदि का भक्ति-रस के उद्दीपन के रूप में सार्थक प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य कई देवी-देवताओं का गुण-गान भी त्यागराज की कीर्तनों में शान्त भक्ति-रस के उद्दीपन का काम सम्भालकर उसे रस की स्थिति तक पहुँचाया। शांत रस के प्रतिपादक इन कीर्तनों में शान्त-रस की परिपक्वता पाई जाती है।

साम्प्रदायिकता का पालन करना भक्त का विद्युक्त धर्म है। परन्तु अपने समय में प्रचलित यज्ञ-याग आदि, जिसमें रक्त-पात, हिंसा-बलि आदि का पालन विधिवत

---

1. ''राम कथा सुधारस पाना मोका राज्ममु चेसुने'॥
2. 'मरुवम' एक प्रकार का सुगन्ध देने वाला पत्ता है जिसे तुलसी के समान पूजा में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।
3. 'रामा! नी समान मेवरु? रघुवंशोद्धारका!'॥
4. 'ना जीवाधारा! ना नोमु फलमा।
ना चूपु प्रकाशमा! ना नासिका परिमळमा।
ना जप वर्ण रूपमा! नादु पूजा सुममा'।

होता है, त्यागराज की दृष्टि में कुरीतियाँ हैं। त्यागराज ने अपने कीर्तनों द्वारा उनका समर्थन नहीं करना ही नहीं, परन्तु निर्दय-निर्मम खंडन भी किया। गीता में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा, 'अपनी शक्ति के अनुसार 'फलं पुष्पं पत्रं तोयं'—अपनी शक्ति के अनुसार इनमें से किसी भी वस्तु से मेरी पूजा कर सकते हो। क्रम भी ठीक बतलाया गया—फल न मिलने पर पुष्प, उसके भी न मिलने पर पत्रं अन्यथा 'तोयं', जो सर्वत्र प्राप्त हो सकता है—फल प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। 'तोयं' भी यदि कभी प्राप्त न हो तो अत्युत्तम पूजा सामग्री है 'हृदय कुसुम' जिसका महत्व सर्वाधिक है। क्योंकि मन से किया हुआ भजन-पूजा वैष्णव भक्ति विधान में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। योग भक्तियोग में समन्वय स्थापित कर समरसता प्रदान कर जहाँ तक हो सके 'हृदय कुसुम' से चित्त शुद्धि से जो भगवान् की अर्चना करता है वही सच्चा भक्त है। वही भव बंधनों से मुक्त है। आडम्बरों से दूर है। यह सूत्र सार्वजनीन-सर्वजन सम्मत है, उदार-आशय है, तथा अपने आप में सम्पूर्ण भी है। दक्षिण में पूजा में पुष्पों का महत्व अधिक है। 'सोमयाजी' (जो यज्ञ करता है) वे विष्णु भक्ति से दूर ही है।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म निवेदन आदि भक्ति-रस की उपशाखाओं के अतिरिक्त कीर्तनों में नारद-भक्ति सूत्र में उल्लिखित कुछ आसक्तियों को भी अनुभाव का रूप दिया गया है। इनमें कई का उल्लेख नवधा भक्ति के अन्तर्गत ही किया गया है। उनसे अलग परम विरहासक्ति,[1] तन्मयासक्ति,[2] एकांतिका भक्ति,[3] आदि भक्ति-रस के उत्कृष्ट अंगों के अतिरिक्त हास्य वीर आदि रसों की भी चर्चा यत्र-तत्र पाई जाती है। वास्तव में ये सब भक्ति रस की पराकाष्ठा एवं लक्ष्य के परिचायक हैं। क्योंकि ये मार्ग या प्रकार सब सर्वोत्कृष्ट हैं।

विभाव अनुभाव संचारियों के साथ सभी प्रकार की भक्ति विधाओं का समग्र एवं सांगोपांग वर्णन कई कीर्तनों में पाया जाता है। राजा दशरथ-माता कौसल्या का पुत्र वात्सल्य भक्ति-रस—राजा जनक का जामाता-वात्सल्य भक्ति-रस 'कौशिक विश्वामित्र का शिष्य वात्सल्य भक्ति रस, सौमित्री का सख्य भक्ति-रस, अहल्या का शान्त भक्ति-रस शिव के दासता-चरण स्पर्श का भक्ति-रस, जानकी माता का मधुर भक्ति-रस, अन्त में त्यागराज के द्वारा प्रशंसित भक्ति-रस के इन सभी रूपों का समग्र एवं सांगोपांग वर्णन के द्वारा भक्ति-रस का जो प्रवाह पाठक या श्रोता या गायक के मन में होता है, वह अपनी सीमाओं से बाहर प्रवाहित होकर आस-

---

1. नन्नु विडचि..........पट्टाभिरामा........प्रह्लाद चरित्र का कीर्तन।
2. 'उरगमुलु पेनगिनट्टुन्नदि ना मनसु' 'ज्ञान मोसग रादा'
3. 'निनु विना नामदेंदु निल्वदे श्री हरि'॥

पास के सभी मन:स्थलों को आप्लावित कर देता है।[1] मिश्रित रस प्रधान कीर्तनों की यही विशेषता है।

इस प्रकार के अनेक भक्ति रस गर्भित कीर्तनों की रचना कर त्यागराज का जन्म सार्थक हुआ। इन कीर्तनों को काव्य रचना या काव्यशास्त्र की दृष्टि से परखने पर सामने आने वाले विभावानुभावों को देखकर आश्चर्य होता है। सत्य यह है कि विभावानुभाव संचारियों को ध्यान में रखकर रस निष्पत्ति के अनुरूप उनको कीर्तनों में जमाकर इन भक्त कवियों ने कीर्तनों की रचना नहीं की—इतनी तो बात स्पष्ट है। भक्ति की परवशता में अनायास ही उन्होंने कीर्तनों में इन रसांगों का समावेश किया वह आश्चर्य-जनक एवं प्रशंसनीय है। तद्वारा उत्पन्न भक्ति रस की शाखाएँ—उपशाखाएँ आज भी भरत भूमि को आप्लावित कर रही हैं।

भक्ति को जब रस के रूप में स्वीकार किया गया इसके पाँच मुख्य प्रकार प्रकाश में लाये गये। शान्त, मधुर, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य।

वास्तव में बंगाल के वैष्णव आलंकारिक रूप गोस्वामी आदि षट् गोस्वामी ने भक्ति के इन प्रकारों का वर्णन किया तो कोई खास कम निर्धारित नहीं था। मधुर को प्रथम स्थान अवश्य दिया गया। सम्भवत: वह इसलिए कि मधुर को शृंगार का ही अलौकिक रूप माना गया और शृंगार 'रस राज' कहलाया। अन्य रसों का आलंकारिकों ने क्रम ऐसे ही सब अपनी अपनी सुविधा के अनुसार दिया।

परन्तु हमारी दृष्टि में इनका क्रम इस प्रकार होना चाहिए—वात्सल्य, मधुर, दास्य, शान्त तथा सख्य। वात्सल्य को सर्वप्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। कारण यह है कि तिर्यक् जाति में पाये जाने वाले, 'रसराज' कहलाने वाले शृंगार के मूल में वात्सल्य, 'वत्सल प्राप्ति' निहित है। 'कुल वर्द्धक' को कुल को प्रदान करना प्रत्येक मानव अपना कर्तव्य समझता है। 'कुल दीपक' की बड़ी प्रतीक्षा संसार में होती है। क्योंकि लोगों का यह विश्वास परम्पराओं से चला आ रहा है कि 'अपुत्रस्व गतिर्नारित्त'—जिसका कोई पुत्र-संतान नहीं होता उसे सद्गति प्राप्त नहीं होगी। यह विश्वास भी संतान प्राप्ति की इच्छा के मूल में निहित है। आज के इस वैज्ञानिक युग में भी लड़का-लड़की में अंतर मानने वालों की कमी नहीं है। लड़का 'धन ध्रुव' '(+)' माना गया तो लड़की (ऋण ध्रुव) '(–)'। घर में संपत्ति जोड़ने-निकालने से इसका संबंध माना जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। परन्तु नारी मनोविज्ञान इसे मानने को तैयार नहीं होता। परंपरागत इन बातों पर अंधविश्वास कर लेता है। परन्तु नारी के लिए 'मातृत्व' महत्वपूर्ण भावना है—चाहे वह लड़का हो या लकड़ी। मातृत्व प्राप्त कर उसका मनोविज्ञान संतुष्ट हो जाता है वह तन्मयं हो जाती है। नारी का नारीत्व इस मातृत्व के बिना अधूरा है। अत:

1. **'श्रीरामा जयरामा शृंगार रामायनी चिंतिंपा रादे ओमनसा'॥**

माता बनना उसके जीवन की सार्थकता है। क्योंकि निस्संतानवती होने पर नारी का स्थान समाज में दूभर हो जाता है। घर-बाहर सब उसे 'बाँझ' की मुद्रा से विभूषित कर उसका जीना असम्भव कर देता है। पति और परिवार के अन्य सदस्यों का ध्यान पति के दूसरे विवाह की ओर आकर्षित हो जाता है। 'वंश-वर्द्धक', 'कुल-दीपक' का बहाना बना कर पति का दूसरा विवाह रचा जाता है। संसार का और कोई बँटवारा नारी को इतना दुख नहीं पहुँचाता जितना कि पति और पुत्र के प्रेम का बँटवारा। यही कारण है कि पुत्र के विवाह के उपरान्त नारी के 'सास' का रूप यह सह नहीं पाता कि पुत्र के प्रेम का कोई समभागी हो।

वात्सल्य के मूल में इतने मनोवैज्ञानिक सत्य छुपे हुए हैं। जो कि अन्य किसी रस के मूल में नहीं हैं। 'रसराज' कहलाने वाले शृंगार रस के मूल में, 'दाम्पत्य प्रेम' के मूल में—दाम्पत्य रति के मूल में यही वत्सलता, वात्सल्य, अपत्य प्राप्ति की इच्छा निहित है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह एक मूलभूत आवश्यकता है। जो संसार की तिर्यक जाति में निहित है। ध्यान से सोचने पर स्पष्ट होता है कि वीर, करुण, रौद्र, भयानंक, वीभत्स आदि सभी के मूल में निहित रहने वाला भाव एकमात्र वात्सल्य है। उदाहरणार्थ अपनी संतति के प्रति आक्रमण कोई मानव तो सह नहीं पाता। परन्तु पशु-पक्षी में भी यह देखा जाता है कि उनके बच्चों के छेड़े जाने पर वे भी रौद्र रूप धारण कर अपनी वीरता दिखलाते हैं और भयानक परिस्थितियों का सृजन कर वीभत्स दृश्य बनाकर देखने वालों के हृदय में करुण रस उत्पन्न कर देते हैं।

भारतीयता की दृष्टि से दाम्पत्य का लक्ष्य आदर्श संतति है। महाकवि कालिदास ने भी 'प्रजयै गृहमोधिनां' कहकर इस गार्हस्थ्य जीवन के महत्व एवं लक्ष्य को प्रतिपादित किया।

इस प्रकार निस्संदेह कहा जा सकता है कि वात्सल्य इतना बलवत्तम एवं व्यापक प्रेम है जो कि प्रत्येक रस के मूल में निहित है। 'अभिप्राय यह है कि 'रसराज' कहलाने वाले शृंगार की स्थाई रति की मूलभूत आवश्यकता उसका प्रेरक होने के कारण यह वात्सल्य 'रसराज' का समकक्ष ही नहीं उससे कई गुना अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। अगर इसे 'रस सम्राट' कहा जाए तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है।'[1]

उपर्युक्त कारणों से भक्ति रस के प्रकारों का क्रम हमारी दृष्टि में निम्न है—

वात्सल्य भक्ति रस, मधुर भक्ति रस, दास्य भक्ति रस, शान्त भक्ति रस तथा सख्य भक्ति रस।

---

1. **'सूरदास और पोतना': वात्सल्य की अभिव्यक्ति, पृ. 143. लेखिका: डॉ. लीला ज्योति।**

त्यागराज का वात्सल्य भक्ति रस

वात्सल्य रस को लौकिक एवं अलौकिक दृष्टियों से परखने पर एक विशेषता स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जाती है जो उसके अलौकिक पक्ष से अधिक संबंध रखता है।

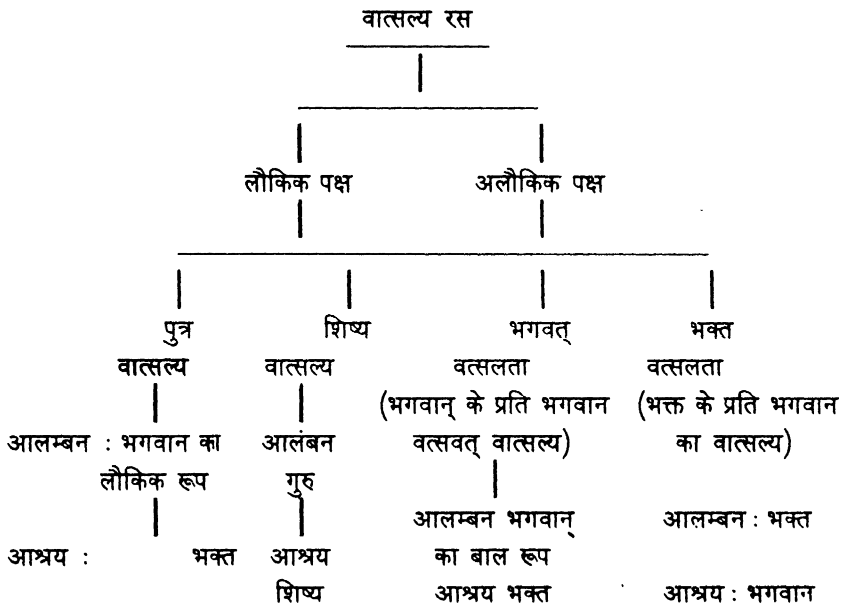

गहराई में सोचने पर पहले प्रकार के वात्सल्य भक्ति में एक विचित्र सी बात दृष्टिगोचर होती है। जब तक आश्रय आलम्बन को लौकिक ही समझता रहे तब तक विभाव अनुभाव संचारियों की सम्भावना तथा इनके संयोग से रस निष्पत्ति सम्भव है।

जब आलम्बन की पारलौकिकता का आभास हो जाता है तो आश्रय के मन में यह सहज वात्सल्य की निष्पत्ति कहाँ तक संभव है? क्योंकि आलम्बन की अलौकिकता अनुभाव उद्दीपन आदि को कहाँ तक उत्पन्न होने देता है जिसके संयोग के बिना 'वत्सल भाव' रस की स्थिति तक पहुँच नहीं पाता।

'सामने स्थित आलम्बन साधारण बालक नहीं है' (या) 'यह भगवान् ही है' या इसी प्रकार का अन्य कोई भाव जब आश्रम के मन में उत्पन्न हो जाता है तो वहाँ परिस्थितियाँ कुछ और ही हो जाती हैं। एक प्रकार का भय, शंका आदि के कारण एक असज वातावरण बन जाता है। अनुभाव आदि भिन्न हो जाते हैं। जैसे भय संकोच शरीर में कंपन आवाज गद्गद हो जाना, बालक (आलम्बन) का चरणस्पर्श, क्षमा याचना, दर्शन के लिए धन्यवाद समर्पण, स्तुति (गुणगान)

आश्चर्य, अपने भाग्य की प्रशंसा आदि। एक अद्भुत रस के उपयुक्त वातावरण बन जाता है। भागवत् के माटी-भक्षण का प्रसंग इसका उदाहरण है। माता यशोदा जब अद्भुत रस में मग्न हो जाती हैं तो फिर माया का परदा गिर जाता, फिर वह इहलोक की दृष्टि से बालक को समझने-देखने लग जाती है।

जब तक आश्रय अज्ञान की स्थिति में रह जाता है कि 'आलम्बन का वास्तविक रूप क्या है', तब तक वात्सल्य के रसत्व की स्थिति को कोई खतरा नहीं है। अर्थात् आलम्बन को लौकिक माना जाना चाहिए। तब उद्दीपन, अनुभाव संचारी आदि सक्रिय रहकर वात्सल्य रस निष्पन्न होता है। अन्यथा? क्या इसका तात्पर्य है वात्सल्य भक्ति रस अंसंभव है?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि साहित्य या काव्य रचना में कल्पना का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। आश्रय, आलम्बन ईश्वर के बालरूप की कल्पना कर अपने काव्य में वात्सल्य की अभिव्यक्ति करता है। कल्पना की इस स्थिति में आश्रय को यह स्मरण नहीं रहता है कि आलंबन पारलौकिक है। इस प्रकार के आलम्बन की कल्पना में खोए हुए आश्रय को मात्र उसके अलौकिक पक्ष की कल्पना, वात्सल्य-रस की निष्पत्ति में सहायक होता है। माटी-भक्षण के प्रसंग में माता यशोदा का क्षणभर के लिए भ्रम में पड़ जाना कि 'यह स्वप्न है या ईश्वरीय माया', वास्तव में वात्सल्य की अभिव्यक्ति या रस निष्पत्ति की दृष्टि से संचारी होते हुए भी बाधक है। ऐसे प्रसंगों में रस निष्पत्ति से रसाभास की संभावना अधिक है। अतः अलौकिक आलंबन के लौकिक पक्ष की ही कल्पना से वात्सल्य रस की निष्पत्ति अधिक संभव है। वात्सल्य भक्ति रस के निम्न अंग माने जा सकते हैं—

आलम्बन: भगवान् का बाल रूप। आश्रय: भक्त। उद्दीपन: आलम्बन की शारीरिक सौन्दर्य की कायिक चेष्टाएँ, गुणगान, मनोविज्ञान, अनुभाव: आलिंगन, चुम्बन, माथे को चूमना, बलैया लेना, गोद लेना, धूलि-धूसरित शरीर को आँचल से पोंछना, स्नान करना, दुग्धपान कराकर लोरी गाकर सुलाना, न जाने इस प्रकार के कितने नित्य एवं नैमित्तिक अनुभाव हमारे सामने आते हैं।

माता का कभी-कभी क्रोध में आना, चिड़चिड़ाना, बालक को अपने वश में लाने के लिए कभी-कभी 'हाऊ' का डर दिखाना धमकियाँ देना आदि कई संचारियों का सहारा लेकर वात्सल्य रस स्थिति तक पहुँच जाता है।

इस वात्सल्य भक्ति रस का वर्णन त्यागराज के कई कीर्तनों में पाया जाता है।

लौकिक पक्ष: पुत्र वात्सल्य

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस वात्सल्य के दो वर्ग हो सकते हैं—सहज वात्सल्य तथा आहार्य वात्सल्य। पहले वर्ग के अन्तर्गत केवल जन्मदाता माता-पिता का वात्सल्य रखा जा सकता है जो जन्म से पहले से ही माता-पिता के मन में होने

वाले संतान की प्रति होता है, जिसका होना अत्यंत सहज है। अतः इसे 'सहज वात्सल्य' कहा जा सकता है।

आहार्य वात्सल्य, वात्सल्य के साधारणीकरण की स्थिति के उपरान्त प्रत्येक वत्स के प्रति प्रत्येक मानव के मन में उत्पन्न होता है। यहाँ तक कि घर के पालतू पशु-पक्षी का भी वात्सल्य इसके अन्तर्गत रखा जा सकता हो। त्यागराज के कीर्तनों में माता-पिता का वात्सल्य कई स्थानों में वर्णित है। माता कौसल्या का लोरी गाना[1] गोदलेना, चुम्बन-बलैया आदि अनुभावों सहित वात्सल्य का वर्णन कितना ही सुंदर है। इस वर्ग के कीर्तनों में त्यागराज ने अपने भावों में मातृत्व का आरोप कर अत्यंत रमणीय ढंग से श्रीराम के बाल्य का वर्णन किया है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में इन बाल्य-क्रीड़ाओं का सुंदर वर्णन किया। माता अपने पुत्र को अपने पूर्व पुण्य का फल समझकर उस पर एक सात्विक गर्व का अनुभव करती है। उसके भूख-प्यास की चिंता करती है।[2]

बाल-कृष्ण की लीलाओं के संदर्भ में या उस अवतार में इस रस की अभिव्यक्ति की सम्भावना अधिक है। आलम्बन नटखट कृष्ण की कथा ही कुछ ऐसी है कि माता-पिता ने ही नहीं सारे गोकुल ने पशु-पक्षी समेत उनके प्रति वात्सल्य भाव प्रकट किया। परन्तु राम का व्यक्तित्व अत्यंत गम्भीर होने से सम्भवतः सारा अयोध्या नगर उनके प्रति आदर भाव अधिक रखता था। इसलिए इस वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए 'मर्यादा पुरुषोत्तम राम' अपेक्षाकृत कम आलम्बन बन सके। परन्तु जहाँ कहीं भी यह अभिव्यक्ति हुई हो वहाँ वह अत्यंत रसात्मक एवं गहरी भी हुई है। त्यागराज ने कभी मातृत्व का, कभी पितृ भाव का तो कभी गुरु कौशिक के वात्सल्य का, कभी जनक की भावनाओं का वर्णन किया है। राम का असामान्य सौन्दर्य, माता-पिता गुरुजनों के प्रति उनका आदर श्रद्धा भक्ति आदि से अत्यन्त प्रसन्न आश्रय पुलक-रोमांच आनन्दाश्रु आदि अनुभाव संचारियों को व्यक्त किया ही था। फलतः वात्सल्य रस वारिधि-श्रोता एवं पाठक के हृदय को भी आप्लावित करती हुई प्रवाहित होती दिखाई देती है।

त्यागराज ने अपनी भावनाओं में मातृत्व का आरोप करने का एक रोचक प्रसंग है राम की बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन। माता कौसल्या रामचन्द्रजी से वार्तालाप करती हैं जिसके माध्यम से आराध्य के पद्मायत लोचनों की विलक्षणता, उनका कोटि सूर्य समान शारीरिक सौन्दर्य, शरणागत जन वत्सलता आदि उद्दीपनों के द्वारा वात्सल्य रस वारिधि को प्रवाहित कर दिया गया। आराध्य के रूप गुण महिमा का वर्णन बुधजनों के लिए मोक्षदायक भी है।

---

1. 'रामा रामा रामा लारी' नामक कीर्तन।
2. 'वरमैनट्टि ना पट्टि रारा, बर सुरलकु अरुदैना सुंदरा रारा॥
कलकल मनि रातु पेंता—आकलि कोंटिबो—'रामा रामा रामा लाली'

वात्सल्य रस की यह विशेषता है, आलम्बन को देखकर आश्रय अपने अस्तित्व को भूल बैठता है। माता अपना सारा काम-काज छोड़कर उसके लालन-पालन में मग्न होकर उसके साथ खेलते-कूदते इस संसार को भूल जाती है। इन अनुभावों का सुंदर वर्णन त्यागराज के कीर्तनों में भी कमी नहीं है। माता कौसल्यां एक साधारण माता ही बनकर राम के साथ खेल-कूद में अनन्त आनन्द का अनुभव करती हैं उस समय माता-पुत्र के बीच जो वार्तालाप होता रहता है वह अत्यंत स्वाभाविक है। साथ-साथ रामचन्द्र के पद्मायतलोचनों के अनन्यता एवं विलक्षणता, करोड़ों कामदेवों को भुलाने वाले उनका शारीरिक सौन्दर्य, शरणागत वत्सलता की स्पष्ट झलक आदि रूप-गुण-महिमाओं की विशेषताओं का, अनुभाव उद्दीपनों के रूप में वर्णन-वात्सल्य भक्ति रस की पराकाष्ठा का ही परिचायक है। आराध्य के रूप में गुणमहिमा का वर्णन बुधजनों के लिए आनन्ददायक ही नहीं संसार के लिए मोक्षदायक भी है।[1]

ईश्वर को माता-पिता के रूप में देखकर उनसे रक्षा की उपेक्षा करना भक्त या आलम्बन के लिए स्वाभाविक है। ऐसे प्रसंगों में भी वात्सल्य रस की झलक दिखाई देती है। इस प्रकार के वात्सल्य रस में आलंबन तथा आश्रय में अदल-बदल तो हो ही जाता है तदनुरूप अनुभाव, उद्दीपनों संचारियों में भी परिवर्तन हो जाता है। त्यागय्या ने बड़ी आत्मीयता के साथ इस प्रकार के वात्सल्य का वर्णन कर सीतम्मा तथा श्रीराम को क्रमशः जगन्माता-जगत्पिता का स्थान देकर वात्सल्य रस की व्यापकता को और भी बढ़ा दिया। राम-सीता से इस प्रकार का संबंध स्थापित करने के उपरान्त वास्तव में सारे संसार के साथ, सभी भक्तजनों के साथ संबंध जुड़ ही जाता है। वातात्मज, भरत, सौमित्री आदि से भाई का संबंध जोड़कर वशिष्ठ, पराशर, नारद, शैनक, शुक आदि मुनियों से, निषद गुह आदि जितने भी राम के परम भक्त हैं सबसे निकटतम संबंध स्थापित कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धांत को पुष्टि पहुँचाते हैं।[2]

भक्त-भगवान् में पिता-पुत्र का संबंध स्थापित होने के उपरान्त पिता जिस प्रकार का अभय देकर कहता है कि मैं हूँ तुम्हारी रक्षा करने को, चिन्ता मत करो! भक्त इस बात के भरोसे दृढ़ विश्वास के साथ निश्चिंत हो जाता है। माता-पिता पर अपना रक्षण भार छोड़कर निश्चिन्त होने वाले बालक का रूप इस कीर्तन में दिखाई देता है।[3]

---

1. 'कनुलु मूसि आडिनारु करमुन कणगनि नेत्रमनि कसरेदरु'॥
'चिंतचे दागुदु वेरे मेनि कांतिचे तगिलिन कर्म मनरे'॥
'मुदमुना ने पट्टुवेळा नापदमुन ब्रालेदरु पलुमारावेळा'॥
2. 'सीतम्मा मायम्मा· श्रीरामुडु माकुतंड्रि'॥ नामक कीर्तन।
3. 'सीतम्पती, ना मनसुना सिद्धान्तमनी युन्नानुरा'—नामक कीर्तन।

उपर्युक्त दोनों कीर्तनों में आलम्बन (भक्त) के प्रति आश्रय (सीतम्मा-रामय्या) के वात्सल्य के उद्दीपन के रूप में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना तथा रक्षा की भावना तदनन्तर सारे भक्तगण के साथ भाई-बंधुत्व का संबंध स्थापित करना—यह सारी अद्भुत कल्पना संचारी का काम कर वात्सल्य को रसत्व प्रदान कर रही है।

'मैं तुम्हारे पुत्र के समान हूँ। जिस प्रकार माता-पिता पुत्र की गलतियों पर रूठ कर भी उसे ठीक करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार आपको भी मेरी गलतियों को क्षमाकर मेरी रक्षा करनी चाहिए।[1] त्यागराज का यह आग्रह, अत्यन्त स्वाभाविक है। जब आराधक-आराध्य में पिता-पुत्र का सम्बन्ध बन ही गया तो पुत्र का इस प्रकार अधिकार जताना स्वाभाविक ही है। निकटता-आत्मीयता का अनुभव होता है तभी इस प्रकार के आग्रह की सम्भावना होती है। तर-तम भेद समाप्त हो जाता है फिर वात्सल्य की माँगकर रक्षा का आग्रह करने लग जाता है।'[2]

भक्त वत्सलता का वर्णन करते समय त्यागराज ने उस प्रपत्ति को अधिकतर आदर्श बनाया जो 'माजलि किशोर न्याय'का प्रतिपादक है। भक्त सम्पूर्ण रूप से शरणागत तथा 'आश्रित वत्सल' है। अतः भक्त का लालन-पालन का सारा भार भगवान् का ही है। त्यागराज के कीर्तनों में आराध्य उस मातृ-मूर्ति के समान है जो चलने अयोग्य दुखी संतान के पास स्वयं जाती है। वह यह प्रतीक्षा नहीं करती कि रोता हुआ, न चल सकने पर भी, बालक ही उसके पास जाए। 'संतान की आवाज़ सुनकर भागती माता के समान हे राम! आप ही मेरे पास आकर मुझे सान्त्वना दीजिए और मेरी रक्षा करो क्योंकि जबसे मैंने जन्म लिया तुम ही मेरी माता के समान मेरी रक्षा करते आ रहे हो।[3] 'उपमा कलिदास्य, भाटवे अर्थ गौरवम् दंडिनः पदलालित्यं माघे सन्त त्रयो गुणः'—त्यागराज के सम्बंध में यह कथन शत-प्रतिशत सत्य प्रमाणित होता है। उनके उपमान अनुपम हैं।

भगवान् की इसी भक्त वत्सलता के सहारे भक्त जीवन व्यतीत कर रहा है। उनकी मुद्रा में दिखाई देने वाले 'वरद हस्त', 'अयय हस्त' मन में जीने का प्रोत्साहन देते हैं कि 'भगवान् है हमारे साथ भयभीत होने की कोई आवश्यकता

---

1. **'कन्नतल्लियु कन्नतंड्रियु अन्नियु नीवेयनि नम्मलेदा॥ निनु विना गति ना केवरुनु लेरे ननुब्रोववय्या त्यागराजनुता॥ अभिमानामेन्नडु कन्नूरा'**
2. **'वादाडुचु बालुरु एच्चटि वाडौ, निलुरा बुद्धि लेदा, यना तालिमि गलवारे तल्लिमंडूलु चूचि'॥**
3. **तनयुनि ब्रोवा जननी वच्चुनो। तल्लि वद्दा बालुडु पोवुनो'।**

नहीं है।'[1] सदा बछड़े के पीछे-पीछे जाने वाली धेनु के समान भगवान् सदा अपने भक्तों की रक्षा करते हैं।

'यतोवा इमानि भूतानि जायंते आत्म देवानां जनिता प्रजा'

श्रुति के इस कथन से स्पष्ट होता है कि जगत् की सृष्टि ईश्वर के द्वारा हुई है। अतः वह जगत् पिता है। प्रकृति-शक्ति जगन्माता है। जीव एवं ईश्वर में पिता-पुत्र का संबंध स्थापित हुआ है। ईश्वर समस्त जगत् का आधार भूत तत्व है। सभी संत भक्तों ने इस सत्य को स्वीकारा है। संत त्यागराज ने भी इस सत्य को प्रतिपादित करते हुए अनेक कीर्तन रचे। सियाराम को माता-पिता, अन्य सभी भाई-बन्धुओं को अपने संबंधी समझ कर अपनी रक्षा का सारा भार उन्हें सौंपकर निश्चित हो गया। कई कीर्तनों में यह संबंध उल्लिखित है।

भक्त वत्सल भगवान् की दृष्टि में जाति-पाँति, वर्ग वर्ण-भेद नहीं है। भगवान के दरबार में सभी को समान स्थान प्राप्त होता है। ऊँच-नीच भेद जन्म या जाति से नहीं भक्ति या आराधना की दृष्टि से देखा जाता है। इतनी-अज्ञानी, धनी-निर्धनी, विद्वान-अनपढ़, शत्रु-मित्र का अंतर वहाँ नहीं है। 'ये सब मानव के द्वारा समाज में निर्मित कुरीतियाँ हैं। यह समाज वर्ग भेद-वर्ण भेद रोग से पीड़ित है। इस समाज का उद्धार करना कितना ही आवश्यक है।' यह प्रमाणित करने के लिए त्यागराज कदम-कदम पर भगवान् के द्वारा कहलवाते हैं कि यदि भगवान् की दृष्टि में यह अन्तर होता तो भिल्लिनी शबरी के जूठे बेर क्यों चखते? 'सुररिपुतनय' प्रह्लाद का उद्धार क्यों करते? शत्रु का भाई विभीषण को शरण में क्यों लेते? उनकी भक्त-वत्सलता पशु-पक्षियों तक भी व्याप्त है। गजेन्द्र, जटायु, सेतु बंधन में अपनी शक्ति के अनुसार रेत से शरीर को भरकर वारिधि के पुल पर उसे झटक कर एक छोटी-सी गिलहरी ने भक्ति का जो प्रदर्शन किया उससे अति प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे मोक्ष प्रदान किया। यह उनकी भक्त वत्सलता का परिचायक है।'[2]

ऐसी लौकिक अरिषड् वर्गों के लिए भगवान् के मन में स्थान नहीं रहता कि 'यह मित्र है' इसका उद्धार होना या करूँ', 'यह शत्रु है' इसका उद्धार नहीं करूँ' या यह इस जाति का है। मोक्ष का अधिकारी नहीं है आदि। उनकी शरण में आये 'पिपीलिकादि ब्रह्म पर्यंत' सब का उद्धार हो जाता है। स्थाई भाव प्रेम को मन में लेकर पुलकित शरीर, आनन्दाश्रु आदि संचारियों से जो भी कीर्तन नाम-जप आदि अनुभावों से भगवान् की भक्ति करता है भक्ति रस में मग्न रहता है उसका

1. **सीतापति नामनसुना सिद्धांत मनि युन्नानुरा।**
   प्रेमाचूपि ना पै पेद्धा मनुसु चेसि, नी महिमा लेल्ला निंडारा चूपि,
   ईमंहिनि भयमेटिकन्ना माटा-रामचन्द्र त्यागराज विनुता'॥
2. **गिलहरी को तेलुगु में 'उड़ता' कहते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार कोई भी इस प्रकार की श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हैं। तो उसे 'उडुता भक्ति' कहा जाता है।**

उद्धार का भार राम अवश्य लेते हैं। तन-मन से आराधना करने वाला कभी इस मोक्ष से वंचित नहीं रहता। भक्त वत्सलता का एक उदात्त उदाहरण 'शबरी' है। संसार में इतने ज्ञानी-भक्त-धनी-विद्वान लोग हैं। इन सबको छोड़कर भगवान् ने एक भिल्लिनी को मोक्ष प्रदान किया है। कारण उसकी भक्ति ही है। भगवान् की भक्त वत्सलता अपार है अनन्त है।

मधुर भक्ति रस

शृंगार रस के अलौकिक पक्ष को जब 'मधुर रस' नाम दिया गया तो सहज रूप से विभावानुभाव संचारी अलौकिक बन जाते हैं। वैष्णव भक्ति पद्धति में भगवान् के आंतरंगिक सन्नधान उनकी 'सेवा-भाग्य' को अधिक महत्व दिया गया है, यह एक प्रकार की रम्य भावना है। भक्ति के इस मधुर पक्ष की इच्छा राधा एवं अन्य गोपिकाओं ने व्यक्त किया। त्यागराज की इस मधुर भक्ति वर्णन की यह विशेषता है कि कृष्णावतार के समय जो लीलाएँ क्रीड़ाएँ कृष्ण ने की थीं उनका समर्थन कर उन पर भक्ति का परदा डालकर अलौकिकता का आरोप करते हैं। उदाहरणार्थ कृष्णावतार में चीरहरण का जो प्रसंग है उसका समर्थन त्यागराज ने अपने कीर्तन में इस प्रकार किया कि 'सुदामा' आने वाला है। उसे वस्त्र देने के लिए तुम ने चीरहरण किया।[1] कितनी 'समय स्फूर्ति'! आलम्बन की चेष्टाओं का समय के अनुकूल समर्थन! प्रशंसनीय है। त्यागराज की दृष्टि में सीता राम आदर्श दम्पत्ति है। आनन्द रस से परिपूर्ण जीवन यात्रा में वे दोनों समभागी होकर आगे बढ़ते हैं। सदा इस 'पुण्य दम्पत्ति' का भजन करना उनका नित्य कर्म है। मधुर भक्ति भी समय-समय पर होने वाले नित्य नैमित्तिक पूजा विधान का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रातः काल के सुप्रभात से लेकर रात की एकान्त सेवा तक की दिनचर्या का वर्णन करते समय आत्म विभोर त्यागराज की हृद्गत भावनाएँ जब अभिव्यक्ति पाती हैं तो उनमें निहित मधुर भक्ति रस के स्थाई भाव का आभास हो जाता है। कीर्तनकार तन्मय होकर राम के रूप सौन्दर्य-गुणगान, भक्त वत्सलता आदि का वर्णन तो कदम-कदम पर करते ही हैं। इनसे अधिक राम की शक्ति एवं शील पर अत्यंत मुग्ध है। नारी मनोविज्ञान के अनुसार यह एक उल्लेखनीय ध्यान देने योग्य बात है। वास्तव में नारी आदमी के शारीरिक सौन्दर्य पर अधिक ध्यान नहीं देती। उसकी शक्ति एवं चरित्र पर वह एक प्रकार के सात्विक गर्व का अनुभव करती है। वह चाहती है कि अपना पति शक्तिवान् हो चरित्रवान् हो। यह एक उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक सत्य है।

त्यागराज के कीर्तनों में इस सत्य का आभास होता है। राम के रूप, गुण चरित्र, शक्ति आदि का वर्णन करते समय ऐसा लगता है मानों ये भावनाएँ उनकी अपनी नहीं मगर सीता माता की ओर से त्यागराज उनकी भावनाओं को

---

1. 'जालितो वच्चु कुचेलुनि गनि गोपी चेलमु लेत्तितिवो'॥

अभिव्यक्ति दे रहे हैं। राम का सत्य वचन का पालन (एक ही बात पर टिके रहना), राम का एक ही बाण (वही पहला एवं अंतिम बाण होगा और वह बाण जब एक बार धनुष से निकलता है तो अपना लक्ष्य पाकर ही, अपना काम करके ही छोड़ता है। वह बाण कभी वापस नहीं लिया जा सकता। यही उसकी विशेषता है।) 'एक ही पत्नी' (राम अपने एक पत्नीव्रत के लिए जगत् प्रसिद्ध हैं)—ये बातें हैं—त्यागराज जैसे भक्तों को मुग्ध कर देती हैं।[1]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि त्यागराज जब इन बातों का वर्णन करते हैं उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली में जो माधुर्य दिखाई देता है या पाठक जिस माधुर्य का अनुभव करता है वह अभिव्यक्ति की नहीं अनुभव की वस्तु है। प्रत्येक पाठक त्यागराज बनकर उस माधुर्य का अनुभव करने लग जाता है। 'गूँगे के गुड़' के समान यह माधुर्य वही माधुर्य है जो सीता माता अनुभव करती हैं। मंत्रमुग्ध पाठक को उसी 'श्रृंगार राम' का साक्षात्कार होता है। जिसका साक्षात्कार सीता माता को होता है। जगन्माता जगत पिता के श्रृंगार का वर्णन कोमल है, जितना अलौकिक है उतनी ही त्यागराज की अभिव्यक्ति कोमल एवं अलौकिक। कभी-कभी ऐसा लगता है कि त्यागराज मधुर भाव का संकेत मात्र देकर अनुभव की बात को पाठक पर छोड़ देते हैं। कभी-कभी उनकी अभिव्यक्ति मौन अभिव्यक्ति लगती है। क्योंकि ऐसी कोमल एवं मधुर क्षणों की अभिव्यक्ति मौन ही अधिक ठीक प्रतीत होती है। यही विशेषता त्यागराज के कीर्तनों में पाई जाती है। अन्य रसों ने जितनी शाब्दिक अभिव्यक्ति पाई है उतनी उनकी मधुर रस ने नहीं पाई। परन्तु जहाँ कहीं भी इस मधुर भक्ति ने अभिव्यक्ति पाई है वह रस वारिधि प्रवाहित हुई। राम के रूप सौन्दर्य, गुणों के भण्डार आदि उद्दीपनों से उद्दीप्त मधु भक्ति-रस आलिंगन आदि अनुभावों की इच्छा को व्यक्त कर तन्मयता जैसी संचारियों के सहयोग से मधुर रस की उत्पत्ति में परिवर्तित होता है।[2] इस कीर्तन में त्यागराज एक मधु प्रेमिका का रूप धारण करते हैं।

मधुर भक्ति रस की तीव्रता का परिचय जिन कीर्तनों में हुआ है उनमें यह प्रतिपादित है कि अन्य वासनाओं से दूर रहने वाला मन ही इस मधुर भक्ति का आधार बन सकता है। 'आलिंगन' अनुभाव के रूप में आराध्य से निकटतम संबंध का प्रतीक है। इस परम सत्य को संसार के सामने प्रकट करते हुए त्यागराज कहते हैं कितना ही बड़ा विद्वान-पंडित दार्शनिक क्यों न हो, मानव 'कान्ता' का दास ही है।[3] यही अलौकिक भक्ति का ही प्रतिपादन है।

---

1. **'ओका ·माटा ओका बाणमु ओक पत्नी व्रतुडे-मनसा'॥**
2. **'एडु कौगलिंतुरा निल्लेंतनि वणितुरा'।**
3. **'एंता नेर्चिना एंता चूषिना एंतवारलैना कांता दासुलै'॥**

मधुर भक्ति रस प्रतिपादक कीर्तन त्यागराज के हाथों में जितने कोमल एवं माधुर्य से सँवर कर ललित रूप धारण किए हैं उतना अन्य किसी वाग्गेयकार के हाथों में नहीं। कोमल रमणीय अभिव्यक्ति में सीता माता की कोमलता तथा रमणीयता का आभास होता है। मधुर भक्ति रस अपने आप प्रवाहित होने लग जाता है। 'चुम्बन' अनुभाव की इच्छा व्यक्त करते समय त्यागय्या राम को 'सीतामनोहरा' कहकर सम्बोधित करते हैं। कितनी कोमल एव अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति।[1] सदा राम के निकट रहना ही अपने लिए परम सौभाग्य की बात समझते हैं।[2] कभी-कभी अपने हाथों से आराध्य का शृंगार करने की इच्छा प्रकट कर उद्दीप्त भक्ति भाव से विभोर हो जाते हैं।[3]

राम के सन्निधान की इच्छा, चुम्बन, आलिगन आदि अनुभावों द्वारा संकेत प्राप्त कर मधुर भक्ति को उद्दीप्त कर देती है। सोने के फूलों से पूजा करना निरन्तर सेवा में लगे रहने की इच्छा रखना आदि अनुभाव राम के गुण-गानों से उद्दीप्त होकर उदार कोमल मृदु-मधुर भक्ति रस प्रतिपादित होता है। भक्त की उदात्त कल्पना में कई संचारियों लहरों की भाँति व्यक्त लुप्त होकर मधुर भक्ति रस को और उद्दीप्त ही नहीं उदात्त भी बना देती है। एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत है: 'आलम्बन के बारे में सोचते ही शरीर पुलकित हो जाता है, कल्पना या ध्यान में दर्शन होते ही आँखों में आनंदाश्रु भर जाते हैं, आलिंगन के समय बरवश होकर भक्त सुध-बुध खो बैठता है।'[4] मधुर भक्ति रस का कितना स्पष्ट प्रतिपादन। राम के रूप सौन्दर्य से त्यागराज एक प्रेमिका के समान अत्यंत मुग्ध दिखाई देते हैं। क्योंकि स्त्री-पुरुष के आकर्षण का सर्वप्रथम कारण शारीरिक या रूप सौन्दर्य है क्योंकि वह एकदम आँखों के सामने दिखाई देता है इससे संबंधित कई कीर्तन प्राप्त होते हैं जिनमें अनुभाव उद्दीपन संचारियों की सहायता से त्यागराज ने मधुर भक्ति को रस में परिवर्तित कर प्रवाहित कराया।[5]

कहीं-कहीं इस मधुर भक्ति के प्रतिपादन में राधा-माधव के प्रेम की झलक दिखाई देती है जो वास्तव में मधुर भक्ति का प्रतिपादक है। अपना सर्वस्व राम को समर्पित कर ऐसी भक्ति में फँसकर त्यागराज अत्यंत प्रसन्न हैं जिससे कभी

---

1. **'रारा सीतारमणी मनोहरा, ओका मुध्धीयरा'**
2. **'वद्या उंडेदे बहुमेलु वारिजाक्षा।'**
3. **'चेतुलारा शृंगार मोनारिंचि चूतुरा'॥**
4. **'तलचिते मेनेल्ला पुलकरिंचेनी, कनुगोन्नानंदमै कन्नीरु निंडेनी चरण कौगिलि वेळा, चेलगा मैं मरचेनी'।**
5. **'इंद्रियमुल काह्यद मिच्चे रूपमु कल निन्नु नम्मकने मोस पोदु नटरा नटराजा विनुता'॥ (आदि)**

छुटकारा नहीं मिल सकता है। तद्वारा ब्रह्मानंद का अनुभव भी प्राप्त हुआ।[1]

विभावानुभाव संचारी युक्त भक्ति रस की धारा निरंतर प्रवाहित होती हुई भक्त के मन को सिंचित कर लेती है। इस मधुर भक्ति की रमणीयता, उसका संपूर्ण विकास राधा-माधव के भक्ति-तत्व में अधिक पाया जाता है। 'रामा रामा रामा रामा, रारा सीता रामा' नामक कीर्तन में पादसेवन से आरम्भ कर, एकान्त सेवा, आलिंगन, गुणगान, आँखभर दर्शन करना, सान्निध्य की इच्छा आदि अनुभावों का वर्णन-अंतरंग सान्निध्य (आंतरंगिक सान्निधिया सेवा) जो वैष्णव अचन के विधान की एक रम्य भावना अंकित है। सेवा की यह अनुभूति, यह वर्णन शरीर के साथ-त्यागराज अपने अनोखी शैली में प्रार्थना-तर्जन को सम्मिलित कर इस सेवानुभूति का वर्णन करते हैं। अंत में उपास्य एवं उपासक के मध्य अद्वैत स्थापित कर मधुर रस में संपूर्ण रूप से निमज्जित हो जाते हैं। इनका 'श्रीरामा जयरामा शृंगार रामा यनि चिंतिंपा' इस प्रकार मधुर भक्ति रस का वर्णन करते समय त्यागराज अत्यंत जागरूक प्रतीत होते हैं। क्योंकि आलम्बन मर्यादा पुरुषोत्तम जगन्नायक राम एवं उनकी पत्नी। जगज्जननी जानकी। उद्दीपन संचारियों का वर्णन करते समय कहीं अश्लीलता का आभास तक न हो, यह ध्यान रखना भक्त शिरोमणि का पुनीत कर्तव्य है। भक्त-भगवान का, आलम्बन-आश्रय संबंध का अत्यंत कोमल है। अलौकिकता के स्थान पर कहीं लौकिकता की छाया न आ जाए—यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है अतः कीर्तनों में यत्र-तत्र, त्यागराज ने शृंगार का जो कोमल वर्णन किया है वह अपनी सीमाओं में रहकर किया है। इस मधुर भक्ति का आलम्बन कहीं सीता-राम है तो कहीं गोपी-कृष्ण तो कहीं जीवात्मा-परमात्मा। वास्तव में जीवात्मा-परमात्मा का संबंध अत्यन्त विचित्र है। क्योंकि यहाँ एक परमात्मा ही पुरुष है। अन्य सभी चेतन जगत स्त्री-प्राय ही है। भक्ति मार्ग में इस मधुर रस का स्थान विशिष्ट है जो अंग-उपांगों के साथ कीर्तनों में प्रवाहित है। इस प्रकार के ललित शृंगार की अभिव्यक्ति कई कीर्तनों में संदर्भ के अनुसार हुआ है। जानकी माता के 'पाणिग्रहण' के भाग्य की प्रशंसा[2] तो कहीं जगज्जननी सीता की एकान्त सेवा का, कहीं शयानागर की सजावट का तो कहीं जानकी माता के सौन्दर्य का। किसी भी प्रसंग में त्यागराज ने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए दिखाई नहीं देते। कीर्तनों में वर्णित यही इस रस की विशेषता है। शृंगार या मधुर भक्ति रस से इन की कृति 'नौका चरित्र' ओत-प्रोत है। उस कृति में सामान्य जन के लिए जो मार्ग सुगम है, मधुर भक्तिमार्ग, उसका

1. **'आनंद मानंदा मायेनु-ब्रह्मानंदमु 'आयेनु'
नी अंदमुनु गनि, सोक्कितिनि, येडाबायनि प्रेमा चेता चिक्किति, ना प्रायमु लेल्ला नी पालु चेसि म्रोक्किति'।**

2. **'वय सेयवय्या सदय रामचन्द्रा'**

प्रतिपादन आद्यंत हुआ है। मुग्ध गोपिकाओं का सहज निर्मल प्रेम, उससे परिपूर्ण हृदय को श्रीकृष्ण को समर्पित कर उनके दिव्यगुणों के सौन्दर्य से मुग्ध होकर इन्होंने तन्मयता की स्थिति में मोक्षमार्ग को प्राप्त किया। विभावानुभाव व्यभिचारी भावों से युक्त-भक्ति का वर्णन कर मधुर भक्ति को रसत्व प्रदान किया। मधुर भक्ति रस का आलम्बन-आश्रय-राम-सीता अन्योन्याश्रित है। पुष्पों का सुगन्ध, सीता माता का अद्वितीय सौन्दर्य आदि उद्दीपनों के साथ सीता माता की सेवा-भाग्य का वर्णन अनुभाव के रूप में कर त्यागराज ने इस मधुर कोमल चित्र का अंकन किया तथा अपने जन्म को सार्थक भी बनाया। कीर्तनों में प्रतिपादित मधुर भक्ति रस के अन्तर्गत कई 'कल्पना चित्र' खींचे गए। शयनागार में हंस शय्या पर मनोहर मुद्रा में शयन करने वाले राम का, उनकी परिचर्या में लगी हुई माता जानकी का जो चित्र खींचा गया वह अत्यंत अनोखा है। स्वामी ने त्यागराज को एक कीर्तन का आलाप करने का आदेश दिया–पृष्ठभूमि कितनी मधुर है। त्यागराज का शृंगार या मधुर भक्ति रस वर्णन अम्लान है, अमलिन है, अलौकिक है। शृंगार के विभावानुभाव संचारियों का वर्णन भी अलौकिक ढंग से ही हुआ है। इन कीर्तनों का आलाप करते समय गायक स्वयं भक्ति रस विभोर हो जाता है और अलौकिक रसानन्द को प्राप्त कर लेता है। शृंगार या मधुर रस परित संकीर्तन का भाव मन में उत्पन्न न होकर यह भाव उत्पन्न होता है कि भक्ति रस संबंधी कीर्तन ही गाए जा रहे हैं। कीर्तनों में अलौकिकता का जो प्रतिपादन हुआ है वह अत्यंत सराहनीय है। कीर्तनों में वर्णित आलंबन राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। नटखट कृष्ण के समान शृंगार या मधुर रस के अनुभावों का वर्णन होने की सम्भावना कम है, क्योंकि यह कोमल शृंगार है अनुभाव आदि भी अत्यंत कोमल है। इनकी अभिव्यक्ति में राम जिस प्रकार अपनी सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार वर्णन करने वाले त्यागराज भी अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकते। फलत: मधुर रस का माधुर्य द्विगुणीकृत हुआ। कारण यह है गोपनीयता के कारण उद्दीप्त होने वाली उत्सुकता की अनुभूति कुछ और है। वह अभिव्यक्ति की नहीं अनुभव की वस्तु है। रामचंद्र की भाव गर्भित–'प्रेम पूरित' एक दृष्टि के माधुर्य की अनुभूति माता सीता माता के लिए सम्भव है या त्यागराज जैसे अनन्य राम भक्त के लिए। उस मधुर रस पान का सौभाग्य अन्यों के लिए नहीं है। वह इसलिए कि उस एक क्षण मात्र की दृष्टि उसमें निहित भाव को समझ पाने की शक्ति अन्यों के पास कहाँ?

इसी कारण से रामचंद्र जी सीता माता का मन जीत सके। उनका 'मर्यादा पुरुषोत्तम' होना ही सीता के मन में स्थान प्राप्त करने का एकमात्र कारण है। 'सीता मनोहर' की उस मंगल मुद्रा को मन में स्थान प्राप्त होना अपने पूर्व जन्म का ही सुकृत फल समझकर त्यागराज यही भाग्य सदा प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।[1]

---

1. 'सीता मनोहरा, शृंगार शेखरा' नामक कीर्तन।

'एकान्त सेवा' का जो अत्यंत सुमधुर एवं कोमल वर्णन त्यागराज के कीर्तनों में हुआ है वह मधुर भक्ति रस को पराकाष्ठा का परिचायक है। भाजनानन्तर 'ताम्बूल सेवन' एक ऐसी दिनचर्या का भाग है जो अत्यंत रोचक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसका महत्व अधिक ही है। मधुर भक्ति रस के उद्दीपन के रूप में इसका भी वर्णन कीर्तनों में पाया जाता है। 'ताम्बूल' प्रदान करते समय भक्त आराध्य को अच्छे वातावरण में लाने का प्रयत्न कर सफल होने के उपरान्त अपनी प्रार्थना उनके सामने रखता है। प्रसन्नचित्त एवं संतुष्ट भगवान् उनकी प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर सकता।

शयन कक्षा का उसमें कोमल मधुर भावनों में डोलायमान सीता-राम के अनेक असामान्य चित्र, चतुर चित्रकार त्यागराज ने अपनी कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत किए हैं।

दास्य

'भक्ति के सायुज्य का, निरंतर सेवा-सन्निधान एक साधन है।' जीवन्मुक्त पुण्य पुरुषों का यह अनुभव रहा। इस अनुभव से ज्ञात होकर त्यागराज भी आराध्य से एक 'अंगरक्षक' के रूप में निरंतर सेवा करने का भाग्य प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।

सदा राम के दरबार में उनके चरणारविन्दों के पास रहने के भाग्य की इच्छा भी कई कीर्तनों में व्यक्त है। राजा के दरबार में जिस प्रकार 'बंटु' (भट=सेवक या अंगरक्षक) होता है उस प्रकार का सेवा भाग्य, हे राम! मुझे प्रदान करो ताकि मैं सांसारिक विकारों से पीड़ित लोगों के मद का दमन कर सकूँ। रामनाम स्मरण से उत्पन्न 'ब्रह्मानंद' रूपी कवच, 'रामभक्त' नाम का मुहर धारणकर 'रामनाम' रूपी 'विजयखड्ग' हाथ में लेकर मैं तुम्हारी सेवा में लग जाऊँ।

दास्य भक्ति रस का इतना सांगोपांग वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। दासता स्थाई भाव से प्रेरित त्यागय्या के मन में तुंट विंटिवानि (तुंटि=विंटिवानि=जिसका धनुष हो अर्थात् कामदेव) मदादुल बट्टि=कामदेव के कारण मानव के शरीर में उत्पन्न विकारों को), नेला कूला चेयु=जमीन पर पटक देने का काम, (अनुभाव), रामनाम के स्मरण से शरीर में उत्पन्न रोमांच (संचारी), 'रामभक्त' नामक मुद्रा को, 'रामनाम' का 'वीर खड्ग' पहना हुआ है। बार-बार उच्चारित रामनाम उद्दीप्त है। इस प्रकार उत्पन्न दास्य भक्ति रस का सांगोपांग वर्णन! परम भक्त की सेवा तत्परता–'स्वामी की श्रेयोभिलाषिता ही अपना परम कर्तव्य' की भावना से ओत-प्रोत त्यागराज को सालोक्य सारूप्य सामीप्य का भाग्य तो प्राप्त था ही, अब सायुज्य की प्राप्ति दूर भी नहीं, कठिन भी नहीं। बाल्यावस्था में पिता के साथ दरबार में जाते समय दरबार की पूरी व्यवस्था से सुपरिचित हो गए होंगे तभी एक अंगरक्षक का इतना यथार्थ वर्णन इस कीर्तन में पाया जाता है।

त्यागराज का जावन लक्ष्य 'दास्य' ही था। उन्होंने सारा जीवन राम के दास के रूप में ही व्यतीत करना श्रेयस्कर माना। राम के चरणारविन्दों में अपना स्थान सुरक्षित रखा। मानवमनोविज्ञान के अनुसार मानव चलते समय नीचे धरती की ओर देखते चलता है, न कि आसमान पर। हनुमान, नारद, प्रहलाद जैसे भक्त वरेण्यों ने इसी रहस्य को जानकर पादसेवन ही श्रेष्ठतर्म साधन समझा होगा तथा उसे अपनाया होगा। क्योंकि भगवान् का भी ध्यान, धरती की ओर ही अधिक रहता है कि मैं अपने शरणागत आश्रितों का ध्यान रखूँ। उनके ध्यान या उनकी कृपा दृष्टि को आकर्षित करने का उत्मोत्तम मार्ग 'सेवा-सुश्रूषा' ही समझा गया। त्यागराज ने कई स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में यह भाग व्यक्त किया।

'नेनरुंचरा ना पैनि चाला, नीदासुडनुगाना'

मैं तुम्हारा दास नहीं हूँ क्या? मेरे प्रति दया क्यों न करते? कहकर आगे सनकादि मुनि-योगियों का स्मरण दिलाकर कहते हैं कि मैंने तुम्हें अपना माता-पिता सर्वस्व माना। मैं तुम्हारे दर्शन के लिए विकलित हूँ....' आदि। अनुभाव संचारियों द्वारा दास्य भक्ति रस का परिपक्व स्थिति हमारे सामने आती है। अचंचल दास्य भक्ति से प्रेरित भक्त के इन शब्दों में व्यक्त आर्ति वर्णनातीत है।

उल्लेखनीय बात यह है कि दास्य भक्ति रस से ओत-प्रोत त्यागराज का मन राम का परम भक्ताग्रेसर एवं अनंत दासों का प्रतिनिधित्व करने वाले 'रामदूत' हनुमान जी के चरणों में कई कीर्तन समर्पित किए। उनसे प्रार्थना भी की 'हे जगत् प्राण कुमार! परम भागवत् वरेण्य! मेरी रक्षा करो'।

मरचितिवो (क्या तुम भूल गए कि तुम्हारी सेवा के लिए कई दास हैं?) उपचारमुलनु चेकोन वय्याउरग शयना! (मेरी सेवाएँ स्वीकार करो, हे उरगशयना!) 'तव दासोऽहं' तव दासोऽहं', 'एवरेमन्नाररुरा सीता रामा, निन्नु' (मेरी रक्षा न करने का पाठ किसी ने आपको पढ़ाया क्या? आप मुझ से रूठे हैं क्या? रूठे तो क्यों?)

तुलसीदास के जीवन की झलक उनकी विनयपत्रिका में जिस प्रकार दिखाई पड़ती है उसी प्रकार त्यागराज के कई कीर्तनों में उनके जीवन के कुछ घटनाओं की झलक दिखाई पड़ती है। उनके आत्मा या मन में जो भाव है उन भावों को उन्होंने कीर्तनों के द्वारा भगवान् राम के सम्मुख अभिव्यक्त किये हैं। इस प्रकार के कई कीर्तन त्यागराज द्वारा लिखे एवं गाये गये हैं।

त्यागराज भगवान् राम ने दीनातिदीन भाव से विनती करते हुए कहते हैं—'हे राम! मैं कहाँ-कहाँ घूमूँ क्या करूँ। जानकीनाथ मुझे अपना दर्शन दीजिए। मेघ के समान शरीर वाले राम! मेरे जीवन के आधार आप ही हो। हे राम! मुझ पर दया न हो तो मैं किधर जाऊँ। मेरा मन तो आपके चरणों में लगा हुआ है। हे प्रभो। मेरा उद्धार करेंगे तो मैं पावन हो जाऊँगा। मुनियों के हृदयों में निवास करने वाले

प्रभु मुझे दर्शन दीजिए। अगर आप मुझे दशन न देंगे तो मेरी समाज में हँसी मजाक की जायेगी। हे प्रभु मुझे कम से कम इससे बचाने के लिए तो भी दर्शन दीजिए। त्यागराज अपने आपको श्रीराम के मानते हुए कहते हैं कि दीनों, पतितों का उद्धार करने वाले हे राम मैं हमेशा प्रसन्न चित्त से आपको चाहता हूँ। आप परम दयालु एवं भक्तों का उद्धार करने वाले हैं। आपको मुझ पर दया क्यों नहीं आ रही है? मुझे इस स्थिति में देखकर आपका हृदय क्यों नहीं पिघल रहा है। हे, प्रभु मुझ पर करुण कर कहिए कि मैं आप का ही होता हूँ कि नहीं? हे! सीता राम मेरा उद्धार कीजिए।

हे राम, इतने दिन आपने मेरा पालन किया है। अब ऐसे क्यों कर रहे हो? मेरे एक मात्र पालनहारी आप ही हैं। आप मुझे पालन करने का वचन देकर कहाँ गये हो? हे, सुन्दर सत्य स्वरूपी आप मुझे अपने शरण में लीजिए।

सेवा करने वाले आपके पास कई लोग हैं। आंगन में ही हनुमान जी एवं आपके भाई हैं। एकान्त में सेवा करने के लिए जानकी जी हैं। अब आपको सेवकों की आवश्यकता नहीं समझकर मुझे भूल गये होंगे? लेकिन प्रभु, मैं आपका कृपा पात्र बनने के लिए एवं सेवा करने के लिए तत्पर हूँ। कृपा मुझ पर दृष्टि डालिए।

आप मेरी रक्षा कैसे करोगे प्रभु? मैंने तो आप पर ही विश्वास रखा है। आपने कई पतितों का उद्धार किया है। कई देवताओं द्वारा पूजित किये जाने वाले प्रभु। मुझे अपने शरण में लीजिए।

त्यागराज अपने जन्म को धिक्कारते हुए कहते हैं कि हे, राम मेरा जन्म कुछ सार्थक न पाकर व्यर्थ ही चला जा रहा है क्योंकि 'हृदय पर मोती की माला से शोभायमान होने वाले सुन्दर मूर्ति का दर्शन कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहा, लेकिन आपके दर्शन न होने के कारण मेरा हृदय विचलित हो रहा है।

हे प्रभु आपका निवासस्थान कोई निश्चित नहीं है। आप कहीं पर भी नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। सीता, गौरी, शंकर या गोविन्द आदि देवताओं में समाए हो या शिव, ब्रह्म, माधव में स्थित हो। इस कीर्तन में त्यागराज राम को कोई रूप न देकर, उस रूप में है न मानकर उन्हें सर्वन्तर्यामी बताना चाह रहे हैं।'

हे! करुणा सागर शरणागतियों के हृदयों का ताप दूर करने वाले हो। मेरा पाप दूर कर मुझे अपने शरण में लीजिए। तभी आपका यह शरणागत नाम सार्थक होगा। अगर मुझे शरण में न लोगे तो यह नाम कैसे सौर्थक होगा? हे! प्रभु मुझे शरण में लेने के लिए इतना हठ कर क्यों बैठे हैं मुझे समझ में नहीं आ रहा है।

काव्य कवि की मनोवृत्तियों का संचित भंडार तथा उसके समस्त जीवन का प्रतिबिम्ब है। इसी से काव्य को कवि का दर्पण कहा जाता है। काव्य रूपी दर्पण में आकृति स्पष्ट दिखाई देती है। यह बात तुलसीदास तथा त्यागराज के विषय में पूर्णतया चरितार्थ होती है। यद्यपि दोनों ने अपनी रचनाओं में अपना जीवन चरित्र

नहीं लिखा है फिर भी उसमें जीवन संबंधी सामग्री यथेष्ठ मात्रा में मिल जाती है। यद्यपि दोनों ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य को लेकर लिखा है तथापि यत्र-तत्र आत्मा की अभिव्यक्ति हो ही जाती है।

तुलसी तथा त्यागराज दोनों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक ज्ञान की गरिमा परिलक्षित होती है। उनके अधिकांश पद पौराणिक कथाओं के आधार पर रचे गये हैं। दोनों ने नाना पुराण निगमागम का सम्यक् रूपेण अध्ययन किया था। त्यागराज ने 'क्षीरसागर श्यना ननु चिंतलु बेटवलेना' नामक पद में अपनी अनन्य निष्ठा व्यक्त की है। तुलसीदास के तो सैकड़ों पद मिलते हैं। दोनों ने अत्यन्त विशदता, विस्तृतता एवं व्यापकता से काम लिया है। दोनों ने पौराणिक व्याख्यानों के द्वारा अभिव्यक्ति की पुष्टि की है। रामचरित को असाधारण एवं अनन्य रूप में प्रस्तुत करने में तुलसीदास एवं त्यागराज दक्ष थे। दोनों में लोक संग्रह का भाव पूर्ण रूपेण परिलक्षित है। उनकी दृष्टि लोक विस्तृत है। दोनों ने लोकनायक राम के मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में दर्शाया है। दोनों ने मानव जीवन की विभिन्न एवं वृत्तियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। दोनों ने समान रूप से सत्य, शिव और सुंदर को ग्रहण कर अपनाया, निभाया और अपने-अपने काव्य में स्थान दिया। यद्यपि तुलसीदास का व्यक्तित्व हमारे सामने नाना रूपों में आता है तथापि यहाँ पर वे एक भक्त, कवि, दार्शनिक, धार्मिक नेता और संगीतज्ञ थे। त्यागराज भी इन विविध रूपों में अद्वितीय है। इन दोनों ने सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समान भाव से काम किया है। दोनों ने ज्ञान और भक्ति का मंजुल समन्वय प्रतिपादित किया है। दोनों का साधुमत लोक हित का प्रतिपादक है। दोनों के पदों में दार्शनिक सिद्धांत विस्तार से मिलते हैं। दोनों ने यद्यपि अपनी रचनाओं को स्वांतः सुखाय के लिए लिखा था। तथापि उनका स्वान्तः सुख बहुजन सुखाय और लोकहिताय भी था। उनका स्वान्तः सुख राम भक्ति की प्रतिष्ठा में था। त्यागराज ने अपने इष्ट देव को भक्तिमय गीतों की मालाओं से अलंकृत करके उसकी प्रशंसा और वन्दना की तथा अत्यन्त नम्र भाव से अपनी दीनता और हीनता भी प्रकट की। अयोध्या पति श्रीराम को सुमधुर गीतों में प्रिय, सखा, गुरु, राजा आदि अनेक रूपों में वर्णन करके उन्हीं के ध्यान में वे प्रफुल्लित हो उठते थे। उनकी वाणी की अविरल धारा में केवल भक्ति का ही प्रकाश न था। पर साथ-साथ ज्ञान की आभा और वैराग्य की चमक भी थी जिसके कारण उनकी कृतियाँ आज भी सारे भारतीयों का कंठहार बनी हुई हैं।

साम्प्रदायिकता की दृष्टि से तुलसी और त्यागराज दोनों ने अत्यधिक उदार और समन्वयशील हैं। अपने से पूर्व प्रचलित व्यर्थ के संघर्षों और विवादों को उन्मूलित करने के लिए शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बताकर उन्होंने जो प्रयत्न किया वह तो हिन्दी और तेलुगु के लिए एक आदर्श की वस्तु ही है। साथ ही इतिहास की दृष्टि से अद्वितीय है। बाहरी भेद जो सारे धार्मिक विवादों की जड़ में रहा करते हैं। तुलसी और त्यागराज जैसे भक्तों के हृदय में नहीं दिख

सकते थे और उन्होंने उन्हें दूर कर धर्म के उस सच्चे मार्ग की ओर संकेत किया है जिसका स्वरूप सार्वकालिक, सर्वभौम विश्व जननित और शाश्वत है।

एक विचित्र बात त्यागराज के जीवन की प्रसिद्ध है। इनके एक सेवक ने इनकी भक्ति-संगीत साधना से प्रभावित होकर इनसे प्रार्थना की 'मुझे एक कीर्तन सिखा दे जिसको मैं सदा स्मरण रख सकता हूँ।' त्यागराज ने उसकी स्मरण शक्ति को ध्यान में रखकर 'नी सेवचे नित्यानंदुड नैतिनि' (तुम्हारी सेवा से शाश्वत आनंद मुझे प्राप्त हुआ) नामक कीर्तन उन्हें सिखाया जो दास्य रस से ओत-प्रोत है। 'उभयतारक' (दोनों ओर से लाभ) के सिद्धांत के अनुसार इस कीर्तन में और त्यागराज दूसरी ओर राम दोनों को आलम्बन बनाया जा सकता है। इस प्रकार अनेक विभाव अनुभाव संचारियों के संयोग से दास्य भक्ति रस का प्रवाह हमें दृग्गोचर होता है। 'दोर कुना इटुवंटि सेवा' (क्या इस प्रकार की सेवा अन्यत्र कहीं प्राप्त हो सकती है?) 'उपचारमुलु चेसेवारुन्नरनि' शान्त रस त्यागराज के कीर्तनों का मूल आधार हैं। इस नींव पर खड़ा उनका भक्ति भवन इसलिए युगों तक निश्चल खड़ा है। इस भवन के अन्य चार प्रकार के भक्ति विधान चार दीवारों के समान हैं जिस पर त्यागराज के जीवन अनुभव ने उन्हें सिखाया कि शान्ति के बिना संसार में सुख नहीं है।[1]

त्यागराज के कीर्तनों में आद्यन्त अंतर्वाहिनी के समान प्रवाहित होने वाला है शान्त रस। वास्तव में यही एक रस है जो इनके सभी कीर्तनों में भक्ति रस का एक अंग बनकर दृग्गोचर होता है। त्यागराज के कीर्तनों की दूसरी विशेषता संगीत है। 'भक्ति' एवं 'संगीत' दोनों की साधना एवं प्रतिपादन के लिए शान्ति का सहयोग आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। शान्त मग्न मन भगवान् के चरणों में निश्चिन्त होकर संलग्न हो जाता है।

जीवन विधान में त्यागराज ने इस शान्त रस को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अग्रज के उपालम्भ पत्नी-पुत्र का वियोग, वैरियों का अपमान आदि कितने ही प्रकार के दुःख सहते हुए इन्होंने भवसागर पार किया। इसके मूल में निहित शान्त स्वभाव रहस्य यही है। इस शान्त भाव के मूल में स्थित गूढ़ार्थ है, आराध्य के प्रति अटल विश्वास। जीवन की प्रत्येक घटना को ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकारने का साहस। 'जीवन सुख-दुखमय है, उनका सम्मिश्रण है। प्रत्येक जीव को इसे भुगतना पड़ता है।' यह ज्ञान भगवत् प्रसाद के रूप में भगवान् के द्वारा प्रत्येक वस्तु को स्वीकारने का धैर्य, समस्त विश्व में व्याप्त ईश्वरीय शक्ति को पहचानने की शक्ति आदि का मिश्रित रूप ही शान्ति है। इसके बिना संसार में बड़े-बड़े दार्शनिकों को भी सुख-चैन प्राप्त नहीं है। त्यागराज का अटल विश्वास है कि अपनी भूतल जीवन यात्रा को सफल बनाने के लिए प्रत्येक मानव को इसे अपनाना चाहिए। इस

---

1. **'शान्तमु लेका सौख्यमु लेदु सारस दळा नयना'**

स्वर्ण सूत्र से अपने जीवन को बाँधकर जीवन के मार्ग पर अग्रसर होने में त्यागराज ने सफलता प्राप्त की। यह 'महदैश्वर्य' साधना के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। चंचल एवं बुद्-बुद् प्राय लौकिक सुख, वह ज्ञान जो केवल शास्त्रों में मात्र उल्लिखित है भक्ति के बिना की जाने वाली पूजा, मंदिरों-तीर्थाटनों में भटकना आदि बाह्याडम्बर हैं। इनसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। यह एक ऐसा ऐश्वर्य है जो केवल भक्ति के सिद्धहस्त साधनों के भाग्य के वश में ही रहता है। इस महदैश्वर्य की प्राप्ति की आकांक्षा करते हुए त्यागराज ऐहिक निधियों को अस्वीकार करते हैं और राम के सन्निधान में ही अपना सारा सुख मान लेते हैं। मन को अपने वश में रखकर संसार के प्रलोभनों से दूर रखने का साहस केवल शान्त मन को ही प्राप्त हो सकता है।'[1]

संगीत का ज्ञान तथा भक्ति के बिना, त्यागराज की दृष्टि में, सन्मार्ग संभव नहीं है। मुक्ति प्राप्त करने ये दोनों अत्यंत आवश्यक है।[2] इस प्रकार अंतर्वाहिनी होते हुए भी शान्त रस पर त्यागराज का निर्वेद शान्त का स्थायी भाव है। अपनी इच्छा अभिमत के पूरे न होने पर उत्पन्न होने वाला दुख, तद्वारा ऐहिकता सांसारिकता के प्रति विमुखता आदि के कारण उत्पन्न आत्म निन्दा का भाव निर्वेद है। 'प्रह्लादभक्तविजय' नामक इनकी रचना में शान्त रस की पराकाष्ठा प्रतिपादित है। प्रह्लाद आदि भक्तों का चरित्र पढ़ते समय या सुनते समय पाठक या श्रोता का मन, विषय वासनाओं से विरक्त होकर शमगुण से विलसित स्थिति में पहुँच जाता है। इस स्थिति का अभ्यास होते ही, मन को, स्थिर रूप में शान्ति प्राप्त हो जाती है। फिर भक्त प्रह्लाद आदि भक्तों को अपना आदर्श मानकर भक्तियोग का अनुष्ठान कर ब्रह्मानंद प्राप्त कर लेता है। त्यागराज स्वयं ध्रुव की भक्ति को आदर्श मानकर चले। तद्वारा उन्होंने अपने साधना-विधान को कीर्तनों के माध्यम से संसार को उद्बोधित किया। अद्वैताचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के अपने 'भगवतकिरसांयन' में रस का प्रतिपादन किया। भोष देव ने भक्ति को सर्वोत्कृष्ट रस घोषित कियां। कुछ आलंकारिकों ने भक्ति को रस मानने में अपनी सहमति न देकर उसे एक ऐसा भाव कहा जो सत्य है। नित्य है। परन्तु भरत की रस की परिभाषा की कसौटी पर खरी उतरने के कारण आज निस्संकोच उसे रस तथा सर्वोत्कृष्ट रस कहा जा सकता है।

संगीत एवं भक्ति दोनों प्रधानत्व आधारित हैं। जीव को सन्मार्ग इन्हीं मार्गों पर चलने से सद्गति प्राप्त होगी।

इस प्रकार शान्त रस को प्रधान या नींव या मूल आधार बनाकर उन्होंने भक्ति-भवन को युग-युगान्तर तक खड़े होने में सुदृढ़ बनाया।

---

1. **निधि चाला सुखमो? रामुनि सन्निधि-सेवा सुखमो? निजमुग पल्कु मनसा!**
2. **संगीतज्ञानमु, भक्ति विना, सन्मार्गमु कालदे ओ मनसा।**

हास्य

भक्ति रस के प्रतिपादन के साथ त्यागराज ने हास्य, वीर, करुण, रौद्र आदि अन्य रसों के अलौकिक पक्ष का भी ध्यान अपने कीर्तनों में रखा है। इन्होंने इनका भी शास्त्रोक्त पद्धति में विभावानुभाव संचारियों के साथ वर्णन कर रस स्थिति तक पहुँचाने का सफल प्रयत्न किया।

वास्तव में जहाँ उन्नत एवं उत्कृष्ट भक्ति के लिए स्थान है वहाँ हास्य के लिए स्थान कम रहता है। त्यागराज के कीर्तनों की यही विशेषता है कि यहाँ उत्कृष्ट भक्ति भी है, जो उन्नत शिखर पर पहुँच गयी है। साथ-साथ कोमल हास्य भी। वास्तव में यह हास्य भक्त को भक्ति के उस उन्नत शिखर पर जाते समय थक जाने से बचाता है। उसे हँसाता हुआ पता चले बिना ही कि वह भक्ति का उन्नत शिखर चढ़ रहा है, उसका मार्ग सुगमतर कर देता है। हँसता खेलता हुआ कितना ही कठिन काम क्यों न हो सरलता से किया जा सकता है। पूजा विधान में जिस प्रकार 'मध्ये मध्ये पानीयं समर्पयामी' का कार्य चलता है ठीक उसी प्रकार त्यागराज ने भक्ति सुमनों से राम की पूजा करते समय बीच-बीच में हास्य रस रूपी पाद प्रक्षालन की सामग्री समर्पित कर उस चरणामृत के पान से विश्व को धन्य किया।

संसार की प्रत्येक भाषा में सम्भवतः कुछ कहावतें, लोकोक्तियाँ होती हैं जो इस हास्य रसोत्पादन में सहायक होती हैं। त्यागराज के कीर्तनों में हास्य रस का उत्पादन ठीक उसी कारण हुआ है। कुछ बातों को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए लेखक-कवि कुछ समय के अनुरूप कहावतें-लोकोक्तियों का सहारा लेता है। कभी-कभी कुछ गम्भीर बातों को भी हास्य-व्यंग्य के माध्यम से अच्छी तरह समझाया जा सकेला है। कहा जाता है कि 'सच्चाई कड़वा फल' होती है। सीधे-सादे ढंग से कुछ बातों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता, बात बिगड़ सकती है। 'घी' भी अपना उँगली भी अपनी, फिर भी घी को सीधी उँगली नहीं निकाला जा सकता है। ठीक उसी प्रकार एक कड़वी सच्चाई को हास्य-व्यंग्य का सहारा लेकर समझाना आसान है। त्यागराज ने बुद्धिमत्ता से यही काम किया। उनके समय की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही थीं कि समाज को सुधारने, कुरीतियों को दूर करने में उन्हें बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। यदि त्यागराज ने, अस्त-व्यस्त समाज को एक अच्छा मार्ग-दर्शन करने हेतु इस हास्य-व्यंग्य का सहारा न लिया होता तो उनका मार्ग सुगम नहीं हो सकता था। क्योंकि यह समाज के समझने का प्रश्न था। साधारण प्रजा, अनपढ़ प्रजा जिस माध्यम से बात समझती है, जिस भाषा को समझती है उसी माध्यम को अपनाने पर सफलता मिलने में कठिनाई नहीं होती। अन्यथा संप्रेषणीयता ही समाप्त हो जाती, कुछ बात बन नहीं पाती। इस बात को अच्छी तरह समझकर त्यागराज ने चतुराई से यत्र-तत्र कहावतें मुहावरों का सहारा लेकर समाज के सामने अपनी बात रखी है। कहावतों की लोकप्रियता के कारण उन्हें सफलता प्राप्त

हुई। इस सफलता के पीछे उनका कहावतों का चयन है। संदर्भ के अनुकूल कहावतों-लोकोक्तियों के चयन ने ही उन्हें सफलता दी है। उनका यह प्रयत्न अत्यंत सराहनीय है। कोमल हास्य-व्यंग्य के द्वारा समाज के सामने उसकी गलतियों को प्रकट करने का साहस त्यागय्या ने किया है। समाज-सुधार को, लोककल्याण का यह एक अत्यंत प्रशंसनीय प्रयत्न है जिसमें उन्हें शत-प्रतिशत सफलता प्राप्त हुई है। 'आत्म निंदा' के माध्यम से अपने आप पर दूसरों के दोषों को आरोपित कर उसका समाधान प्रस्तुत करने का चातुर्य कीर्तनों में प्रकट किया गया है। मन:पटल पर उनका जो गहरा प्रभाव पड़ जाता है वह सदा के लिए अमिट रह जाता है। साथ-साथ समस्या का शाश्वत समाधान भी मिल जाता है। ऐसे प्रसंगों में 'हास्य' समुचित ही नहीं आवश्यक भी है। आत्म शुद्धि के बिना की जाने वाली पूजा-अर्चना, तीर्थों में भटकने आदि बाह्याडम्बरों का खंडन आदि कुछ असंतोष-जनक बातों का व्यक्त करने के लिए त्यागराज ने हास्य व्यंग्य का सहारा लिया है। साथ-साथ उन्होंने ज्ञान का उपदेश भी दिया है। 'बक ध्यान' से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। मूलतत्व को छोड़कर, मोक्ष के सरल मार्ग भक्ति को छोड़कर बाह्याडम्बरों तथा परम्परागत अंधविश्वासों के पीछे लगने से फल प्राप्त नहीं होता। ये सब बाह्याडम्बर जितने झूठे हैं, उनका फल भी उतना ही 'गगन कुसुम' है। 'घी तुराई' में घी, गंगा नदी में चलने वाले नाव से भवसागर पार करना, चित्र में चित्रित दीपक का संसार को प्रकाश देना, हथेली पर 'गुड़-शक्कर मिठाई का नाम लिखकर चाटने से जिह्वा को मिठास प्राप्त होना आदि जितने सत्य हैं उतना ही बाह्याडम्बरों के द्वारा मोक्ष प्राप्ति सत्य है।[1] बिना आत्म शुद्धि के की जाने वाली पूजा की आलोचना करते समय त्यागराज ने ध्यान रखा कि ऐसी बातों को समझाने व हास्य का सहारा लेना अत्यंत आवश्यक है। 'दुर्मदांध मानव गंगा-कावेरी में स्नान करने मात्र से पवित्र नहीं हो जाता' चित्त शुद्धि से घर में बैठकर भी ईश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति की जा सकती है।[2] वृद्धावस्था में मोक्ष प्राप्त करने, पुण्य बटोरने का प्रयत्न करने वालों को त्यागराज जागरूक कर सकते हैं कि 'समय' को वृथा व्यतीत न कर 'पुण्य' प्राप्त करने का प्रयत्न करो। अन्यथा वह बेकार है। वह ठीक उसी प्रकार बेकार है जिस प्रकार अंधे के 'मीन' के समान सुंदर नेत्र। अत्यंत सुंदर कविता सुनकर पागल किस प्रकार हँसता है। उसकी हँसी में कविता के माधुर्य को समझने का भाव प्रकट नहीं होता। वह व्यर्थ है। अन्त में त्यागराज क़हते हैं कि 'त्यागराज के द्वारा प्रशंसित राम' से संबंधित जो भजन-कीर्तन नहीं हैं वह भी बेकार है।[3] 'मन को विषय रूपी नट के हाथ में सौंपने से

1. 'नलिना लोचना नीवुगाका अन्युला नम्मा' नामक कीर्तन।
2. 'मनसु निल्प शक्ति लेका पोते'—नामक कीर्तन।
3. 'समयमु तेलिसी पुण्यमु लार्जिंचनि धनिकु लुंडेमी, पोरयेमी?' नामक कीर्तन।

राम उसकी रक्षा करेगा क्या ?[1]

दूसरों को प्रबोधित करना संसार में सुलभतम कार्य है उसका स्वयं आचरण करना दुर्गम कार्य है।[2] सर्व सामान्य व्यक्ति यह काम नहीं कर सकता कि स्वयं उन प्रबोधों का अनुगमन करें जिनका उपदेश दूसरों को दिया जाता है। ऐसे बातों पर भी कई स्थानों में त्यागराज हास्य व्यंग्य के द्वारा प्रकाश डालकर उसे उचित ढंग से उन बातों को प्रस्तुत किया कि लोगों को बात कड़वी न लगे, बुरा भी न लगे।[3] ऐसे पंडित लोग स्वानुभव न होने के कारण 'राम नाम की रुचि' या उसके महत्व को भी समझ नहीं पाते हैं। इस बात को कई हास्य व्यंग्य भरित उपमानों के द्वारा त्यागराज प्रस्तुत करते हैं।[4]

करुण रस से इनके कई कीर्तन ओत-प्रोत है। विरहाकुल भक्त के मन में आश्रित भक्ति, उद्धार में विलम्ब होने से उद्विग्न होकर भक्त या आश्रय के मन में दुख उत्पन्न कर देता है। भगवान् की सेवा में पड़ जाने वाले अड़चनों के कारण भी भक्त के मन में करुण स्थान बना लेता है। त्यागराज की कीर्तनों में इस संदर्भ को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आश्रय आलम्बन की सेवा करना चाहता है। कर-चरण आदि इस शरीर के जो अवयव हैं उन्हें बनाना चाहता है। वे भगवान् की ही देन है, उन्हें भगवान् की सेवा में ही अर्पित करना चाहता है। मगर सांसारिक प्रलोभन उनके मार्ग पर कोई अड़चन उत्पन्न कर लेती है। भक्त इनसे आतंकित होकर आर्ति प्रकट करता है। 'इसीलिए मैंने अपने इस शरीर को पाला पोसा क्योंकि मेरे शरीर के ये सारे अंग किसी दिन मुझे जवाब दे दें ? इस संसार की दुस्थिति को देखने तथा यमराज के आनन्द को बढ़ाने कि अब यह मानव राम का नहीं मेरा भक्त है। इसे मैं दुखी कर सकता हूँ।[5] आत्म निन्दा इसका उद्दीपक एवं अनुभाव भी कहा जा सकता है। करुण का रसत्व स्थापित करने वाले सभी सांगोपांगों का उल्लेख करना त्यागराज भूलते नहीं। स्वाभाविक रूप से सभी का वर्णन हो ही पाता है। क्योंकि आत्म विभोर की अवस्था में सब कुछ अनायास ही व्यक्त हो जाता है। अपना दुख प्रकट करते समय उसे संसार का कोई ध्यान नहीं रहता। उसका परवाह पहले ही नहीं रहता। मन की तड़प ने कई कीर्तनों में अभिव्यक्ति पाई है।[6] कई स्थानों पर भगवान् पर अभियोग लगाकर कहता है—

---

1. 'मनसु विषय-नर-विटुला कोसगिते मा रामुनि कृपा कलुगुबो'–नामक कीर्तन।
2. 'परोपदेश वेळायां नर्वे पंडित मानिनः
   स्वानुष्ठानस्य समये मुनयोरपि न पंडिता'—आर्यांक्ति।
3. 'तना सौख्यमु तानेरुगका ओरुलकु तगु बोधना सुखमा'?
4. 'रामा नी येडा प्रेमारहितलकु नामा रुचि तेलियुना' नामक कीर्तन।
5. 'इंदुका ईतनुवुनु पेंचिनदि ?' नामक कीर्तन॥
6. 'इदि नीकु मेरा कादुरा श्री रामा'॥

'तुम्हारी शरण में मैं इसलिए आया कि तुम 'भक्त वत्सल हो', 'पतित पावन' हो, 'शरणागत रक्षक हो।' इसी कारण से मैंने सारा जीवन तुम्हारी आराधना की। परन्तु अब पता चला कि तुम्हारे मन में मेरे लिए करुणा लेश मात्र भी नहीं है। मेरा मन आर्द्रता से भर गया'[1] इस कीर्तन में विभावानुभाव संचारियों सहित करुण रस का वर्णन कर भक्त का मन थोड़ी सी भांति को प्राप्त किया होगा। अपने मन की करुणा को अभिव्यक्ति देकर आराधक पाठक-श्रोता के मन को भी द्रवीभूत कर देता है। अब भक्त के मन में संचारी शंका उत्पन्न होती है कि 'शायद मैं राम का नहीं हूँ। शायद उन्होंने मुझे स्वीकारा नहीं। अन्यथा मेरा उद्धार करना उनके लिए कोई असम्भव नहीं है।' 'स्वामी' श्री रामचन्द्र जी की करुणा जिन्हें प्राप्त नहीं होगी उन्हें इस भव सागर को पार करना संभव नहीं होगा। उनका कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो पाएगा। अतः जीवन में ईश्वर की करुणा प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है।[2] करुण रस प्रतिपादन का यह दूसरा पक्ष है जिसमें आलम्बन, आश्रय तथा आश्रय, आलम्बन बनकर करुण रस के प्रवाह की गति में अवरोध आने नहीं देंगे।

सख्य रस

भक्त-भगवान् अर्थात् आश्रय आलम्बन के बीच सखा के समान भक्ति प्रकट हैं। त्यागराज ने कई प्रसंगों में आर्ति को व्यक्त करने हेतु इस मार्ग को भी अपनाया। कहते हैं—'सभी देवी-देवताओं में इनके समान अन्य कोई नहीं है। घनत्यागराज का सखा श्रीराम ही सर्वोपरि है।' तात्पर्य यह है राम के द्वारा उद्धार प्राप्त करने पर त्यागराज ने अपने आपको 'घनत्यागराज' की उपाधि से अलंकृत किया।[3] जिस प्रकार प्रिया सखा का व सर्वस्य अत्यंत प्रीति का कारण बनता है, निकटता से उत्पन्न कई मधुर अनुभाव, संचारियों का, उद्दीपन कार्य आदि से सख्य रस की अभिव्यक्ति करने वाले कई कीर्तन पाये जाते हैं। 'चेलिमिनि जलजाक्षु कंटे चेप्पारय्या मीरू' नामक कीर्तन भी इस सख्य भक्ति-रस का प्रतिपादन करता है।

वीर रस भी त्यागराज के ध्यान से ओझल नहीं हुआ। भक्त कवि अपने कीर्तनों में आराध्य या आलम्बन के सभी गुणों का वर्णन अनुभाव संचारियों के रूप में करते समय यह नहीं भूलें कि आलम्बन एक वीर शूर नायक भी है। उनका अनन्त शौर्य का जो वर्णन कई कीर्तनों में हुआ है, वह प्रसंगवश नहीं—अत्यन्त

---

1. 'ना मदि तल्लडिल्लेरा,.....कोलिचिन नापै करुणा लेदनि
   कन्नीराया, चूचि नी मनसु करुणा देंदुकु'?
2. 'एमि चेसितेनेमि श्रीरामा? स्वामी करुणा लेनि वारिललो'॥
3. सामिकि सरि चेप्पा जाला वेल्पुला रामा
   ....
   अन्नि वेल्पुललोना अतनिकि सरिकाना
   तन्नु ब्रोचिना घन त्यागराज सखुडैना'

ध्यानपूर्वक हुआ है, गौण रस के रूप में नहीं प्रधान रस के रूप में हुआ है। दानवीर, दयावीर, धर्मवीर, युद्धवीर–इन सभी को दृष्टि में रखकर इनके संबंधी अलग-अलग कीर्तनों का वर्णन करने में त्यागराज का राजनीति संबंधी ज्ञान का भी परिचय प्राप्त होता है।

दानगुण राम का अनुपम है। साम दान भेद दंड इन चारों उपायों में चतुर राम का दयागुण प्रशंसनीय है। शरण में आने पर शत्रु के अनुज-पुत्र आदि पर दया दिखाया, विभीषण प्रह्लाद इस दयागुण के पात्र बन पाए हैं। उनका भाग्य सराहनीय है। रावण को जीतकर लंका प्राप्त कर भी उसे शरणागत विभीषण को जो शत्रु का अनुज है—दान में दे दिया—ठीक उसी प्रकार प्रह्लाद को मोक्ष प्राप्त कराया—ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें राम का 'दानवीर' रूप वर्णित है। यदि 'दान' नहीं है तो सम्भवतः 'वीरता' भी प्रशंसा का पात्र बन नहीं पाती। धर्म, दान दया के बिना वीरता सार्थक नहीं हो पाता। दान के मूल में धर्मनिरति दया गुण का होना अत्यन्त आवश्यक है। वाल्मीकि ने भी 'रिपूणामपि वत्सल' कहकर राम की जो प्रशंसा की वह सार्थक है। दयागुण के परिचायक 'वाचामगोचरमे मनसा' नामक कीर्तन है जिसमें प्राण दान के लिए आर्त हिरण के प्रति राम ने दया प्रकट की। युद्धवीर राम का वर्णन त्यागराज ने कई कीर्तनों में किया है। 'शर शर समरैकशूरा', 'एवरिन्चिरियि शर चापमुलु', 'राम बाण त्राण शौर्यमेमनि पोगडुदुरा' आदि अनेक कीर्तन प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें राम अकेले ही रावण के बल को नष्ट करने में समर्थ हैं। यह भाव व्यक्त है।

'अलक कल्लालाडगा गानि' नामक कीर्तन में वीरता पूर्वक राक्षस मरीच के साथ युद्ध करने वाले सुकुमार राम का वर्णन है। मुनि विश्वामित्र मरीच के वध के समय भी राम के सौन्दर्य से मुग्ध होकर उन्हीं की ओर इकटक देखते रहे। उन्हें शायद यह चिन्ता बिल्कुल नहीं थी कि राम राक्षस मरीच का वध कर पाएगा या नहीं'—उन्हें राम की वीरता पर अटल विश्वास था। इस कीर्तन में तुरन्त ही शिव धनुर्भंग का प्रसंग वर्णित है। तात्पर्य यह है कि युद्ध के समय भी राम का सौन्दर्य उद्दीप्त है। विवाह मंडप में, युद्ध रंग में दोनों स्थानों पर एक ही समान रामचन्द्र का सौन्दर्य शोभायमान है। रामचन्द्र जी के शौर्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इनकी अन्य रचनाओं में भक्ति रस का प्रतिपादन पराकाष्ठा पर हुआ है। 'नौका चरित्र' में 'मधुर भक्ति' 'प्रह्लाद भक्ति विजयमु' में शान्त रस की चरम सीमा पायी जाती है। रक्षगानकर्ता त्यागराज अपनी अन्य रचनाओं में भी भक्ति रस के प्रतिपादन में शत-प्रतिशत सफलता प्राप्त की।

त्यागराज की भक्ति की यही विशेषता है कि पहले आराध्य की प्रशंसा के रूप में तदनन्तर अभियोग के रूप में, फिर उपदेश प्रांप्त करने के द्वारा भक्ति रस को

पराकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं। कभी मधुर भक्ति रस का कभी वात्सल्य भक्ति रस कभी भक्त वत्सलता का वर्णन किया जाता है। उपर्युक्त कीर्तन में राम, कृष्ण, रंगशायी सभी का सामूहिक रूप से स्तोत्र-स्तुति पायी जाती है। लोककल्याण की दृष्टि से ब्रह्मतेज से क्षात्र तेज अधिक शक्तिवान् तथा उपयोगी भी है। इसीलिए भक्तों ने परशुराम जैसे ब्रह्मतेजस्वी का नहीं राम-कृष्ण जैसे क्षात्र तेजस्वियों को आलम्बन बनाया। तुलसी, सूर, मीरा, भक्त पोतन्ना, कंबर, पुरंदर आदि सभी भक्त वरेण्यों के समान त्यागराज ने भी अपने सभी कीर्तनों को 'जानकी मनोहर', 'राजीव के भंवादिवंद्य', 'रघुकुल तिलक', 'मुनिजन पूजितपादे-पुण्य चरित्र' रामचन्द्रजी के चरण कमलों पर समर्पित किया। भक्ति परवशता के कारण ही अनन्य भक्ति के कारण ही राजाश्रय-निधि निक्षेपों को स्वीकार न कर इन्होंने यह शक्ति प्राप्त की कि तिरुपति बालाजी से प्रार्थना कर कि परदा हटाकर दर्शन देओ। 'तुरन्त मनोवांछा प्राप्त कर ली—परदा हट गया—बालाजी के दिव्य दर्शन हो गये—माया रूपी परदा हट जाने पर आत्मा में आराध्य का दर्शन हो पाया—यह भी संकेत हैं। इस आत्मज्ञान का परिचय 'कनुगोंटिनी श्रीरामुनि नेडु' आदि अनेक कीर्तनों में हमें प्राप्त होता है।

अंततोगत्वा कहा जा सकता है कि हर समय मन में उमड़कर प्रवाहित होने वाली भक्ति के आवेग को विभावानुभावों के द्वारा संचारियों की सहायता से रस धारा में परिवर्तित कर त्यागराज ने इस क्षेत्र को आप्लावित कर स्वयं धन्य हो गए—संगीत के भक्तों को भी धन्यकर दिया। जहॉ-जहाँ मिश्रम भाव भक्ति का वर्णन किया गया है वहाँ भक्ति रस की परिपक्व स्थिति पाई जाती है, क्योंकि सभी प्रकार के भक्ति विधानों को अपना कर, विभावानुभावों के द्वारा अपनी वेदना व्यक्त कर भक्त शायद यह आशा करता है कि 'सम्भवतः इनमें से कोई न कोई मार्ग सफल हो सकता है—भगवान की कृपा है।

उल्लेखनीय बात एक और यह है कि पाश्चात्यों के संगीत पद्धति का अनुकरण भी करते हुए त्यागराज ने दो कीर्तनों की रचना की। दो नए रागों का सृजनकर उन रागों में 'रमिंचुवारेवरुरा' (राग सुपोषिणी) श्रीरामा पादमा नी कृपा चालने' (राग अमृत वर्षिणी')—इन दो कीर्तनों की रचना की। त्यागराज के समय तक भारत पर पाश्चात्यों का शासन हो चुका। उनकी संस्कृति सभ्यता के साथ-साथ संगीत का भी उनका प्रभाव अनिवार्य था। समाज में उस संगीत के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। भारतीय संगीत की दशा दयनीय होती जा रही थी। त्यागराज ने सोचा कि प्रजा की दृष्टि को फिर से भारतीय संगीत के प्रति आकृष्ट करने, यह अत्यंत आवश्यक है कि दोनों संगीतों के मेल से कुछ नए रागों का सृजन कर, कुछ कीर्तनों की रचना की जाए। त्यागराज को इस प्रयत्न में शत-प्रतिशत सफलता प्राप्त हुई—भारतीय संगीत का पुनरुथान हुआ।

इस प्रकार के संदर्भ समय के अनुसार रसों का रागों का अनुकरण त्यागराज के विशाल दृष्टिकोण के परिचायक है। तभी वे उनका संगीत 'आचन्द्र तारार्क'. जगत् प्रसिद्ध हो पाए हैं।

✦✦✦

पंचम अध्याय

तुलसी एवं त्यागराज की संगीतात्मकता

5.1 संगीतात्मकता

मानव जीवन के विशाल ऐतिहासिक चित्र पट पर संगीत का अभ्युदय कब हुआ यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। मानव अपने आपमें जितना पुराना है सम्भवतः संगीत को भी उतनी ही प्राचीनता का श्रेय प्राप्त है। मनुष्य का एक मुख्य उद्देश्य है—जीवन को सुखमय बनाना[1] काव्य के द्वारा मानव भाव-सौन्दर्य का बोध करता है, चित्रकला के द्वारा वह भावों को रंगों और रेखाओं से युक्तकर उनके आकार-रूप का आनन्द लेता है। संगीत में वह नाद और लय के द्वारा उन्हीं भावों के चांचल्य का कर्ण-सुख अनुभव करता है। काव्य में जो भाव गम्भीर हो मानस पटल पर अंकित हो जाते हैं, वही संगीत के संस्पर्श से गतिमान हो एक नया सौन्दर्य प्रदान करते हैं। इसीलिये मानव कला में अनुभूति का भावाकार पा उल्लसित होता है। काव्य में यह अनुभव और भी सूक्ष्म हो जाता है किन्तु भावों का सर्वाधिक उद्रेक संगीत और काव्य के समन्वय में प्राप्त होता है।

"मानव स्वभाव और उसकी मनोवृत्ति के अनायास स्फुरण में जिन वस्तुओं की कल्पना की जाती है संगीत भी उनमें एक है। भाव संगीत का आश्रय पाकर खिल उठते हैं और संगीत भावों को पाकर सजीव हो जाता है। कविता का चोला भावों को सौन्दर्य प्रदान करता है और फिर काव्य संगीत का आश्रय लेकर प्रभावोत्पादन की क्षमता में वृद्धि करता है। इसीलिए आदि काव्य गेय है। स्वयं काव्य अपने आपमें चित्र और संगीत का सुन्दर मिश्रण है। काव्य का मूल आधार शब्द, अर्थ, चेतना और रस है, इसके बिना काव्य, शुद्ध काव्य नहीं हो सकता। शब्द, अर्थ के संयोग से पाठक काव्य-वर्णित भाव का आस्वादन करता है और नाद के संयोग से श्राव्य मूर्त-विधान भी होता है। कविता और संगीत के लिये यह कहना उपयुक्त होगा कि "कविता शब्दों के रूप में संगीत और संगीत स्वर रूप में कविता है।"

अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिये काव्य को संगीत का आश्रय लेना पड़ता है। संगीत और काव्य की इसी अन्योन्याश्रित भावना को समझकर प्रगीत को अनिवार्य

---

1. "काव्य दर्पण" (रामदहिन मिश्र) द्वितीय सं० पृ० 31

विशेषताओं में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रगीत से अन्तर्जगत् का स्वाभाविक रागात्मक स्फुरण होता है। अतः संगीत का आश्रय पाकर अन्तर्मन और भी झंकृत हो उठता है। काव्य-सृजन में कवि की आत्मा एक अलौकिक अनुभूति से आप्लावित रहती है—यह अनुभूति संगीत के स्वर के आरोह-अवरोह द्वारा अनिर्वचनीय रसोद्रेक में सहायक होती है।

इसीलिये कहा गया है कि—

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात पशु पुच्छ विषाण हीनः।

5.2 तुलसी की संगीतज्ञता

काव्य और संगीत का मंजुल समन्वय गीत काव्य का श्रेष्ठतम रूप है। इसकी प्रत्येक पंक्ति के साथ काव्य का और प्रत्येक आरोह-अवरोह के साथ संगीत का प्रभाव बढ़ता जाता है। शब्द एक ओर अर्थ की भावभूमि पर पाठक को ले जाते हैं, तो दूसरी ओर वे नाद द्वारा उन अर्थों को स्थायित्व प्रदान करते हैं। काव्य और संगीत दोनों के आस्वादन का माध्यम एक होते हुए भी काव्य का आधार नाद का स्वरव्यंजनात्मक रूप है जबकि संगीत का आधार उसका स्वरात्मक आरोह-अवरोह। इस प्रकार काव्य और संगीत दोनों में ही रसात्मक अनुभूति होती है। अतः संगीत को काव्यकला का प्रमुख सहयोगी उपकरण माना जाता है। वह काव्य में लयात्मकता और श्रुति-माधुर्य की सृष्टि करता है।

कुशल कवि एवं निष्णात संगीतज्ञ होने के कारण तुलसी के गीतों का साहित्यिक स्तर सर्वत्र संगीत के तत्वों से युक्त है। "विनयपत्रिका" के गीतों में काव्य, स्वरमाधुरी और तालपद्धति तीनों का पावन संगम है। तुलसी संगीतज्ञ थे, इस विषय में वियोगीहरि का विचार है कि "विनयपत्रिका" के सारे ही पद गाने योग्य हैं। वे विभिन्न रागों में गाये जाते हैं। कौन पद किस राग-रागिनी में गाया जा सकता है इसका पूरा विचार रखा गया है। जो स्वयं सफल गायक होता है, वही संगीत-संगत छन्दों की रचना करने में कृतकार्य हो सकता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह भी पता चलता है कि जिस राग के उपयुक्त जो पद रचा गया है उसका भाव भी उसी राग के अनुरूप है।[1]

डा० वचनदेव कुमार ने तुलसी की संगीतज्ञता की पुष्टि में तीन हेतु दिये हैं,[2] पर उनमें कोई ठोस प्रमाण नहीं दिखाई देता। ऐसा भी देखा जाता है कि कवि विभिन्न ताल और लय के अनुसार रचना करता है, यद्यपि उसे संगीत की कोई विशेष जानकारी नहीं होती। अन्य संगीतज्ञ उसके गीतों की राग रागिनी का निर्णय

---

1. **विनयपत्रिका हरितोषिणी टीका वक्तव्य, पृ०** 30
2. **तुलसी के भक्त्यात्म गीत, पृ०** 180-182.

कर देते हैं। फिर भी तुलसी संगीतज्ञता ये इस संभावना में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।

विनयपत्रिका में प्रयुक्त रागों का विवरण

डा० रामचन्द्र मिश्र के अनुसार "विनयपत्रिका" में 23 राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। ये हैं—आसावरी, कल्याण, कान्हरा, केदार, चंचरी, जयतश्री, तोड़ी, दण्डक, धनाश्री, नट, वसन्त, बिलावल, भैरव, भैरवी, मल्हार, मारू, रामकली, ललित, विभास, बिहाग, सारंग, सूहो-विलावल तथा सोरठ।

डा० रामकुमार वर्मा ने "विनयपत्रिका" में 21 राग माने हैं। तथा इनमें दण्डक राग का भी नाम लिया है। गीता प्रेस, वियोगी हरि, रामेश्वर भट्ट तथा बैजनाथ की प्रतियों में भी "विनयपत्रिका" के 37वें पद पर दण्डक राग का निर्देश है। परन्तु संगीतशास्त्र में दण्डक नाम का कोई राग नहीं है। यह छन्द का एक प्रकार है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

"विनयपत्रिका" के संस्करणों में पदों के साथ प्रायः रागों का निर्देश मिलता है। गीता प्रेस और वियोगी हरि के संस्करणों में निर्दिष्ट रागों में प्रायः समानता है। अंजनीनन्दन शरण के "विनयपीयूष" में कुछ पदों के राग-नामों में इन दोनों संस्करणों से भिन्नता है। इसमें कुछ अन्य संस्करणों के उल्लिखित रागों का निर्देश भी है। "विनयपत्रिका" के विविध संस्करणों के राग-विषयक निर्देशों के तुलनात्मक अध्ययन से 22 रागों का निर्णय होता है। रामचन्द्र मिश्र ने जिस चंचरी राग का उल्लेख किया है उनका निर्देश इन संस्करणों में नहीं है। "गौरी" का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

"विनयपत्रिका" के जिन पदों पर रागों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है उनमें उससे पूर्व निदिष्ट राग ही अभिप्रेत है। इस नियम के अनुसार गीता प्रेस के संस्करण की राग-सूची में सभी पदों के रागों का निर्देश है। रागों का विवरण इस प्रकार हैं—

(1) आसावरी

यह प्रातर्गेय तथा करुणरस-पोषक राग है। पद 62 और 183-88 में इस राग का निर्देश है।

(2) कल्याण

इसका समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। यह मंगल सूचक अथवा आशीर्वचनात्मक है। कुछ गायक इसी राग से गाना आरम्भ करते हैं। "विनयपत्रिका" के सर्वाधिक पद इसी राग में है।

(3) कान्हारा

यह प्राचीन एवं शाही दरबार के अनुरूप राग है। आजकल यह दरबारी कान्हारा के रूप में प्रचलित है। इसकी चलन गम्भीर है तथा इसका चपल रूप

वीर रस के अनुरूप है। पद 24, 204-7 में यह राग है। "विनयपीयूष" के अनुसार 5वें पद में भी यही राग है।

(4) केदार

यह रात्रिगेय, भक्तिरसानुकूल एवं गम्भीर प्रकृति का राग है। इसके दोनों मध्यमों (म. प्र.)- तथा दर्दभरी मीड़ के कारण इसमें हृदय के गम्भीर उफानों की सफल अभिव्यक्ति होती है। इसकी प्रकृति में हलकी सी करुणा रहती है। पद 37, 41-44 212-13 में यह राग है। इन सभी पदों में करुणरस का विशेष निबन्धन है। 41वें तथा 42वें पद में कवि ने जानकी से बड़ी दीनता, व्यग्रता और तन्मयता पूर्वक यह प्रार्थना की है कि वे भगवान् राम को उसकी सुधि दिलाएँ। पद 212-13 में इन्हीं भावों से ओत-प्रोत प्रार्थना भगवान् राम से की गयी है। इन पदों में भी चिन्ता, शोक और करुणा की प्राधानता है। केदार की दर्दभरी मीड़ को देखते हुए इन पदों का निबन्धन सर्वथा स्वाभाविक एवं भावानुकूल है। सूर ने भी दैन्य, चिन्ता, विवशता और शोक प्रसंगों में इसी राग का प्रयोग किया है।

(5) गौरी

यह सायंगेय राग है। वैष्णव सम्प्रदाय के कीर्तनों में इसका सर्वाधिक प्रयोग होता है। इस राग में अलंकारों का प्रयोग कम होता है। पद 31, 36, 45, 189-97 पदों में यह राग है। पद 31 में "विनयपत्रिका" के अनुसारी राग सारंग है।

(6) जैतश्री

इसे आजकल "जयतश्री" कहते हैं। यह एक अप्रचलित राग है। इनमें दो राग "जयत" और "श्री" मिश्रण है। "श्री" राग का प्रयोग विरक्ति के अनुकूल है। "जयत" के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पद 63, 83-84 इस राग में हैं।

(7) तोड़ी

इसका अपभ्रंश टोड़ी है। यह एक रागिनी है। यह कोमलता से युक्त तथा करुणरस के उपयुक्त है। पद 78-82 इस राग में है।

(8) धनाश्री

यह सायंगेय राग है। इसके स्वरूप के विषय में मतभेद है। पर इसका उल्लेख सभी ग्रंथों में हैं। धनाश्री राग कम प्रचलित है। इसके अंग के रूप में भीमपलासी, मुलतानी, पटदीप अधिक प्रचलित है। पद 4-5, 10-12, 25-29, 38-40, 85-105 इस राग में है। "विनयपीयूष" के अनुसार पद 5 में कान्हारा है।

(9) नट

इसके अनेक रूप हैं। छायानट रूप अधिक प्रचलित है। इसके सम्मिश्रण से नट-मल्हार, नंट-बिलावल राग बने हैं। आजकल वाद्य संगीत में नट-भैरव का

विशेष प्रचार है। यह राग तथ्य-वर्णन के उपयुक्त है। इसे शान्त, गम्भीर अथवा चंचल कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। पद 158-60 इस राग में है।

(10) बसन्त

यह बसन्त ऋतु से सम्बद्ध राग है। विरह-वर्णन के अधिक उपयुक्त है। इसके प्राचीन और वर्तमान रूप में अन्तर है। प्राचीन रूप में दुःख की छटा कम है। "विनयपत्रिका" का प्रसिद्ध पद 14, जिसमें बसन्त ऋतु का वर्णन है, इसी राग में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त पद 13, 23 और 64 भी इसी राग में है। 23वें पद पर प्रह्लाददास की पोथी में राग कान्हारा का निर्देश मिलता है।[1]

(11) बिलावल

यह प्रातर्गेय राग है। इसकी स्वर-योजना ईश-स्तुति के अनुकूल है। इसमें सरगमों का आरोह-अवरोह कुछ इस प्रकार का होता है कि जिसमें अत्यन्त गम्भीरता आ जाती है। आजकल इसका एक रूप अल्हैया बिलावल अधिक प्रचलित है। "विनयपत्रिका" का प्रारम्भ इसी राग में हुआ है तथा इसके अधिकतर पद इस राग में निबद्ध हैं।[2]

(12) बिहाग

यह रात्रिगेय, गम्भीर प्रकृति एवं विशेषतः संयोग शृंगार के उपयुक्त राग है। इसमें आनन्द की छटा होती है। पद 107-34 इस राग में हैं। 107वें पद में दीन विलावल राग मानते हैं।

(13) भैरव

यह प्रातर्गेय राग है। यह पुरुष एवं गम्भीर प्रकृति का उग्र राग है। पद 22, 65-73 इस राग में हैं। कुछ संस्करणों में 22वें पद पर मारु अथवा रामकली का निर्देश है।[3]

(14) भैरवी

यह भैरव राग की रागिनी है। इसमें पूजा और आत्मसमर्पण का भाव होता है। प्रातर्गेय होने पर भी यह किसी भी समय गायी जा सकती है। कुछ गायक इसे शृंगार का रूप भी दे देते हैं। तथा कुछ इसे "सदा सुहागिनी" कहते हैं। पद 198-203 इसमें है। "विनयपीयूष" के अनुसार पद 81 में भी भैरव राग है।

---

1. **विपी. पद** 23.
2. **विप.** 1-3, 21, 32-35, 107, 134, 137-154, 179-82.
3. **विपी. , पद** 22.

(15) मल्हार

इसकी व्युत्पत्ति मल + हर (पापनाशक, अर्थात् शिव) की गई है। यह बसन्त ऋतु से सम्बद्ध पुरुष प्रकृति का राग है। इसके स्वरों में भय, आतंक और उग्रता का समावेश होता है। सूर ने गोवर्धन धारण तथा पावस-प्रसंग में गोपियों की विरह-कातरता का वर्णन इसी राग में किया है। "विनयपत्रिका" के 161वें पद में यह राग है। इस पद के "कृपा-सुधा-जलदान" "स्वाति-सनेह-सलिल", "चित्त-चातक की पोती, इत्यादि से व्यंजना वृत्ति के द्वारा वर्षकालीन, प्रसंग की उत्प्रेक्षा की गयी है, जो इस राग के अनुकूल है।

(16) मारू

यह लोकगीत से सम्बद्ध राग है। राजस्थान (मरुभूमि) का राग होने से इसका नाम "मारू" पड़ा। आजकल इसका अपभ्रंश रूप "मारवा" प्रचलित है। इसके अतिरिक्त "मारूविहाग" नामक राग भी प्रचलित है। मारु राग परम्परा से वीररसात्मक है। इसमें वीरता के साथ रौद्र, भयानक, बीभत्स जैसे कठोर भावों का निबन्धन होता है। तुलसी ने शक्ति-स्वरूपा देवी की स्तुति "विनय-पत्रिका" के 15वें पद में इसी राग में की है। इस पद की शब्दावली वीरभरसात्मक है।

(17) रामकली

यह प्रातर्गेय है। इसकी प्रकृति भजन तथा भक्ति भाव के अनुकूल है। भैरव राग से समानता होते हुए भी उसकी अपेक्षा यह अधिक चंचल है। पद 6-9, 16-20, 46-61 तथा 106 इसमें है। कुछ संस्करणों में पद 16 पर राग सारंग तथा 19वें राग पर बिलावल निदिष्ट है।[1]

(18) ललित

यह प्रातर्गेय एवं करुण रस के उपयुक्त लालित्यपूर्ण राग है। पद 75-76 इस राग में है।

(19) विभास

यह प्रातःकालीन राग है। इसमें प्रातःकाल की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन होता है। पद 74 में इस राग का निर्देश है। इसमें कवि ने—

> **"जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव, जागि त्यागि मूढ़ता**
> **नुराग श्री हरे।........**
> **अब प्रभात प्रगट ग्यान-भानु के प्रकास वासना सराग मो द्वेष**
> **निविड़ तम टरे॥.....**

---

1. **विपी. , प्रद** 16 **तथा** 19.

इत्यादि के द्वारा मोहरात्रि के बीतने, आज्ञानांधकार के दूर होने तथा आध्यात्मिक जागरण का जो सुन्दर वर्णन किया है वह विभास राग के अनुकूल हैं।

(20) सारंग

यह मध्याह्नगेय है। चंचल गति के कारण इसका नाम सारंग है। यह वृन्दावनी सारंग के नाम से अधि प्रचलित है। यह विशेषतः राजस्थान और व्रजप्रदेश की लोकधुनों में अधिक प्रयुक्त होता है। पद 30, 155-56-7 इस राग में हैं।

(21) सूहोबिलावल

सूहो तथा बिलावल दो राग पृथक्-पृथक् प्रचलित है। पद 34-36 में यह राग है।

(22) सोरठ

यह रात्रिगेय राग है। सौराष्ट्र से सम्बन्ध होने के कारण इसका नाम सोरठ है। वहाँ के लोकगीतों में यह पर्याप्त प्रचलित है। यह विशेषतः नृत्य के साथ गाया जाता है। इसकी गति चंचल है पर सारंग की अपेक्षा कम। पद 162-78 इस राग में हैं।

रागों के इस विवरण से स्पष्ट है कि तुलसी ने सूरदास की तरह अत्यधिक राग-रागिनियों का प्रयोग नहीं किया। "विनयपत्रिका" के अधिकतर पद कल्याण और बिलावल राग में हैं। इनकी संख्या क्रमशः 70 और 32 है। गम्भीर-प्रकृति का होने के कारण कल्याण राग आत्मनिवेदनात्मक प्रसंगों के अत्यन्त उपयुक्त है। अतः "विनयपत्रिका" में उसकी अत्यधिकता स्वाभाविक है। कुछ पदों के रागों के सम्बन्ध में जो मतभेद मिलता है। इसका कारण सम्भवतः एक पद का कई रागों में गाया जा सकता है।

"विनयपत्रिका" में रागों की प्रकृति के अनुसार ही वर्णों की योजना है। केदार राग में प्रसाद गुण के अनुरूप वर्णयोजना है तो मारू में ओज तथा गौरी में माधुर्य गुण के अनुकूल। गौरी में टकार-रहित स्पर्श वर्ण तथा अनुस्वार का प्रयोग है एवं समास का अभाव है। इसके विपरीत मारू राग में ड जैसे कठोर एवं संयुक्त वर्णों की अधिकता है। इसी प्रकार केदार राग के पद में भावानुरूप वर्णों का प्रयोग हुआ है। रागों के गायन-प्रहर आदि के सम्बन्ध में भी सावधानी बरती है। "विनय पत्रिका" में प्रातःकाल मुख्य राग भैरव, भैरवी, विभास रामकली आदि है। सूर्योदय के बाद में के राग आसावरी कान्हारा तोड़ी, बिलावल आदि हैं। मध्याह्न और उनके बाद का राग सारंग है। रात्रि के मध्य के राग विहाग, सोरठ, नट आदि है।

गोस्वामी तुलसीदास की प्रगीत रचनाओं में शास्त्रीय संगीत का सर्वत्र निर्वाह है। गीतावली और विनयपत्रिका में सभी पद संगीतज्ञों के द्वारा गाये जाते हैं।

गोस्वामी की रचनाओं के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि इनको संगीत के शास्त्रीय रूप का अधिक ज्ञान नहीं था। ऐसा हम इसलिए कहते हैं कि गोस्वामी के अन्तरे "कहीं-कहीं अधिक लम्बे हो गये हैं। उनके गाये जाने में गायक कुछ कठिनाई अनुभव करता है। "टेक" का निर्वाह अधिकांश रूप से उचित है। किन्तु "अन्तरा" में यह विस्तार केवल इसी बात का सूचक है कि तुलसीदास भावाभिव्यंजना को ही प्रधान मानते थे। संगीत के लिये उन्होंने काव्य रचना नहीं की अपितु पद निर्माण के बाद उसे संगीत का आवरण उढ़ाया जाता था—

मन इतनोई या तनु को परम फलुं

सब अंग सुभगबिन्दु माधव छवि तजि सुभाव अवलोकु एक पलु।[1]

यह पद 'राग' जैतश्री में है। इसमें "टेक" स्वाभाविक है, किन्तु दूसरी पंक्ति (अन्तरा) में विस्तार के कारण गायक को स्वर विस्तार का पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाता। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि यह दोष सर्वत्र है केवल कुछ पदों में जहाँ भावातिरेक के कारण वर्णन का मोह अधिक हो गया है—इस प्रकार का अभाव मिलता है। इसके विपरीत एक पद द्रष्टव्य है जिसमें "टेक" और "अन्तरा" की उचित व्यवस्था से स्वर विस्तार को पर्याप्त मात्रा में स्थान मिलता है।

जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे

काको नाम पतित पावन जग केहि अति दीन पियारे (1)
कौन देव वराह विरद हित, हठि हठि अधम उधारे
खग, मृग, व्याध, पषान, विटप जड़ जबन कवन सुर तारे (2)
देव, दनुज, मुनि, नाग, भाग, मनुज सब, माया विवश विचारे
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपुन पौ हारे (3)[2]

इस पद में अत्यन्त स्वाभाविक रूप से संगीत का प्रवेश हुआ है। "अन्तरा" में स्वर विस्तार का पर्याप्त अवसर गायक को मिल जाता है। अस्तु!

थोड़ा-सा और गम्भीर पूर्वक विचार करने पर पता चलता है कि तुलसीदास को संगीत की अधिक राग रागनियों का ज्ञान न था। यह आवश्यक भी नहीं कि एक महान साहित्यकार महान संगीतज्ञ भी हो। गोस्वामी ने लगभग बाईस रागों[3] का प्रयोग अपनी विविध रचनाओं में किया है। इनमें भी हम देखते हैं कि उनको कुछ राग अधिक पसन्द थे—विशेष रूप से हमारे कवि ने "केदार","आसावरी",

---

1. "**विनयपत्रिका**", **पद** 63.
2. "**विनयपत्रिका**", **पद** 101.
3. **ये राग हैं—राग आसावरी, जैतश्री, बिलावल, केदार, धनाश्री, सोरठ, कल्याण, कान्हारा, ललित, विभास, नट, टोड़ी, सारंग, मलार, केदार, गौरी, मारू, भैरव, चंचरी, बसन्त और रामकली।**

"सोरठ", "कान्हारा", "बिलावल" और "जैतश्री" का प्रयोग किया है। गीतावली के राग प्रातः और सायंकाल के समय के हैं। तृतीय प्रहर का कोई भी राग उसमें नहीं मिलता। रागों की कमी का कारण केवल कवि का अज्ञान ही नहीं हो सकता अपितु ऐसा भी सम्भव है कि इससे अधिक रागों का प्रयोग करना ही न चाहते हों। आसावरी में अधिकतर लम्बे पदों की योजना की गयी है। जैतश्री, केदार और सोरठ में पदों का आकार छोटा है। समयानुसार रागों की स्थिति पर विचार करते हुए पता चलता है कि—बिलावल, आसावरी, विभास, नट आदि राग प्रातःकाल के हैं और सोरठ, कांगरा, कल्याण, केदार सायं और रात्रि के राग हैं। हमारे कवि की रचनाओं में समयानुकूल अभिव्यक्ति हुई है। राम का जीवन अधिक लीलामय न होने के कारण राम के मंदिरों में भजन कीर्तन अधिकतर प्रातः और सायं ही होता था, भोग के समय भी मंदिरों में गान होते थे इसलिए तुलसीदास ने विशेष समय पर गाये जाने वाले रागों में ही अभिव्यक्ति की है। प्रातःकाल की स्तुति के लिये कवि ने राग केदार में अधिक गीत लिखे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि एक राग को लेकर कवि बैठते हैं और उसी प्रवाह में लिखते चले जाते हैं।

(साहित्यिकता के आग्रह के कारण कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र में जहाँ भी वर्णन का मोह परिलक्षित होता है वहीं संगीत का विधान कुंठित हो जाता है। वर्णन की प्रवृत्ति में शब्द विज्ञान का आग्रह अधिक होगा—शब्दों का आग्रह संगीत के स्वर वैभव के प्रतिकूल पड़ने के कारण संगीत की स्वाभाविक धारा का अतिक्रमण कर जाता है।) गीतावली के कुछ पदों में यह कमी आ गयी है। कवि की अनुभूति के साथ ही संगीत की रक्षा हो पाई है। विनयपत्रिका के आरम्भ के कुछ स्तोत्र-पदों को छोड़कर तथा प्रसंगवश बीच के कुछ लम्बे पदों को छोड़कर सभी पद्य शास्त्रीय संगीत का श्रेष्ठ आधार बन सके हैं। गायकों द्वारा इन पदों के गायन की व्यवस्था यह स्पष्ट करती है कि ये पद संगीत के उपयुक्त हैं। दूसरे संगीत की बँधी परिपाटी में कवि की अनुभूति का प्रसार हो ऐसा आवश्यक भी तो नहीं, हृदय की प्रबलशीलता, भावुकता के स्वाभाविक प्रवाह में तुलसी के हृदय से जिन पदों की रचना हुई है वे सब आन्तरिक संगीत की छटा से शोभित हैं।

संगीत विद्या की दृष्टि से यदि तुलसी के पदों को परखते हैं तो एक बात यह प्रारम्भ में ही लक्षित होती है कि हमारे कवि के गीत शब्द प्रधान अधिक है स्वर प्रधान कम। संगीतज्ञ को स्वर विस्तार के लिये शब्दों का थोड़ा बहुत आधार-मात्र चाहिए वह शब्दों की महत्ता उनके आधिक्य में स्वीकार न कर आन्तरिक भावों में मानता है। संगीत के क्षेत्र में रस की कल्पना जिस रूप में मानी गयी है वह काव्य में मान्य रस कल्पना से भिन्न है। काव्य में एक पद्य भिन्न-भिन्न भावों की सृष्टि नहीं कर सकता किन्तु एक राग में संगीतज्ञ कुछ हेर-फेर के साथ करुणा, उल्लास, दानों भावों की अभिव्यक्ति कर सकता है। उदाहरण के लिये राग मलार को लीजिए, इसमें करुण, विरह, उल्लास और क्रोध सब प्रकार की अभिव्यक्ति की जा सकती

है। कृष्ण-गीतावली में तुलसी ने तीन बार इस राग का प्रयोग किया है। तीनों बार ही भिन्न अनुभूति का चित्रण है।

ब्रज पर घन घमण्ड कारे आये।
अति अपमान विचारि आपनी कोपि सुरेस पठाये॥
दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिनी भयौ गगन गम्भीर।
गरजत घारे वारि-घर घावत प्रेरित प्रबल समीर॥
बार बार पविपात, उपलवन बरषत बूंद बिसाल।
सीत-समीत पुकारत आरत गो सुत गोपी ग्वाल॥[1]

× × ×

कोउ सखि नई बात सुन आई।
यह ब्रज भूमि सकल सुरपति सौ, मदन मिलिक करि पाई॥
घावन, बगपाँति पटो सिर, बेरख तड़ित सोहाई।
बोलत पिक नकीब गरजनि मिल, मानहु फिरति दोहाई।[2]

× × ×

जो पै अलि! अन्त इहै करिबो हो।
तो अगनित अहीर अवलनि को हठि नहियो दरि दोही॥
ज्यों प्रपंच करि नाम प्रेम फिरि अनुचित आचरि बोहो।
तो मथुराहि महामहिमा लहि सकल ढरनि ढसिबोहो।
दै कूबरिहि रूप ब्रज सुधि भएँ लौकिक डर डरि बोही।
ग्यान बिराग काल कृत करतब हमरेहि सिर धरिबो हो।।[3]

प्रथम पद में कवि ने भयंकर वातावरण को इस राग में अभिव्यक्ति किया है। दूसरे में परिस्थिति भिन्न है और तीसरे में अनुभूति की विरहजन्य अवस्था का मार्मिक चित्रण किया गया है। गीति काव्य में इस प्रकार किया जा सकता है। संगीत में रस का आधार स्वर विस्तार इसीलिए माना गया है कि उसमें प्रत्येक शब्द स्वर विधान को आत्म समर्पण कर देता है। शब्द की महत्ता न रहकर उसके स्वर विस्तार को महत्ता प्राप्त हो जाती है। इन्हीं तीनों पदों में संगीत के आन्तरिक पक्ष की विवेचना के लिये भी पर्याप्त सामग्री मिल जायेगी—गोस्वामी इस ओर

---

1. कृष्ण गीतावली पद संख्या :— 18
2. कृष्ण गीतावली पद संख्या क्रमशः 32-391
   यह भेद इसलिए स्वीकार किया गया कि काव्य में शब्दार्थ के द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है उसमें विभाव, अनुभाव आदि का सहज स्पष्टीकरण होता है। पर संगीत एक नादपरक सृष्टि है। उसमें एक ही राग कण्ठ मार्दव के कारण विभिन्न प्रकार अभिव्यक्ति में समर्थ होता है। —लेखक
3. वही—पद संख्या 32-39.

पर्याप्त रूप से सचेष्ट रहे हैं। आन्तरिक संगीत विविध प्रकार की वीप्सा अनुप्रास और यमक पर आधारित है। शब्द योजना ही आन्तरिक संगीत का सृजन करती है। अनुप्रास की छटा इन पद्यों में दर्शनीय है।

"अति अपमान विचारि आपुनो" में "अ" की आवृत्ति एक अनोखे आन्तरिक संगीत की सृष्टि कर रही है। "दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिन" में यह शोभा और भी बढ़ जाती है।—इसके अतिरिक्त तीसरे पद में—"अगनित अहीर अवलोकनि को हठिन हियो हरि बोहो में भी यही सौन्दर्य है। इन सभी पदों में शब्द लालित्य संगीत के स्वर विधान से पूर्ण रूपेण साहचर्य स्थापित करता है।

अब कुछ विशेष रागों को लेकर कवि के संगीत पक्ष की विवेचना करेंगे।

राग मारू

संगीत के प्राचीन ग्रंथों में यद्यपि इस राग का उल्लेखनीय वर्णन नहीं मिलता किन्तु मारू राग प्रातः वीर या रौद्र रसात्मक अभिव्यक्ति के लिये युक्तियुक्त माना जाता रहा है। इस कारण तुलसी ने भी इस राग का प्रयोग प्रायः ऐसे पदों में किया है जिनमें कठोर भावों की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ गीतावली के लंका काण्ड में से यह पद लिया जा सकता है।

मानु अजहुँ सिष परिहरी क्रोधु।
पिय पूरो आयो अब काहि कहु-करि रघुवीर विरोधु॥
जेहि ताडुका सुबाहु मारि मखराखि जनायो आपु।
कौतुक ही मारीच नीच मिस प्रकटय्यो बिसिष प्रतापु॥[1]

इस पद्य में राम के प्रताप का वर्णन है। केवल प्रताप का वर्णन ही नहीं अपितु शंभु के प्रति क्रोध का भाव भी समन्वित है। साथ ही शब्दावली कठोर हो गयी है। अतः यह कहना सर्वथा निर्विवाद नहीं है कि संगीत के लिये कोमल कान्त पदावली अपरिहार्य है। वस्तुत संगीत में रसानुकूल शब्द योजना ही काव्य और वरेण्य है। कठोर प्रकृति के रागों के लिये कोमल कान्त पदावली का प्रयोग वांच्छनीय नहीं है। निश्चय ही तुलसी इस सम्बन्ध में सदैव सतर्क रहे हैं। इसी प्रकार गीतावली के अन्य दो पद भी मारू राग में है।[2] जिनमें पुरुष भावों की अभिव्यक्ति है।

---

1. **"गीतावली"** 6.1
2. **जो हों अब अनुसासन पावों,**
   तो चन्द्रमहि निचोरि चैलज्यों आनि सुधासिर नावों॥
   "गीतावली" 6-8.

   × × ×

   सुनि हनुमन्त बचन रघुवीर।
   सत्य समीर सुवन सब लायक कह्यो राम धरि धीर॥
   "गीतावली" 6-9.

राग आसावरी

इसके विपरीत यदि राग आसावरी को लिया जाये तो यह कोमल प्रकृति का राग है। अतः शान्त, करुण, शृंगार जैसे रसों की अभिव्यक्ति अथवा हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति के लिये यह राग अधिक सहायक होता है। उल्लास भाव के लिये यह पद द्रष्टव्य है—

आये सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूपसील—गुन धाम राम नृप—भवन प्रकट भए आई।[1]

राग आसावरी में ही माता की उत्कण्ठा का कितना मार्मिक रूप कवि ने दर्शाया है।

अवधि आज किधौं, औरो दिन द्वै है।
चढ़ि घौरहर विलोकि दषिन दिसि बूझघों पथिक कहाँ ते आयै वे हैं॥
बहुरि विचारि हारिहिय सोचति, पुलकि गात लागै लोचन च्वै हैं।
निज बासरनि बरष पुरवैथो विधि मेरे तहाँ करम कठिन कृत कें हैं॥
बन रघुवीर, मातु गृह जीवति, निलज प्रान सुनि सुनि सुख स्वै हैं।
तुलसिदास मोसो कठोर चित्त, कलिस साल-मंजनि को व्है हैं॥[2]

इन सब रागों में संगीत की अंतरधारा के साथ शास्त्रीय विधान की रक्षा का प्रचुर प्रयास किया गया है और इस प्रयास में कवि सफल है।

संगीत के स्वरों में अपनी एक प्रवृत्ति है अतः स्वरों के विशिष्ट सम्प्रयोग से समन्वित राग भी अपनी प्रवृत्ति का विशेषत्व रखता ही है। ऐसी स्थिति में सांकेतिक अभिव्यक्ति के दो स्थूल भेद बन जाते हैं। एक कठोर, दूसरा कोमल। एक में उल्लास, विषाद, हर्ष, आनन्द इत्यादि का समावेश होता है। दूसरे में उग्रता अमर्ष, वीरता आदि का। अतः तुलसी के पदों में सांगीतिका अध्येता का ध्यान इसी तथ्य की ओर बारम्बार आकृष्ट होगा कि कवि ने कविता के भावानुकूल रागों का चयन किस सीमा तक किया है और इसमें सन्देह नहीं कि पदों के सम्बन्ध में जिन रागों के नाम का निर्देश तुलसी ने किया वे सांगीतिक दृष्टि से निश्चय ही मार्मिक हैं।

राग सोरठ

राग सोरठ भी मध्यकालीन कवियों का प्रिय राग रहा है। अपनी कोमल प्रकृति के कारण हृदयगत, द्रवणशीलता, जो आत्मनिवेदन सम्बन्धी होती है, अथवा

---

1. "**गीतावली** 1-1.
2. "**गीतावली**" 6-170. **इसके साथ ही हार्दिक आतुरता के प्रदर्शन के लिये पद 18वाँ भी द्रष्टव्य है।**

वियोग या करुणा के अनुकूल या फिर हृदय के उल्लास के उपयुक्त होती है—उसमें यह् राग अनुपम सिद्ध होता है—इस कारण तुलसी ने इस राग का प्रयोग ऐसे पदों में किया है जहाँ उन्होंने अपने हृदय के दैन्य का निवेदन किया है अथवा वात्सल्य वियोग, करुणा जैसे भावों की अभिव्यक्ति की है। उदाहरण के लिंये कुछ पद लिये जा सकते हैं।—

मधुकर कहहू कहन जो पारो।
नाहिन बलि अपराध रावरो, सकुचि साथ जनि मारो॥
नहि तुम ब्रज बसि नन्दलाल को बाल विनोद निहारो।
नाहिन रास रसिक रस चाख्यो, ताते डेल से डारो॥
तुलसी जो न गये प्रीतम संग त्यागि तनु जारो।
सो सुनिबो, देखिबो बहुत अब कहा करम सो चारो।[1]

यहाँ गोपियों की व्यथा का आत्मदैन्य का वर्णन अत्यन्त मार्मिक हुआ है, इस प्रकार राग का भावानुंकूल चयम करने में तुलसी की प्रतिभा कहीं भी किसी कवि से पीछे नहीं रह गई है। विनय पत्रिका में आत्म दैन्य प्रकाशन के लिये अनेक पद राग सोरठ में ही लिखे गये हैं।

कबहुँक हौं यदि रहनि रहोंगे।
श्री रघुनाथ कृपालु-कृपा ते सन्त सुभाव गहोंगो॥
× × ×
जो पै रहिनि राम सौ नाहीं।
तो नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग मांहीं॥
× × ×
ऐसो को उदार जगमाहीं?
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥[2]

यहाँ तक तो हुई राग परक नादात्मक अभिव्यक्ति और शब्दार्थपरक काव्यात्मक अभिव्यक्ति के सामंजस्य की बात। इसके अतिरिक्त जैसा हम अभी पीछे संकेत भी कर आए हैं—रागों के गायें जाने के समय का भी विशेष महत्व है। प्रत्येक राग किसी समय विशेष पर गाया जाता है। "भैरव" एवं "ललित" राग ऐसे हैं जो प्रातःकालीन संधि प्रकाश राग माने जाते हैं—सन्धि प्रकाश रागों के गाने का समय चार से सात बजे तक प्रातः और सायं होता है। ये दोनों ही समय ऐसे हैं जब अंधकार और प्रकाश की उत्तम सन्धि होती है। इसलिए इनको सन्धि प्रकाश राग कहा गया है। शास्त्रीय दृष्टि से सन्धि प्रकाश रागों में कोमल, ऋषभ

---

1. **कृष्ण गीतावली पद** 34.
2. **"विनय पत्रिका" पद क्रमशः** 172, 175, 162.

और कोमल धैवत का प्रयोग होता है, किन्तु प्रातःकालीन सन्धि-प्रकाश और सायंकालीन सन्धि-प्रकाश में तात्विक अंतर भी है। प्रातःकाल वाले राग में शुद्ध माध्यम का प्राधान्य है और उत्तरांग का प्राबल्य होता है। जिसके फ़लस्वरूप प्रातःकालीन सन्धि प्रकाश राग एक ऐसे ध्वनिपरक वातावरण का निर्माण करते हैं जैसा वातावरण प्रातःकालीन प्रकृति की नैसर्गिक शोभा में दृष्टिगत होता है। फलतः ललित, भैरव, रामकली आदि प्रातःकालीन सन्धि प्रकाश रागों में तुलसी ने जो पद बाँधे हैं उनमें या तो प्रातःकालीन शोभा का निरूपण है अथवा भगवतनामस्मरण या राम को सोते से जगाए जाने का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिये एक पद पर्याप्त होगा। "विभास" राग में राम के प्रातःकालीन जागरण का वर्णन किया गया है।

भोर भयो जागहु रघुनन्दन।
गत व्यलीक, भगतनि उर चन्दन॥
ससि करहीन, छीन दुति तारे।
तमचुर मुखर, सुनहु मेरे प्यारे॥
विकसित कंजकुमुद बिलखाने।
लै पराग रस मधुप उड़ाने॥
अनुज सखा सब बोलनि आए।
बदिन्हि अति पुनीत गुन गाए॥
मन भावतो कलेऊ कीजे।
तुलसिदास कहँ जूठनि दीजै।[1]

सायंकालीन सन्धि प्रकाश राग में खिन्नता, करुणा आदि का वर्णन होता है। सायंकाल का वर्णन तथा गौवों को चराकर लौटना आदि की अभिव्यक्ति इसमें होती है। राग गौरी—सायंकालीन संधि प्रकाश राग है जिसमें सन्ध्यावंदन तथा अन्य उपासना सम्बन्धी पदों की योजना की गई है। हृदय की क्लान्ति का वर्णन भी होता है। अधिकांश इस राग में उन पदों की रचना होती थी जिनको भगवान् के मन्दिर में सायंकाल के समय गाया जाता था। इन सन्धिप्रकाश रागों में पूर्वांग और तीव्र मध्यम प्रबल होता है। राग गौरी में संध्याकालीन भगवंत् भजन का पद कितनी सुन्दरता से अभिव्यक्त हुआ है—संगीत का शास्त्रीय विधान और स्वाभाविक लय सब मिलकर सामूहिक राग की व्यवस्था करते हैं। अन्त में "रे" की टेक से कीर्तन का सा भाव आ जाता है।

---

1. "गीतावली 1/36—इसी के साथ के पद 37, 38, 39 भी द्रष्टव्य हैं। तथा राग भैरव में विनयपत्रिका में कवि ने भगवत् भजन के पदों का निर्माण किया है। अनेक पद एक ही भाव के अनुरूप दिये हैं। पद—65, 66, 67 द्रष्टव्य हैं।

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहतु चलु, भाई रे—[1]

कुछ राग ऋतुकालीन होते हैं। विशिष्ट ऋतु में चाहे जिस समय गाये जा सकते हैं। इनमें प्रातःकाल या सायंकाल का बन्धन नहीं होता। बसन्त, मल्हार आदि राग इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। बसन्त में किसी भी समय के लिये कवि उल्लासमयी अनुभूति को अभिव्यक्त कर सकता है। मल्हार में संयोग और वियोग दोनों के चित्र तुलसी ने प्रस्तुत किये हैं। संयोग में प्राकृतिक शोभा का वर्णन है। प्रकृति उल्लास का वर्णन करती है। वियोग में वर्षा वर्णन आदि से हृदय जन्य दुःख की प्रतीति कराई गई है। निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि तुलसी ने संगीत के शास्त्रीय विधान की रक्षा करते हुए भावों के अनुकूल राग-चयन तथा शब्द-योजना पर आधारित आन्तरिक लयात्मक सौन्दर्य की रक्षा की है। किन्तु कुछ पद ऐसे भी अवश्य हैं जो आकार में लम्बे होने के कारण, अथवा वर्णन के आग्रह के कारण या अधिक समस्त पदावली के कारण संगीत के स्वाभाविक क्षेत्र में कठिनता से आते हैं। किन्तु प्रगीत का तत्व, संगीतात्मकता, उनमें सर्वत्र विद्यमान है।

* * *

संगीत की दृष्टि से दो तत्वों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। (1)—राग योजना और (2)—ताल पद्धति।

राग

संगीत में राग-योजना आवश्यक है। राग रंज धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रसन्न करना। अतः स्वरों की वह विशिष्ट रचना राग है जिसमें स्वर तथा वर्ण दोनों हों और जो सुनने वालों के चित्त को प्रसन्न करें। इसका रत्नाकर में विशद रूप से विवेचन किया गया है।

अतः अनुकूल राग-विधान के द्वारा कोई गीत अधिक प्रभावशाली एवं प्रेषणीय होता है। केवल स्वर गायन या वादन से भी रसोत्पत्ति संभव है, किन्तु गीतों के अर्थानुसार की गई स्वर रचना से रसोत्पत्ति अधिक सुगम और उत्तम सिद्ध होती है।

कुछ ऐसे तर्क हैं जिनके आधार पर उनको संगीतज्ञ मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं।

(1) तुलसीदास के गीतकाव्य को प्राचीनतम प्रतियों पर राग-रागिनियों के नाम अंकित हैं।

---

1. **"विनय पत्रिका"**—पद—189, **देखिये और पद**—192, 193 **तथा** 95.

(2) जयदेव के गीतगोविन्द के गीतों पर रागों और तालों के नाम दिये हैं जैसे गुर्जर, मालव राग आदि। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर विद्यापति, चंडीदास और गोविन्ददास ने भी अपने गीतों के साथ विभिन्न रागों की चर्चा की है। सूर-मीरा के पदों पर भी रागों के नाम मिलते हैं। वे गायक भी थे। तुलसीदास गीतकाव्य के स्रष्टा होकर भी राग की जानकारी न रखें यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता।

(3) तुलसीदास का युग संगीत का स्वर्णकाल है। उन्हीं के समय में उत्तरी शास्त्रीय संगीत पद्धति का उन्मेष हुआ था और अनेक प्रसिद्ध शास्त्रीय संगीतज्ञों—तानसेन, बैजूबावरा, बाबा रामदास तथा रामदास प्रभुति का यश फैल चुका था। गोस्वामी पर साहित्यिक प्रभावों के अतिरिक्त संगीत शास्त्रीय प्रभाव भी पड़ा हो, यह सर्वथा स्वाभाविक ही है।

कुछ विद्वानों का तर्क है कि उन्होंने अपने समसामाजिक गवैयों से पूछकर रागोल्लेख किया होगा, परन्तु महाकवि की आश्चर्यजनक प्रतिभा देखते हुए ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं होगा। रही बाद के संगीतज्ञों के अंकन की बात तो इस संबन्ध में वियोगी हरि के इस कथन से सहमत हूँ कि "तुलसी पिंगलाचार्य के अतिरिक्त संगीत कला के भारी पंडित थे। कौन पद किस राग रागिनी में गाया जाता है, उसका वे पूर्ण विचार रखते हैं। जिस राग के उपयुक्त जो पद रचा गया है उसका भाव भी उसी के अनुरूप है।

गोस्वामी ने अपनी गीतकृतियों में इक्कीस राग-रागिनियों का सन्निवेश किया है। कृष्ण गीतावली में ये दस राग हैं—आसावरी, कान्हारा, केदार, गौरी, धनाश्री, नट, बिलावल, मलार, ललित तथा सोरठ ।

गीतावली में कुल उन्नीस राग हैं—आसावरी, जयतश्री, बिलावल, केदारा, सोरठ, धनाश्री, कान्हारा, कल्याण, ललित, विभास, नट, टोड़ी सारंग, मलार, गौरी, मारू, भैरव, वसन्त, रामकली।

गीतावली के रागों का उल्लेख करते हुए विद्वानों ने एक बड़े भारी भ्रम की सृष्टि की है। रागों की सूची में उन्होंने चंचरी को भी सम्मिलित कर लिया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने गीतावली के रागों में चंचरी का उल्लेख किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बैजनाथ, श्रीकान्तशरण तथा गीताप्रेस की प्रतियों में भी उक्त पुस्तक के अयोध्याकांड के 43वें तथा 44वें पद पर इस राग का नाम अंकित है।

किन्तु इसका समर्थन न तो संगीतशास्त्र करता है और न कोषग्रंथ ही। संक्षिप्त हिन्दी सागर शब्द में चंचरी के अर्थों में एक वर्णवृत्त हरिप्रिया छंद तथा छब्बीस मात्राओं का एक छंद दिया गया है। चंचरी छंद का एक प्रकार है। रघुनन्दन शास्त्री ने लिखा है "चंचरी 18 अक्षरधृति जाति का छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में 18 अक्षर होते हैं। संगीतशास्त्रों के ग्रंथों में कहीं उल्लेख नहीं है अतः इसे राग मानना उचित नहीं।

हरिहर प्रसाद की गीतावली में इन पदों पर चंचरी का उल्लेख नहीं है इस पूर्व के पद पर केदार राग लिखा है। अतः इन पदों को भी केदारा राग में गाये जाने वाले पद मान लेना चाहिए।

गीतावली के रागों में सूहौं की चर्चा भी गयी गई है किन्तु सूहौं कोई स्वतंत्र राग या रागिनी नहीं वरन् बिलावल का ही एक प्रकार है।

विनयपत्रिका में बीस राग हैं। आसावरी, कल्याण, कान्हारा, केदारा, जयतश्री, टोड़ी, धनाश्री, नट, बसन्त, बिलावल, विहाग, भैरव, भैरवी, मलार, मारू, रामकली, ललित, विभास, सारंग तथा सोरठ।

जिस तरह भ्रमवश गीतावली के रागों में चंचरी का उल्लेख किया गया है उसी तरह विनयपत्रिका के रागों में दण्डक का। डॉ० रामकुमार वर्मा ने विनयपत्रिका के इक्कीस रागों में दण्डक का उल्लेख किया है। गीताप्रेस, वियोगी हरि, पं० रामेश्वर भट्ट तथा बैजनाथ जी प्रभृति की प्रतियों में इस पद पर, दण्डक ही लिखा है।

किन्तु दण्डक कोई राग नहीं है। भातखंडे संगीतशास्त्र तथा संगीत की अन्य पुस्तकों में इसका उल्लेख मैंने नहीं पाया।

दण्डक 26 से अधिक मात्राओं के पद वाले छंद को कहते हैं। क्योंकि इस छंद के प्रत्येक पाद की मात्राएँ छब्बीस से अधिक हैं इसलिए इस पद पर राग के स्थान में दण्डक ही लिख दिया गया है, उसकी आवृत्ति भ्रमवश होती रही। संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में दण्डक का अर्थ है "वह छन्द जिनमें वर्णों की संख्या 26 से अधिक हो। यह दो प्रकार की होती है। एक गणात्मक जिसमें गुणों का बन्धन या नियम होता है और दूसरा मुक्त जिसमें केवल अक्षरों की गिनती होती है। रघुनन्दन शास्त्री ने अपनी पुस्तक में लिखा है—26 से अधिक वाले छन्द दण्डक कहे जाते हैं।

श्रीकान्तं शरण की विनयपत्रिका के इस पद पर "राग केदारा" लिखा है। अतः इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि दण्डक राग से इस पद का कोई सम्बन्ध नहीं।

कृष्णगीतावली के दसों राग गीतावली और विनयपत्रिका के रागों में अन्तर्भुक्त है। गीतावली का गौरी राग विनयपत्रिका में नहीं है तथा विनयपत्रिका के भैरवी और विहाग राग गीतावली में नहीं है। अतः सम्पूर्ण तुलसी गीतिकाव्य में प्रयुक्त ये ही इक्कीस राग हैं—

आसावरी, कल्याण, कान्हारा, केदारा, जयतश्री, टोड़ी, धनाश्री, नट, वसन्त, बिलावल, विहाग, भैरव, भैरवी, मलार, मारू, रामकली, ललित, विभास, सारंग, सोरठ तथा गौरी।

राग और कविता के भाव का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने गीतिका की भमिका में लिखा है "गीतों पर राग-रागिनी का उल्लेख मैंने

नहीं किया। कारण हर एक राग-रागिनी में गाया जा सकता है। मेरे विचार से एक गीत को अनेक राग-रागिनियों में बाँधा तो जा सकता है, लेकिन भाव को ध्यान में न रखकर उसे स्वरबद्ध किया जाये तो कविता की आत्मा पर ही आघात पहुँचेगा और अभिप्रेत भावों का सृजन नहीं होगा। निराला की ही एक गीत से इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। गीतिका के 47वें पद को देखें—

प्राण-धन को स्मरण करते
नयन झरते-नयन झरते।
स्नेह ओत-प्रोत;
सिन्धु दूर, शशिप्रभा-दृग
अश्रु ज्योत्स्ना-स्रोत।
मेघमाला सजल-नयना।
सुहृद उपवन की उतरते।

इस गीत में करुणा की प्रधानता है। इसको अनेकानेक राग-रागनियों में आबद्ध किया जा सकता है। अगर किसी ने इसे शंकरा राग में बाँध दिया तो वह प्रभाव कभी उत्पन्न हो नहीं सकता जो देश, जोगिया, पीलू, बागेश्वरी में संभव है। संगीत का मर्मज्ञ इस बात पर विचार करना आवश्यक समझता है कि कौन-सा राग किस भाव की सूक्ष्मता को प्रदर्शित करने के लिये अधिक अनुकूल होगा। चिंता, निर्वेद, उद्विग्नता का धूमिल वातावरण फैलाना तो देश उपयुक्त होगा लेकिन जहाँ वेदना की अभिव्यक्ति अभिप्रेरित हो वहाँ वागेश्वरी ही ठीक है। इसी प्रकार जहाँ अश्रु-प्रवाह की गीली पटभूमि निर्मित करनी है, वहाँ पीलू या जोगिया उपयुक्त मालूम पड़ते हैं।

संगीतज्ञ महाकवि तुलसीदास ने सोच-समझकर राग-रागिनियों की चर्चा अपने गीत-ग्रन्थों में की है। पहले इन विनियुक्त रागों का संक्षिप्त परिचय देकर, तब यह प्रतिपादित करने की चेष्टा करें कि भाव की अंतर्धारा से रागों की प्रकृति का सामंजस्य किस प्रकार बैठ पाया है।

क्रम	**राग-नाम**	**बादी-संवादी**	**कोमल-तीव्र**	**गायन-समय**	**रस या भाव**
1.	आसावरी	ध ग	ग ध नि	दिन द्वितीय प्रहर	शृंगार
2.	जयतश्री	ग नि	रेमे ध	सायंकाल	शांत
3.	बिलावल	म सा	दोनों नि	प्रातःकाल	शृंगार
4.	केदारा	सा म	दोनों म	रात्रि का प्रथम प्रहर	शृंगार
5.	सोरठ	रे ध	दोनों नि	रात्रि का दूसरा प्रहर	शृंगार

6.	धनाश्री	प सा	नि ग	दिन तृतीय प्रहर	भक्ति रस
7.	कान्हारा	म सा	रे ध नि दोनों	मध्यरात्रि	शांत रस
8.	कल्याण	प सा	में	रात्रि प्रथम प्रहर	शांत रस
9.	ललित	म सा	रे व दोनों में	रात्रि अंतिम प्रहर	भक्ति रस
10.	विभास	ध ग	रे ध	प्रातःकाल	गम्भीर प्रकृति भक्ति रस
11.	नट	म सा	०	रात्रि दूसरा प्रहर	गम्भीर भाव
12.	टोड़ी	ध ग	मे रे ग ध	दिन दूसरा प्रहर	भक्ति रस
13.	सारंग	रे प	म नि दोनों	दिन दूसरा प्रहर	शांत रस
14.	मलार	सा प	दोनों नि	वर्षाकाल	वियोग शृंगार
15.	गौरी	रे प	रे ध	०	भक्ति रस
16.	मारू	ग नि	मे	दिन अंतिम प्रहर	शृंगार
17.	भैरव	ध रे	रे ध	प्रातःकाल	भक्ति रस
18.	बसंत	सा म	रे ध दोनों में	रात्रि अंतिम प्रहर	शांत
19.	रामकली	प सा	रे ध औ म दोनों	प्रातःकाल	भक्ति
20.	विहाग	ग नि	०	रात्रि द्वितीय प्रहर	शृंगार
21.	भैरवी	म सा	रे ग ध नि	प्रातःकाल	भक्ति

संगीत का मूलाधार सा रे ग म प ध नी ये ही सप्तस्वर हैं। सा और प ये अचल स्वर हैं। इन पाँचों रे ग म ध नी के दो रूप हैं—शुद्ध या तीव्र तथा कोमल

म ध नी मिलकर बारह स्वरों से सम्पूर्ण राग-रागिनियों का निर्माण होता है। इसलिए जिन राग-रागिनियों में कोमल स्वरों का उपयोग होता है यानी आरोह-अवरोह में कोमल स्वर पड़ जाते हैं तो उससे करुण रस की निष्पत्ति होती है। उल्लास और वीरता के लिए शुद्ध स्वर वाले राग अधिक उपयुक्त होते हैं। इस प्रकार संगीत के मुख्यतया तीन रसों—करुण, शृंगार तथा वीर के लिए तीन प्रकार के सम्मिश्रण वाले स्वर अपेक्षित है। वादी, संवादी और विवादी स्वरों पर ध्यान रखने से भी राग की प्रकृति का भान हो जाता है।

(1) इस प्रकार भक्ति एवं करुण रस में कोमल रे ध वाले राग अपेक्षित हैं और इसके उदाहरण जोगिया, टोड़ी, भैरव, कलिंगड़ा तथा ललित आदि राग हैं।

(2) कोमल ग नि वाले राग शृंगार रस के लिए—उदाहरण के लिए आसावरी, काफी, वागेश्वरी।

(3) शुद्ध स्वर वाले—शंकरा, भूपाली, हिंडोर आदि।

लेकिन कोमल ग नि वाले एवं शुद्ध स्वर वाले रागों में भ्रमोत्पत्ति की आशंका है। जैसे मालकोश कोमल ग नि वाला राग है, किन्तु ऐसा होते हुए भी यह राग वीररस प्रधान है। भातखंडे महोदय का विचार यहाँ अनुमोदित होता है।

विहाग में यद्यपि सभी स्वर शुद्ध हैं फिर भी इस राग से वीररस की निष्पत्ति कदापि संभव नहीं। लेकिन इतना तो विवादमुक्त है कि कोमल रे ध वाले राग भक्ति रस के सर्वथा अनुकूल हैं।

गोस्वामी जी ने अपने गीतों में शुद्ध स्वर वाले रागों का प्रयोग किया ही नहीं। उनके द्वारा प्रयुक्त सभी राग कोमल स्वर वाले राग ही हैं। इसलिए सर्वत्र भक्ति रस के अनुकूल ही राग-योजना है। गीतावली के रूप-वर्णन में कान्हारा, सारंग, केदारा आदि रागों की चर्चा है। श्रीकृष्ण गीतावली में इन्द्रकोष के कारण वर्षावर्णन को कवि ने मल्लार राग में बाँधा है। इसी तरह गोपिकाओं के विरह की कवि ने बिलावल, धनाश्री तथा केदारा में बाँधा है। "मोको विधुवदन विलोकन दीजै" की करुणा सोरठ राग में बाँधी गयी है। इस तरह गोस्वामी जी ने भावानुकूल राग-योजना के द्वारा सफल गीतों की रचना की है।

रागों के रस या भाव के साथ उनके समय पर भी विचार करना आवश्यक होता है। यह स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक भी है कि व्यक्ति की मनोदशा पर मनःस्थिति कभी एक समान नहीं रहती। उषा की अरुणिम रश्मियों के फूटने के पूर्व जब हम बिछावन छोड़ते हैं—उस समय की स्फूर्ति और शान्ति दिन भर की व्यस्तता के बाद सायंकाल में नहीं रहती। संध्या के कोलाहल और हलचल तथा निशीथ की नीरवता दोनों समय हमारी मनःस्थिति एक प्रकार नहीं होती। इसलिए संगीतकारों ने रागों का समय निश्चित कर दिया है।

महाकवि अपने को आराध्य के प्रति समर्पित कर देता है। दिन-रात में एक भी ऐसा क्षण नहीं, जब वह हृदय की सारी करुणा, विह्वलतादि उड़ेल देना नहीं चाहता। इसलिए दिन के प्रथम प्रहर वाले राग बिलावल, विभास, भैरव से लेकर रात्रि के अन्तिम प्रहर वाले रागों वसंत, ललित तक में ये गीत बाँधे गये हैं।

संगीत की सफलता के लिए जैसे राग अनिवार्य हैं वैसे ही तालनियोजन भी। किन्तु राग और ताल का निश्चित सम्बन्ध नहीं। एक राग को कई तालों में गाया जा सकता है तथा एक ही ताल में अनेक राग बाँधे जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप एक ही राग मालकोश में त्रिताल, एकताल, चौताल, झरताल का प्रयोग हो सकता है, तथा त्रिताल में ही राग भूपाली, केदारा, विहाग, तिलक, कामोद, कलिंगड़ा, सोहनी, भीमपलासी आदि गाए जाते हैं। लेकिन इतना निश्चित है कि एक लय को एक ही ताल में सुगम एवं प्रभावोत्पादक ढंग से बाँधा जा सकता है। ताल का गणित पक्ष और छन्द का गणित पक्ष एक सम हैं। एक संगीतज्ञ कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह ताल का ज्ञान अवश्य रखे। ताल के ज्ञान से वह ऐसे गणविधान वाले छन्दों का निर्माण कर सकता है जो सांगीतिक लय की दृष्टि से उपयुक्त हों। कुछ शब्दों के मिश्रण से वह 16 मात्राओं के छन्द या 22-28 मात्राओं के छन्द बना सकता है, लेकिन ऐसे मात्रा-समूह वाले शब्द भी हो सकते हैं जिनको त्रिताल में बाँधने में कठिनाई हो सकती है।

गोस्वामी जी के गीतों की सफलता उनकी शब्द योजना पर भी अवलंबित है उन्होंने गीतों को सुगम ढंग से तालबद्ध किया है। उदाहरण के लिये उनका एक पद द्रष्टव्य है—

ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं

अब इसको त्रिताल में बाँधना बड़ा सुगम है।

धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा धा तीं तीं ता ता धीं धीं धा

धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	धिं	धा	धा	तीं	तीं	ता	ता	धीं	धीं	धा
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
			ऐ		सो		को		उ	दा		र	ज		ग
मा		ही													

धा धिं धिं धाधा धिं धिं धा धा तीं तीं ता ता धीं धीं धा

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
								बिनु	से—			वा—		—	जो
	--वे	—दी			न	प	र	रा	—	म	स	रि	स	को.	उ
ना	——	—ही													

यहां पदों का गुण विधान् ताल के सर्वथा अनुकूल है।

निष्कर्षतः गोस्वामी जी की भावानुकूल रागयोजना, तालयुक्त शब्दयोजना तथा माधुर्यगुणयुक्त वर्ण विधान से सिद्ध होता है कि वे महान संगीतज्ञ थे। यही कारण है कि संगीतशास्त्र के निकष पर उनके गीतग्रन्थ संगीत सिद्ध हैं।

5.3 त्यागराज की संगीतज्ञता

कर्नाटक संगीत की पवित्र धारा को दक्षिण भारत भर में प्रवाहित कर, अमर भक्तिमय वाणी में प्रतिध्वनित अपनी भक्ति भावना से उसे पुनीत कर जन मानस में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने वालों में श्री त्यागराजु आन्ध्र साहित्य में सर्व प्रसिद्ध थे। उनके जन्म के सम्बन्ध में एक जनश्रुति प्रचलित है। तमिलनाडु के तंजाऊर जिले के तिरुवारूर नामक गाँव में विलसित भगवान स्वामी त्यागराजु हैं जिन्होंने एक बार उस ग्राम के एक सदब्राह्मण काकर्ल रामब्रह्म्म को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि तुम्हारे संगीत और साहित्य कला-कोविद एक पुत्र होगा जिसका नाम तुम त्यागराजु रखो। उसी के अनुसार रामब्रह्म्म ने अपने पुत्र का नाम त्यागराजु रखा।

त्यागराजु का जन्म तिरुवैयार में 4 मई 1767 सोमवार को पुष्यमी नक्षत्रयुक्त कटक लग्न में हुआ। इनके पूर्वज आन्ध्र प्रदेश से तंजाऊर जिले में आकर बस गये थे जहाँ त्यागराजु का जन्म हुआ। ये भारद्वाजस् गोत्री आपस्तंब सूत्री मुरिकिनाडु शाखा के तेलुगु ब्राह्मण थे। सन् 1774 में त्यागराजु का उपनयन संस्कार और 1784 में विवाह संस्कार संपन्न हुए। त्यागराजु को प्रारंभिक शिक्षा पिता के द्वारा ही मिली। उसके बाद तिरुवैयार की संस्कृत पाठशाला में भर्ती हुए। बचपन से ही त्यागराजु कुशाग्र बुद्धि थे और उसी समय से कविता लिखने लगे जो अधिकतर गीतात्मक होती थीं। त्यागराजु अपने गीतों को दीवारों पर लिखते थे। जिन्हें देखकर पिता रामब्रह्म्म और अन्य विद्वान प्रसन्न होते थे। उनके गीत शुरू से ही विचित्र रागों में संगीत बद्ध रहते थे। बचपन से ही उन्होंने माता के द्वारा गाये जाने वाले पुरंदरदास के कीर्तन सुनकर उनका अभ्यास किया था। त्यागराजु प्रतिदिन अपने पिताजी की पूजा के लिए फूल लाने नजदीक के बगीचे में जाते थे। रास्ते में शोंठि वेंकटरमणय्य का घर पड़ता था जो कुशल वैणिक थे। कुछ विद्यार्थियों को वीणा वादन सिखाते थे। त्यागराजु थोड़ी देर उनके घर के सामने खड़े होकर वीणा वादन सुनते थे। एक दिन रामब्रह्मम् ने त्यागुराजु को उस हालत में वादन सुनते देखा और समझ लिया कि संगीत में उनकी अभिरुचि थी। उन्होंने वेंकटरमणय्या से त्यागराजू को शिष्य बनाकर संगीत सिखाने की प्रार्थना की।

त्यागराजु की अभिरुचि देखकर उन्होंने उनको अपना शिष्य बना लिया और एक ही वर्ष में अपनी सारी विद्या सिखा दी।

रामब्रह्मम् संस्कृत और तेलुगु के पंडित थे और तत्कालीन तंजाऊर के महाराज द्वितीय तुलजा के दरबार में श्रीरामनवमी के उत्सवों में रामायण का कथावाचन करते थे। त्यागराजु भी उनके साथ रहकर रामायण गाते थे और उनके पिताजी अर्थ बताते थे। इस प्रकार त्यागराजु को किशोरावस्था में ही रामायण का परिचय हो गया जिसने उनके हृदय में बीज रूप में पड़ी रामभक्ति को सींचकर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित किया।

त्यागराजु का जीवत बहुत सादा बीता था। वे उंछवृत्ति के द्वारा जीविका चलाते थे। उंछवृत्ति का एक यह भी रूप होता है कि जब साधु भजन गाते हुए गलियों में निकलते हैं तब गृहस्थ लोग स्वेच्छा से उनको चावल आदि खाद्य पदार्थ समर्पित करते और उनका सत्कार करते हैं। इस वृति को करना आसान नहीं है क्योंकि इसके लिये निराडम्बरता, अनुशासन और कठोर श्रम आदि की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक प्रवृत्ति भी चाहिए जिसके बिना यह केवल भिक्षावृत्ति मात्र रह जाती है। त्यागराजु ने विवशतावश उंछवृत्ति को ग्रहण नहीं किया, बल्कि स्वेच्छा से अपनाया। उनके जीवन में ऐसे भी सुअवसर आये थे कि यदि वे चाहते तो राजाओं की कृपा से धनवान बन सकते। वे अपने संगीत को बेचकर अपना गुजर करना पाप समझते थे क्योंकि उनके अनुसार संगीत मोक्ष का साधन है और इसलिए उसे बेचने से मोक्ष का परमपुरुषार्थ अलभ्य होगा। इस प्रकार उन्होंने स्वेच्छा से अपना सारा जीवन गरीबी और राम की सेवा में बिताया। वे राम के ऐसे निष्ठावान भक्त थे कि अपने जीवन में 96 करोड़ का रामनाम का जप किया और राम का साक्षात्कार प्राप्त किया। कहा जाता है कि देवर्षि नये नारद ने त्यागराजु को स्वप्न में दर्शन देकर "स्वरार्णव" नामक संगीत शास्त्र का ग्रंथ प्रदान किया, आगे त्यागराजु के जीवन से संबन्धित कतिपय घटनाओं का वर्णन किया जाता है जिनके द्वारा उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है।

त्यागराजु की संगीत प्रतिभा का समाचार सुनकर उपनिषद ब्रह्मम् नामक एक बड़े विद्वान ने उनको अपने यहाँ कांचीपुरम में निमंत्रित किया और बड़े अनुरोध के साथ अपना अतिथि बनाया। क्योंकि वे सज्जन त्यागराजु के पिता रामब्रह्मम् के सहपाठी थे और इस समय तक शतायु होने के कारण स्वयं त्यागराजु को देखने के लिए तिरुवैयार नहीं जा सकते थे। इसलिए त्यागराजु ने उनका अनुरोधपूर्ण निमंत्रण मान लिया और उनके अतिथि बने। कांचीपुरम में उनके अतिथि बनकर वे कुछ दिन रहे। जब तक वे वहाँ रहे तब तक उन्होंने प्रतिदिन भजन का कार्यक्रम चलाया जिसमें भक्तगण बड़े प्रेम से भाग लेते थे। इस भजन का एक विशेष ढंग होता है जिसका प्रारम्भ त्यागराजु के पहले बोधेन्द्र सद्गुरु स्वामी ने

किया। उसके दो भाग होते हैं। पूर्व भाग में भगवान् की नामावती, गुरु का कीर्तन, अष्टपठियाँ और तरंग क्रम से गाये जाते और बाद में गणेश, कुमारस्वामी हनुमान, सरस्वती, पार्वती, परमेश्वर आदि के स्तुति-गीत होते हैं। उनके बाद उपचार के गीत और इष्टदेव की प्रार्थना होती है। यह पूर्व भाग है। उत्तर भाग में एक बड़ा दीप स्तम्भ एक विशाल स्थान में रखकर उसके चारों ओर खड़े रहकर उसकी परिक्रमा करते हुए लोग भजन गीत गाते हैं। इसमें भजन दल का प्रधान जिसे भागवतार कहते हैं प्रमुख रहता है और भजन चलाता है। इस प्रकार कुछ समय तक गाने के बाद दीप स्तंभ को मंडप में यथास्थान रख देते हैं। दोलिकोत्सव करते हैं। इस प्रकार के भजन के लिए सात घण्टे का समय लगता है। त्यागराजु इसी ढंग से अपने बनाये गीत गाते थे, जिन्हें सुनकर लोग बड़े आनंदित होते थे। इस प्रकार के भजन त्यागराजु अपने गाँव में भी प्रति एकादशी के दिन करते थे।

कांचीपुरम के बाद अन्य स्थानों की यात्रा करते हुए वे तिरुपति पहुँचे। जब वे गर्भगृह में पहुँचे तो भगवान वेंकटेश्वर की मूर्ति के सामने परदा लटक रहा था। त्यागराजु ने सोचा कि मेरा गर्व ही परदे के रूप में है। यह सोचकर उन्होंने तुरन्त एक कीर्तन बनाकर गाया जिसका भाव यह है कि हे तिरुपति वेंकटरमण! मेरे मन का मात्सर्य रूपी परदा हटाओ न, जो धर्म, मोक्ष आदि को दूर करता है। इस गीत के समाप्त होते ही कहा जाता है कि वह परदा छूटकर गिर पड़ा। यह गीत उनके प्रसिद्ध गीतों में हैं। रास्ते में अन्य पुण्य तीर्थ की यात्रा करते हुए त्यागराजु कोबूर नामक गाँव में से तिरुवैयार के लिये रवाना हुए। कोबूर में जिस सज्जन के अतिथि बनकर वे रहे उसने भक्ति के साथ सेवा भाव से त्यागराजु के वहाँ से जाते समय उनकी पालकी में एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की थैली रखी जिसकी खबर त्यागराजु को नहीं थी। उस सज्जन ने शिष्यों से प्रार्थना की कि श्रीरामनवमी, वैकुंठ एकादशी आदि पुण्य पर्वों में वह रकम खर्च की जाये। उनका रास्ता जंगल में से जाता था। कुछ दूर जाने पर डाकुओं ने त्यागराजु और उनके शिष्यों को घेर लिया। यह देखकर शिष्य सब डर गये तो त्यागराजु ने कहा कि हमारे पास क्या है जो हम चोरों से डरें? तब एक शिष्य ने धीमी आवाज में कहा कि पालकी में एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की थैली है। यह सुनकर त्यागराजु ने कहा कि तुम इसे फेंक दो। इस पर शिष्य ने कहा कि पुण्य पर्वों में भगवान की सेवा में खर्च करने के लिए कोबूर के सज्जन ने यह भेंट की है। इस पर त्यागराजु ने निर्लिप्त होकर कहा—"यदि वह भगवान का धन है तो वे ही उसकी रक्षा कर लेंगे। हम क्यों दुख उठायें?" यह कह ध्यान मग्न होकर उन्होंने एक गीत गाया जिसका अनुवाद यों है—

हे मुर खर हर आओ।
आगे पीछे दायें बायें रक्षक बन आओ।
हे रविकुल चन्द्र! लिए कर में धनु आओ।
लक्ष्मण को लेकर साथ चले आओ।

गजरक्षक! राजकुँवर! ओंकार सदन। आओ।
भागवत प्रिय! त्यागराजु की रक्षा को आओ।

इस गीत के पूरा होते-होतें दो धनुर्धर प्रत्यक्ष हुए जिनको देखकर डाकू डर के मारे भाग गये। धनुर्धरों ने त्यागरागु से तब कहा कि डाकू भाग गयें। तब उनकी यात्रा निर्विघ्न चली। दूसरे दिन उन डाकुओं ने त्यागराजु के दर्शन किए और उनसे क्षमा माँगी। त्यागराजु ने उनके भाग्य की सराहना की कि उनको राम और लक्ष्मण के दर्शन मिले तथा उनको रामनाम का उपदेश दिया। तब से उन डाकुओं के जीवन में बड़ा परिवर्तन हुआ। उनका जीवन सुधर गया।

त्यागराजु ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रसंगों में अपने कीर्तनों की रचना की जिनकी बड़ी महिमा मानी जाती है। एक बार वैन्नोत्सव के सिलसिले में त्यागराजु श्रीरंगम गये। जब भगवान की मूर्ति एक स्वर्णाश्व के वाहन पर रखकर जुलूस निकाला गया था तब त्यागराजु एक घर के पास खड़े होकर बड़ी भक्ति के साथ उसके दर्शन करने लगे। भीड़ के अधिक होने के कारण वे मूर्ति के नजदीक जा नहीं सके। जुलूस उनके समाने से निकला और थोड़ी दूर जाकर एकाएक रुक गया। अश्ववाहन आगे नहीं बढ़ रहा था। तब देवदासियों ने और राजदासियों ने भी नृत्य किया। किन्तु फिर भी वह आगे नहीं बढ़ा। सब को आश्चर्य हुआ कि बात क्या है ? इतने में एक पुजारी की दृष्टि दूर खड़े त्यागराजु पर पड़ी जो उनकी भक्ति की महिमा से परिचित था। उसने कहा कि जब तक वे आकर भगवान के दर्शन नहीं करेंगे तब तक जुलूस आगे नहीं बढ़ेगा। तुरन्त लोग उनके पास गये और प्रार्थना पूर्वक उनको मूर्ति के पास बुला ले गये। तब त्यागराजु ने भक्ति विह्वल होकर गाया—

विनरादा ना मनवि।
कनकांग! कावेरिरंगा श्री
कांत कांतलेल्ल कार्मिंचि पिलचिते (विन)
तेजि नेक्कि बाग तॅरुबुन राग
राजसतुलु चूचि रम्मनि पिलचिते (विन)
भाग धेय! वैभोगरंग! श्री
त्यागराज नुत तरुणुलु बिलचिते (विन)

इसका भाव है कि "हे कनकांग! कावेरी तटवर्ती श्रीरंग! मेरी विनती सुनो ना। सब देव दासियाँ मोहित हो तुम्हें बुलाती जब तुम अश्वारूढ़ होकर जुलूस में निकले तब राज महिलाएँ तुम्हें बुलातीं। हे भागधेय! वैभवयुतरंग! त्यागराजनुत! मेरी विनती सुन क्यों नहीं जाते?" यह गीत गाकर जब उन्होंने भगवान की आरती उतारी तब जुलूस आगे बढ़ा।

जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में भी त्यागराजु भगवान राम की कृपा मानते थे और इस प्रकार उनकी स्तुति करते थे कि मानों उनके समक्ष उनसे बातें कर रहे हों। उनके एक पुत्री थी जिसके विवाह के लिए उनके शिष्य श्री वेंकटरमण भागवतार कोदंडराम का एक सुन्दर चित्र भेंट में लाये। श्री भागवतार के शिष्य उस चित्र को लेकर बालाजापेट से तिरुवैयार पैदल चलकर आये। उस चित्र को देख कर त्यागराजु आनन्द विह्वल होकर गाने लगे—

ननुपालिपा नडचि वच्चितिवो! ना प्राणनाथ (ननु)
वनज नयन! मोमुन जूचुटे जीवन मनि नेनँरुन मनसु मर्ममु तॅलसि (ननु)
सुरपति नीलमणिनिभ तनुवुतो
उरमुन मुत्यपुसरुल चयमुतो
करमुन शर को दंड कांतितो
धरणितनयतो त्यागराजार्चित (ननु)

भाव है कि हे प्राणनाथ मेरा पालन करने क्या तुम पैदल चले आये? हे कमल नयन! यह रहस्य मन में जानकर कि तुम्हारा मुख संदर्शन ही मेरा जीवन है, क्या तुम मेरा पालन करने पैदल चल कर आये? इन्द्रनील-मणिनिभ शरीर से, उर पर मोक्तिक हारों से, कर में धनुष बाण से, हे त्यागराजार्चित! भूतदया से युक्त होकर मेरा पालन करने क्या तुम पैदल चले आये? तिरुवैयार में उनके घर में आज भी वह चित्र उनके वंशजों के द्वारा पूजा जाता है।

उन दिनों तंजाऊर राजदरबार के गायकों में प्रमुख थे शोंटि वेंकट सुब्बय्य। उनके मकान पर एक दिन संगीत का कार्यक्रम आयोजित किया गया, जिसमें त्यागराजु को गाना था। उस कार्यक्रम के बाद दो घण्टों में राजदरबार की संगीतसभा में सब को जाना था। यह बात त्यागराजु को मालूम नहीं थी। इसलिए त्यागराज वेंकट सुब्बय्य के मकान पर पूरे आठ घण्टे तक राग कांभोजी में एक गीत आलाप के साथ तन्मय होकर गाते रहे। संगीत के उस अविरल प्रवाह में सब श्रोता भी तन्मय होकर इस प्रकार बह गये कि अपने शरीरों की सुधि भी भूल गये। जब गीत समाप्त हुआ तो उन्होंने देखा कि राजदरबार में जाने का समय निकल चुका था। दूसरे दिन सब ने महाराज शरमोजी से क्षमा याचना पूर्वक कहा कि कल त्यागराजु के मधुर संगीत ने हमारे शरीरों का ज्ञान भी भुला दिया। उनकी यह प्रशंसा सुनकर महाराज को भी उनका संगीत सुनने की अभिलाषा हुई तो उन्होंने राज कर्मचारियों के द्वारा त्यागराजु को समाचार भेजा कि दरबार में आकर गायें। त्यागराजु इस प्रार्थना को स्वीकार करते यदि इसके साथ और एक आदेश जुड़ा नहीं रहता। वह यह था कि उनको त्यागराजु महाराज पर भी दो गीत रचकर गायें जिसके उपलक्ष्य में उनको पचास एकड़ की उपजाऊ ज़मीन और कुछ सोना पुरस्कार के रूप में समर्पित किया जायेगा। यह आदेश त्यागराजु को पसंद

नहीं था और इसलिए उनको बड़ा दुख हुआ तो उन्होंने अपने मन को संबोधित करते हुए राग कल्याणि में गाया—

मन मेरे सच कहना
धन की निधि है सुखदायक
या रामार्चन सुखदायक (मनमेरे)
स्वाद मिलेगा दधि नवनीत क्षीर से
या राम ध्यान भजन सुखा रस से? (मनमेरे)
सुख देगा दम शम रूपी गंगा मज्जन!
या दुर्विषय कर्दम युत कूप निमज्जन! (मनमेरे)
ममता बंधन युत नरस्तुति है सुखदायक
या त्यागराजनुत का कीर्तन सुखदायक (मनमेरे)

लौकिक विषयों की निःस्पृहता और राम भक्ति की दृढ़ता की दृष्टि से इनकी तुलना हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास के साथ की जा सकती है । इन तीनों में संगीत के साथ भक्ति का अनुपम समन्वय मिलता है। हाँ, त्यागराजु का स्थान इनसे भी जरा ऊँचा ठहरता है। इस प्रकार अपने मन से प्रश्न करके उन्होंने उन कर्मचारियों को उत्तर दिया कि महाराज के आदेश का पालन मैं नहीं कर सकता। महाराज ने जब यह सुना तो बहुत क्रुद्ध हुए और त्यागराजु को पकड़ लाने के लिए दो सैनिकों को भेजा। जब सैनिक त्यागराजु को पकड़कर ले जा रहे थे तब अचानक महाराज के पेट में बड़ा दर्द होने लगा जो किसी भी दवा से नहीं मिटा। तब एक ज्योतिषी ने महाराज को बताया कि एक महापुरुष को कष्ट देने का यह बुरा फल मिला है। महाराज को अपनी करनी पर पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने त्यागराजु को छुड़वाकर सादर भिजवा दिया। इसके बाद उन्होंने स्वयं उनके यहाँ जाकर उनका संगीत सुना। उनकी भक्ति और विद्वत्ता से महाराज बहुत प्रभावित हुए और किसी प्रकार उनकी आर्थिक सहायता करना चाहते थे। जब त्यागराजु भजन गाते हुए उंछवृत्ति पर निकलते तब महाराज ने अपने आदमियों से कहा कि उनके पात्र में चावल के साथ कुछ सोने के सिक्के भी डालें। जब उन्होंने ऐसा किया जो भक्ति संगीत में निमग्न त्यागराजु को कुछ मालूम नहीं हुआ। पर जब संयोग से एक सिक्का पात्र से लगकर बज उठा तब उसकी आवाज सुनकर त्यागराजु ने सब चावल सिक्कों के साथ फेंक दिया। उनका विचार था कि सिक्कों का संग पाकर चावल भी अपवित्र हो गया। आदमी को मोह में डालने वाले धन के प्रति ऐसी विरक्ति और निःस्पृहता थी।

एक दिन की घटना थी कि जब त्यागराजु के घर में खाद्य पदार्थ समाप्त हो गये तब दिन भर उनको उपवास करना पड़ा। उस दिन रात को एक बूढ़ा आदमी,

एक बूढ़ी स्त्री और जिनका एक नौकर ये तीनों एक बड़ी गठरी लेकर त्यागराजु के घर आये। त्यागराजु ने उनका स्वागत तो किया, किन्तु खाने के लिए कुछ दे न सकने के कारण चिंतित रहने लगे। यह ताड़कर बूढ़े ने कहा, "तुम चिंता मत करो, हमारे पास सब चीजें हैं।" यह कहकर अपने नौकर को खाना बनाने का आदेश दिया। जब तक खाना बनता रहा तब तक सब लोग बातें करते रहे और खाना बनने के बाद बूढ़ी ने सबको परोस दिया तो सब ने भोजन कर लिया और फिर बातें करते हुए रात बितायी। भोर होते वे तीनों व्यक्ति विदा लेकर चले गये और घर से बाहर आते ही अदृश्य हो गये। तब त्यागराजु को लगा कि वे तीनों राम-सीता और लक्ष्मण हैं। इस बात के अनुभूत होते ही त्यागराजु आनंद विह्वल होकर गाने लगे कि हे ब्रह्मादि देवविनुत। मेरे हृदय में रमण करो और अपनी थकावट दूर कर लो। हे भवतारक! मुझसे बोलने से तेरी थकावट दूर हो जायेगी।

इस प्रकार भक्ति और त्यागमय जीवन बिताकर, अनेकों शिष्यों को संगीत की शिक्षा देकर त्यागराजु सन् 1847 में जनवरी 6 को परमात्मा में विलीन हुए। कहते हैं कि उनको अपने निर्वाण-प्राप्ति की बात पहले ही मालूम हो गयी तो उन्होंने उसके एक सप्ताह पहले संन्यासाश्रम ग्रहण कर लिया। निर्वाण के एक दिन पहले अपने शिष्यों और नगर के लोगों से उन्होंने कहा कि कल ग्यारह बजे भगवान् राम मुझे अपने यहाँ बुला लेंगे। तब तक आप लोग अखंड भजन कीजिएं। उनकी इस इच्छा पर सबने भजन किया। निर्वाण के दिन सुबह त्यागराजु ने अपना अंतिम गीत गया—

परमात्मा क्या ही उज्ज्वल रहता है।
देखो तो सब में दर्शन देता है॥
झलक रहा है हरिहर में सुर नर में
कोटि-कोटि अखिलांड ब्रह्मांडों भर में॥ पर॥
गगनानिल तेजो भू जलमय
मृग खग नग तरु गण में।
सगुण विगुण में सतत रहे जो
साधु त्यागराजादि आश्रित जन में॥ पर॥

इस कीर्तन के बाद त्यागराजु योगसमाधि में बैठे। निश्चित समय पर उनके सिर से एक विचित्र ध्वनि हुई और एक प्रकाश पुंज सिर से निकलकर उत्तर दिशा कीं ओर ऊपर चला गया।

त्यागराजु ने विष्णु संबंधी और शिवशक्ति संबंधी लगभग हजार पद विभिन्न राग-रागिनियों में बनाकर गाये। इनके अतिरिक्त नौका चरित्र और "प्रह्लाद भक्त विजय" नामक यक्षगान भी लिखे। नौका चरित्र में यमुनानदी में विहार करने वाले कृष्ण और गोपिकाओं का संवाद और दूसरी पुस्तक में प्रह्लाद की कथा वर्णित है।

इन रचनाओं में उनकी प्रसिद्धि, संगीत, साहित्य और भक्ति की दृष्टि से उनके कीर्तनों के कारण है। उनके कीर्तन साहित्यिक दृष्टि से प्रबोधात्मक, शिक्षा प्रधान, अभिनंदात्मक और संगीत प्रशस्ति प्रधान हैं। इन सबमें भक्ति की प्रधानता दिखाई पड़ती है। कर्नाटक संगीत के लिए उनके कीर्तन प्राण स्वरूप हैं तो उसमें प्रतिपादित भक्ति उनकी आत्मा है।

आध्यात्मिकता संपन्न भक्त गायक गीतकारों में त्यागराजु तेलुगु साहित्य में अनुपमेय हैं। सांसारिक वैभव और संपत्ति के सामने उन्होंने कभी अपना सिर नहीं झुकाया और अपने आदर्श के लिए कष्टमय जीवन बिताते हुए भी अतुलित आनंद प्राप्त किया। उनका चित्तरंजक संगीत और आदर्शोद्बोधक साहित्य दोनों मानवता को देवत्व की ओर ले जाने वाले हैं। भारतवर्ष में ऐसे महापुरुष कई हुए जिन्होंने वेदांत और तत्व ज्ञान का उपदेश दिया। किन्तु त्यागराजु ने प्रचलित सब दार्शनिक वादों में अंतर्निहित परम सत्य, भक्ति को आत्मसात् कर लिया और उसी का, चित्तरंजक संगीतयुक्त सरल साहित्य में उपदेश दिया। सब दार्शनिक वाद उनके भक्तितत्व के अंग बन गये हैं जो भागवतावत नौ रूपों में इनकी रचनाओं में हृदयंगम होते हैं। उनके अनुसार संगीत ज्ञान और भक्ति के बिना कोई सन्मार्ग नहीं हो सकता। उस भक्तियुक्त संगीत की उपासना भृंगी, नटेश, हनुमान, अगस्त्य, मतंग, नारद आदि महानुभाव सदा करते हैं। इसीलिए वे संगीत के द्वारा अपने राम को रिझाना चाहते हैं और कहते हैं कि हे रामाभिराम! मन रंजित कर बोलो तो। सुनहली शय्या पर अलंकृत सीता तुम्हें देखकर चमेली पुष्पों से जब तेरी पूजा करती हैं तब संगीत गाने को त्यागराजु से कहो तो।" और एक गीत में वे अपने मन से कहते हैं कि सप्तस्वर रूपी सुंदरियों का भजन करो जो नाभि, हृदय, जिह्वा, नासिका आदि में और ऋक साम गानों में, गायत्री के हृदय में और सुरों तथा भूसुरों के मानस में और त्यागराजु के हृदय में शोभित होती हैं।" एक अन्य गीत में कहते हैं कि प्राण और अनल के संयोग में उत्पन्न प्रणवनाद जिन सप्त स्वरों में अनुभूत होता है उनसे युक्त संगीत के ज्ञान और भक्ति से विहीन लोगों को मोक्ष नहीं मिलता।" इस प्रकार के गीतों में मोक्ष प्राप्ति में त्यागराजु के अनुसार संगीत की प्रधानता व्यक्त होती है।

कीर्तनात्मक सेवा ही नहीं, बल्कि परिचर्यात्मक राम की सेवा भी त्यागराजु करना चाहते हैं जिसमें उनकी भक्ति की माधुर्य भावना भी झलकती है। एक गीत में वे कहते हैं कि "हे श्रीराम! मैं अपने हाथों तुम्हारा शृंगार करके देखूँगा। ऐसा शृंगार करूँगा कि इंद्र, ब्रह्मा, शिव आदि भी प्रशंसा करें। पाँवों में स्वर्ण नुपूर पहनाऊँगा, कटि में किंकिणियाँ पहनाऊँगा। भाल पर सुंदर तिलक लगाऊँगा, शरीर पर सुगंधित चंदन का लेप करूँगा और इस प्रकार समालंकृत सुंदर तुमको चूमकर हृदय से लगा लूँगा।" और एक गीत में कहते हैं "हे सीताराम! नीरज नयन! एक चुंबन देना। मैं तुम्हें स्वर्ण वस्त्र पहनाकर अलंकृत कर गले लगा लूँगा। प्रेम से

तुम्हारा यश गाऊँगा। मेरी और कोई गाते नहीं।" इन गीतों में त्यागराजु के रागानुगा माधुर्य भक्ति के दर्शन होते हैं। किन्तु ध्यान रहे कि यह भक्ति कहीं मर्यादा का अतिक्रमण न करे।

त्यागराजु ने अपने आराध्य देव श्री राम के साथ पिता का संबंध भी जोड़ लिया है और कहा है कि हे मन! सीता मेरी माता हैं, राम मेरे पिता हैं। हनुमान, लक्ष्मण, गरुड़, शत्रुघ्न, धाता, भरत आदि मेरे भाई हैं। परमेश, वशिष्ठ, पराशर, नारद, शौनक, शुक, इंद्र, गौतम, गणेश, गुह सनक सनंदन आदि परम भागवत त्यागराजु के प्रिय बंधु हैं।"

पुराण पुरुषों के साथ अपना बंधुत्व जोड़ने में त्यागराजु के आत्म विश्वासपूर्ण उन्नत व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। अपने को ऐसे देवों व देवोपम व्यक्तियों के समकक्ष मानने की स्पृहणीय अभिलाषा व्यक्त होती है जिससे राम की सान्निध्य प्राप्ति का अनुपम सुख प्राप्त हो सकता है।

द्वैत और अद्वैत आदि दार्शनिक तत्वों के फेर में न पड़कर त्यागराजु ने केवल भक्ति को सर्वोपरि माना। उन्होंने अपने चैतन्य को संबोधित करते हुए पूछा कि हे चैतन्य! बोलो, द्वैत सुखदायक है या अद्वैत? सर्वसाक्षी बनकर विस्तार पूर्वक कहो, गगन, पवन, सूर्य, पृथ्वी, पार्वती, शिव आदि देवों में और श्रेष्ठ भक्तों में रमण करने वाले हे त्यागराजार्चित! कहो।" इसमें उनकी अद्वैत भावना, जिसके अनुसार उन्होंने अपने रूप में राम ही चराचरमय विश्व में व्याप्त हैं। अपने चंचल मन से त्यागराजु कहते हैं कि "हे मन! व्यर्थ भ्रष्ट मत होओ। प्रचंड मार्तंड मंडल के बीच में वही एक राम हैं। वे त्रिगुण रहित हैं, सर्वसम हैं, क्षेमकर हैं और त्यागराजु के हितू हैं। वे जग भर में फैले हुए हैं।"

"नाद सुधा रस राम है, राग राम कोदण्ड"

पंचनद के नादयोगी त्यागराज की नाद साधना को उनकी भक्ति भावना से पृथक् नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों उनके व्यक्तित्व के दो अभिन्न अंग हैं। वे अपने भक्ति-भावना के माध्यम से अपने हृदयाकाश या अन्तरंग में प्रतिष्ठित राम को प्रत्यक्ष कर लेते हैं तो वे अपनी नाद साधना के माध्यम से अनन्त आकाश में व्याप्त नादब्रह्म को नर-पुंगव के रूप में साकार बना लेते हैं। रघुवर की छवि उनके लिए जितनी मधुर लगती है, उतना ही नयन मनोहर वे अपने नाद सौन्दर्य को भी पाते हैं। उनके लिए नाद केवल सुनकर पुलकित होने की वस्तु नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष देखकर आनन्दित होने की सौन्दर्य राशि हैं, उसी प्रकार नादयोगी, त्यागराज अपने उपास्य नाद को कभी राम के रूप में देखते हैं तो कभी शंकर के रूप में और कभी वेणुनाद विशारद कृष्ण के रूप में। कोदण्ड धारी राम को नाद के मूर्त रूप में प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं—

"नादसुधा रसंबिलनु नराकृति आये मनसा।
वेद पुराणागम शास्त्रादुलकाधारमौ॥
स्वरमुलारुन्नोकटि घंटलु, वर रागमु कोदण्डमु।
दुर नय देश्यमु त्रिगुणमु, निरत गति शरमु रा॥
सरस संगति संदर्भमुगल गिरमुलु रा।
धर भजन भाग्यमु रा त्यागराजु सेविंचु॥"

(त्यागराज नादसुधा के जिस रस का सेवन करता है, वही नराकार धारण कर राम के रूप में अवतरित हुआ है। यही नाद-सुधा वेद, पुराण, आगम और शास्त्रों का आधार है। नाद का व्यक्त रूप "राग" ही राम का कोदण्ड है। सातों स्वर (षड्ज और उससे निकले छह स्वरों को मिला कर) उस धनुष में लगी छह घंटियाँ हैं। दुर, नय और देश्य नाम की तीनों शैलियाँ उसकी तीन डोरियाँ (गुण) हैं। उसकी गतिशीलता ही तीर है। स्वर के संचार में प्रकट उतार चढ़ाव और संगतियाँ ही राम की रमणीय सुक्तियाँ हैं। राम का भजन ही जीवन में सच्चा भाग्य है।)

त्यागराज के शब्दों में सुधामधुर भाषी राम को आदि कवि वाल्मीकि ने भी "गांधर्वे च मुवि श्रेष्ठ" कह कर उच्च-कोटि का संगीतज्ञ माना है। इस प्रसंग में वाग्वेदी वाल्मीकि ने राम के लिए "भरताग्रज" शब्द का प्रयोग किया था जिससे यह संकेत मिलता है कि भरत भी संगीत-शास्त्र में भली-भाँति परिचित था। नन्दिग्राम में जब भरत चौदह वर्ष तक तापस जीवन व्यतीत कर अपने भाई के अयोध्या लौट आने की कोई आशा न पा कर प्रायोपवेश के लिए प्रस्तुत हो जाता है तब राम के आगमन का शुभ सन्देश लेकर पवन तनय हनुमान भरत के पास आकर उनके मन को प्रसन्न बनाने वाली वार्ता सुस्वर में सुनाते हैं। इस प्रकार राम, भरत और हनुमान तीनों को नाद सौन्दर्य के आराधक सिद्ध किया गया है। राम कथा को राग सुधा के माध्यम से प्रस्तुत करने में प्रवीण त्यागराज भी इस भूमिका से परिचित थे। तभी तो वे कहते हैं—

"सीतापति चरणाब्जमु निडुकोन्न
वातात्मजुनिकि बाग देलुसु रा।"

(वायु नन्दन हनुमान को, जिन्होंने राम के चरण कमलों को अपने हृदय में बसा लिया है, इस बात का खूब पता है कि गीता का सन्देश और संगीत का आनन्द दोनों का निधान राम या आत्मराम है।)

हनुमान की नादोपासना का रहस्य बताते हुए त्यागराज आगे कहते हैं कि भगवान् विष्णु, शंकर, सूर्य, काल, कर्म आदि तत्वों के विचक्षण ज्ञाता हैं। पवन के पुत्र और सुग्रीव के सचिव हनुमान को गायक और गान कला के मर्मज्ञ के रूप में प्रस्तुत करने में पंचनद ने नादयोगी की सूक्ष्म-निरीक्षण पटुता का परिचय मिलता

है। नाद की उपासना के सम्बन्ध में उनके विचार इतने व्यापक हैं कि वे ब्रह्मा, विष्णु और शंकर को नाद की महिमा से ही प्रकट बताते हैं। उनकी निश्चित धारणा है कि वेद के प्रवक्ता वेद से परे होकर विश्व भर में व्याप्त दिव्यात्मा, मन्त्र-तन्त्र और मन्त्र के मर्मज्ञ महामहिम तपस्वी और तन्त्री के स्वर, लय और राग में तल्लीन महागायक—सबके सब नाद की उपासना के बल पर ही स्वतंत्रचेता बनकर जीवनमुक्त हो चुके हैं और हो रहे हैं।

नाद रूपी शरीर धारण कर वेदसार का प्रसार करने वाले शंकर की रूप कल्पना त्यागराज के शब्दों में लोकोत्तर मनोहारिता का मधुर स्वाद प्रदान करती है :

नाद तनुमनिशं शंकरम्
नमामि, मे मनसा शिरसा॥
मोदकर निगमोत्तम साम वेद सारं वारं वारम्॥
सद्योजातादि पंच वक्त्रज सरिगम पधनी वर सप्तस्वर
विद्यालोलं विदलित कालम विमल हृदय त्यागराज परिपालम्॥

शिवजी के पाँच मुखों से निकले सात स्वरों की विद्या में निरन्तर विलीन कालातीत शंकर ने त्यागराज के विमल हृदय को निश्चय ही परिपालित ही नहीं, पद लालित भी बना दिया है। जो नाद सौंदर्य त्यागराज को शंकर के शरीर में दिखाई देता है, उसी को वे चारों वेदों को अनुप्राणित करने वाले प्रणव से उत्पन्न सात स्वरों के नादाचल (नाद रूपी पर्वत) पर सदा प्रदीप्त होने वाले मुरलीधर कृष्ण के रूप में देखते हैं। उनके मनमोहन रूप की वंदना करते हुए त्यागराज कहते हैं—

"वेद शिरोमातृज सप्तस्वर—
नादाचल दीप स्वीकृत
यादवकुल मुरलीवादन
विनोद! मोहनकर! त्यागराज वंदनीय॥"

राम, कृष्ण और शंकर—तीनों में नाद ब्रह्म का ही रूप देखने वाले स्वर दृष्टा त्यागराज को सातों स्वर सुन्दर रमणियों की तरह दिखाई देते हैं जो नाभि, हृदय, कंठ, रसना और नासिका में विराजमान होती हैं, चारों वेदों को शोभा प्रदान करती हैं, मंत्रराज गायत्री के हृदय को अलंकृत करती हैं और त्यागराज जैसे चिंतकों के अंतरतम में निवास करती हैं।

राम की रूप कल्पना की भाँति राम-कृपा की परिभाषा भी त्यागराज बड़े अनोखे ढंग से देते हैं। उनके अनुसार नादब्रह्म की भावना से उत्पन्न होने वाले आनन्द का रस ही राम की कृपा है जो नाद के उपासक को निरन्तर आनन्द प्रदान

करने वाली होती है। त्यागराज का मृदुभाषी राम उनकी स्वरलहरी से आभूषित और उनके कृति-वसनों से आवेष्टित है।

प्रकृत्या नम्र और गंभीर होते हुए भी संगीत के सधे हुए साधक के रूप में त्यागराज अपनी साधना की गरिमा और गायन की महिमा से भली-भाँति परिचित थे। वे जानते थे कि जो लोग शिवात्मक नाद की प्रणव के रूप में सातों स्वरों में देख पाते हैं जीवन्मुक्त बन जाते हैं। वे अपने मन को निरन्तर यही उपदेश देते हैं कि याग, योग, त्यागन और भोग चारों फल प्रदान करने वाली राग-सुधा का रसास्वादन अमर बनने का सुकट साधन है। उनकी निश्चित धारणा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को भी महिमा प्रदान करने वाले नाद-ब्रह्म के आनन्द-सागर में निमग्न होकर जो अपने को कृत-कृत्य नहीं कर पाते, उनका जीना धरती के लिए भार-मात्र है। नाद-सौंदर्य में लीन होने से ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति संभव है यह बात वे अपने गीतों में बार-बार दुहराते हैं।

त्यागराज पहले भक्त और बाद में संगीतज्ञ थे, क्योंकि उनका निश्चित मत था कि केवल संगीत के शुष्क ज्ञान से कोई लाभ नहीं है। वे चाहते थे कि वह भक्ति से भी युक्त हो। इस बात को साफ़-साफ़ समझते हुए वे कहते हैं कि भक्ति के बिना संगीत का ज्ञान सही दिशा प्रदान नहीं कर सकता। भृंगी, नटराज, हनुमान, अगस्त्य, मतंग और नारद जैसे महात्माओं के द्वारा जिस नाद की उपासना की गयी है, उसको साधारण मनोरंजन के साधन के रूप में अपनाना उनका अभीष्ट नहीं था। उन्होंने गान कला को जीवनमुक्त बनने के साधन के रूप में स्वीकार किया था। वे अपने आपसे पूछते हैं—

"मोक्षमु गलदा? भुविलो जीवन्भुक्तुलु गानिवारलकु
साक्षात्कार नी सद्भक्ति संगीत ज्ञान विहीनुलकु?"

(जो लोग भक्तिभावना से प्रेरित होकर संगीत की साधना नहीं करते और नादब्रह्म के साक्षात्कार से जीवनमुक्त नहीं होते, उनको क्या कभी मुक्ति मिलेगी?)

यहाँ पर विचारणीय है कि संगीत जीवनमुक्ति का साधन कैसे माना गया है। काव्य के प्रयोजनों में "सद्यः पर निवृत्ति" को भी एक प्रयोजन माना गया है। भाव योगी भावना-शक्ति के बल पर कुछ क्षणों के लिए अपने को बाह्य संसार से एकदम अलग कर लेते हैं। इसी को आचार्य भम्मट ने "सद्य पर निवृत्ति कहा है। यही जीव की मुक्तावस्था है जब जीवात्मा अपने को परमात्मा के निकट से निकट पाता है। जिस प्रकार रस सिद्ध कवि आत्मा की इस मुक्तावस्था को प्राप्त कर चुके, उसी प्रकार त्यागराज जैसे पहुँचे हुए स्वर सिद्ध गायक अपनी नाद साधना के बल पर जीवनमुक्त बन गये। लेकिन यह तभी संभव है जब गायक अपने उपास्य नाद को जाने पहिचाने, देखे-परखे और बाहर भीतर सर्वत्र फैली हुई

उसकी विराट् सत्ता का साक्षात्कार करे। इसी अधिकार का स्वरूप सूत्र रूप में निरूपित करते हुए त्यागराज "सद्भक्ति-संगीतज्ञता" को जीवनमुक्ति का आवश्यक उपादान बताते हैं। इसी बात को विस्तार से समझाते हुए और नारद की उत्पत्ति और व्याप्ति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

"प्राणानल संयोगमु वल्ल
प्रणव नादमु सप्त स्वरमुलै बरग
वीणा-वादन लोलुडो शिव मनो विधमेरुगरु"

(प्राण और अनल के संयोग से उत्पन्न प्रणव नाद ही सात स्वरों के रूप में फैला हुआ है। इस रहस्य के ज्ञाता शंकर निरंतर वीणा-वादन में व्याप्त रहते हैं। लेकिन जो इस बात को नहीं जानते हैं, वे न तो सद्भक्ति और संगीत के ज्ञाता हो सकते हैं और न जीवनमुक्त बन सकते हैं।)

इस गीत में प्रणव को प्राण और अनल (वायु और अग्नि) के संयोग से उत्पन्न बताया गया है। यह बात गहन अध्ययन और मनन का विषय है। वायु और अग्नि पाँच भूतों में दूसरे और तीसरे हैं, जबकि आकाश सबसे पहला है। आकाश से वायु और वायु से अग्नि की व्युत्पत्ति बताई जाती है। आकाश का लक्षण शब्द है, वायु का स्पर्श और अग्नि का रूप। शब्द का वहन करने वाला आकाश ब्रह्म का शरीर माना गया है। आकाश रूपी शरीर धारण करने वाला ब्रह्म शब्द पराधीन है। अखिल जगत् में अबाध गति से संचरण करने वाला यही शब्द प्राणों के स्पर्श से अर्थात् पार्थिव शरीर के संसर्ग से नाद बन जाता है और अनल के आघात से प्रणव बन जाता है। यही प्रणव मिट्टी और पानी के पुतले—मानव—की साधना के बल पर सात स्वरों में मुखरित होता है। नाद साधना के सम्बन्ध में त्यागराज का यह सिद्धांत निम्नलिखित चार पंक्तियों में बड़ी सरल और सहज शैली में व्यक्त किया गया है।

"आकाश शरीरमु ब्रह्ममने
आत्मा रामनि ता सरिजुचुचु
लोकादुलु चिन्मयमनु सुस्वर
लोलुडौ त्यागराज सन्नुत॥"

(आकाश रूपी शरीर धारण करने वाले ब्रह्म को आत्माराम के रूप में अपने अन्दर समाहित देखकर उसी के चिन्मय व्यक्तित्व में समस्त संसार को प्रतिबिंबित पाने की क्षमता प्रदान करने वाला संगीतज्ञान सबके लिए सुलभ नहीं है। ब्रह्म ने जिनके भाग्य में यह लिखा है, वही लोग जान सकते हैं।)

आगे चल कर नाद-साधना की गरिमा का वर्णन करते हुए नादयोगी त्यागराज कहते हैं—

"कहुनुवायिकि कहु कहुनि मोरलनिडु
पेद्दल माटलु नेडबद्धमौने?"

(तत्व वेत्ता गुरुजन कहते हैं कि जो लोग उसके अस्तित्व को मानते हैं, उनके लिए उसका अस्तित्व निर्विवाद है। इस तथ्य का आज प्रतिषेध नहीं हो सकता।)

त्यागराज का नाद ब्रह्म निराकार नहीं है। उसकी नयन मनोहर छवि का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उनके कपोल दर्पण की भांति स्वच्छ और पारदर्शी हैं। जिस निष्ठा और दीक्षा के साथ त्यागराज उनकी निरंतर आराधना करते हैं उसका वर्णन उन्हीं के शब्दों में सुनने योग्य है :

"निहुर निराकरिंचि मुहुग तंबूर पट्टि
शुद्धमैन मनसु चे सुस्वरमुतो
पहु तप्पक भजियिंचु भक्तपालनमु सेयु
तहुयशालिवि नीवु।"

(जो लोग निद्रा का सुख छोड़कर प्यार से हाथ में तानपूरा लिए प्रसन्न मन और सुमधुर स्वर में परम्परागत विधि से आपका भजन करते हैं, उन भक्तों पर आपकी अपार कृपा होती है।)

इस प्रकार की स्वर साधना से युक्त भक्ति-भावना को स्वर्ग और अपवर्ग (मुक्ति) का साधन बताते हुए त्यागराज कहते हैं—"परमानन्द के परिमल को बगुला और मेंढक क्या पहचानते हैं? मूलाधार से निकलने वाले नाद को पहचानना ही सच्ची मुक्ति है। जहाँ से सातों स्वर मुखरित होते हैं उस मूल स्रोत की जानकारी ही मोक्ष है। जन्म जन्मांतर की निरन्तर साधना से ही इस प्रकार का सच्चा ज्ञान मिल सकता है। सहज भक्ति से युक्त संगीत का ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। मृदंग की ध्वनि तरंगों का अन्तरंग पहचाने बिना ढोल पीटने से कोई लाभ नहीं है। विशुद्ध मन से जो पूजा की जाती है, वही सार्थक है। रजत पर्वत के स्वामी शंकर ने अपनी अन्तरंगिणी गिरिजा को स्वरार्णक की जो रहस्यमयी बातें बतलाई हैं, वे सब प्रभु की कृपा से त्यागराज को ज्ञात हैं।"

इतनी गहरी स्वर साधना के सम्राट त्यागराज में आत्मप्रत्यय की भावना भी यथेष्ट मात्रा में है, तो कोई आश्चर्य नहीं। वे नहीं चाहते कि उनकी नादसाधना को साधारण भजन परायण भक्तों की शुष्क पंडितम्मन्यता के समकक्ष समझा जाये। जो लोग राग और ताल, रक्ति और भक्ति तथा ज्ञान और प्रेम को ठीक-ठीक पहिचाने बिना तालियाँ बजाते रहते हैं और उसी को स्वर-साधना समझते हैं उन पर त्यागराज को दया आती है। ऐसे असंस्कृत गायकों की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं :

"वर राग लयज्ञुलु तामनुचु वदरेरया।
स्वर जाति मूर्च्छन मेदमुल्
स्वांतमंदु तेलियक युंडि।
देहोद्भवंबगु नादमुल्
दिव्यामौ प्रणवाकारमने
दाहम्बेरुगनि मानवुल्
त्यागराज नुत येचेरु राम!"

(कुछ लोग अपने को राग और लय के मर्मज्ञ मान कर अकड़ कर चलते रहते हैं। पर वे सचमुच जानते नहीं कि स्वर क्या है और मूर्च्छना की बारीकियाँ क्या हैं। उनको क्या पता कि शरीर से उत्पन्न नाद प्रणव नाद का ही रूपांतर है।)

जहाँ त्यागराज ने अनधिकारी गायकों की निंदा की है, वहीं उन्होंने संगीत शास्त्र के मर्मज्ञ कोबिदों की वंदना भी की है। उनकी दृष्टि में संगीत सामवेद का अंग है जिसके प्रवर्तक साक्षात् शंकर हैं। इस प्रशस्त विद्या के उद्गाताओं में वे कई देवी-देवताओं और प्रतिष्ठित आचार्यों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :

"कमला-गौरी-वागेश्वरी-विधि-गरुड़ध्वज-शिव-नारदुलु
अमरेश-भरत-काश्यप-चंडीशांजनेय-गुह-गजमुखुलु
सुमुकडुल-कुंभज-तुम्वरु-वर सोमेश्वर-शार्ड-देव-नदी
प्रमुखुलगु त्यागराज वंदयुलकु ब्रह्मानंद सुखांबुधि मर्म
विदुलुक, संगीत कोविदुलकु, भ्रोक्केद।"

ऊपर की नामावली में लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती की सभृर्तक वंदना के बाद नारद की वंदना में त्यागराज का एक विशेष उद्देश्य है। वे नारद को ही अपने नाद-गुरु के रूप में स्वीकार करते हैं। वैसे लौकिक दृष्टि से शोंठि वेंकटरमणय्या के पावन चरणों में बैठकर उन्होंने संगीत के प्रारंभिक पाठ पढ़े थे। अपने मातामह वीणा कालहस्तय्या के संसर्ग से भी वे काफ़ी प्रभावित हुए। अपने पूज्य पिता रामब्रह्मम् के सान्निध्य में उन्होंने वाल्मीकि रामायण का भी गहन अध्ययन किया था। माता सीतम्मा के मुँह से पुरन्दरदास, रामदास, नारायण तीर्थ आदि कई संतों के अनेक गीत सुनकर उन्होंने संगीत रचना की प्रेरणा प्राप्त की। स्वामी रामकृष्णानंद से उन्होंने राम नाम के तारक मन्त्र का उपदेश भी ग्रहण किया था। ये सब त्यागराज के लिए लौकिक प्रेरणा के विभिन्न स्रोत रहे। पर उनको नादयोगी बनाकर स्वर साधना को जीवनमुक्ति के साधन के रूप में आविष्कृत करने की लोकोत्तर क्षमता प्रदान करने का श्रेय महर्षि नारद को ही मिलना चाहिए जो वृद्ध संन्यासी का वेष धारण कर उनको स्वरार्णव दे गये थे। त्यागराज ने अपने अनेक गीतों में नारद का

गुण-गान किया और स्पष्ट शब्दों में उनको अपना गुरु स्वीकार किया। नादकमल पर भ्रमर की तरह विचरण करते-से प्रतीत होने वाले नारद को "वेद जनित वीणा-वादन तत्वज्ञ" बताते हैं। ऐसे दिव्य गायक को अपने गुरु के रूप में पाकर वे आनंद विभोर हो जाते और कहते हैं—

श्री नारदमुनि गुरुराय! कंटिमेनाटि तपमो गुरुराय।
मनसार कोरिति गुरुराय! नेडेकनुलार कनुगोंटिमि गुरुराय।
मीसेव दोरिकेनु गुरुराय। भव पाशमु दोलगेनु गुरुराय।
नीवे सुज्ञान सुखी गुरुराय। नीवे अज्ञानशिखी गुरुराय।
राजिल्लु वीणे गल गुरुराय। त्यागराजुनि ब्रोचिन गुरुराय।"

(हे गुरुदेव नारद! कई दिनों की तपस्या के फल स्वरूप मैंने आपको गुरु के रूप में पाया है। आपके दर्शन के लिए मेरा मन बहुत ही उत्कंठित था और मेरी मनोकामना आज सफल हो पाई है। हे गुरुदेव! आपकी सेवा का भाग्य मिला तो मेरा भव बंधन विच्छिन्न हो गया। आप सच्चे ज्ञान की निधि हैं और अज्ञान को भस्म करने वाले अनल हैं। आपके हाथ में हमेशा वीणा विराजमान होती है और आप त्यागराज का उद्धार करने सद्गुरु के रूप में प्रकट हुए हैं।)

हो सकता है, त्यागराज ने यह गीत उस समय लिखा हो जब उन्होंने स्वरार्णव नाम का ग्रन्थ पाकर उसी रात को सपने में नारद को देखा था। नारद का जब कभी त्यागराज स्मरण करते हैं उनको वे प्रायः वीणावादन तत्वज्ञ बताते हैं। यहाँ पर स्मरणीय है कि त्यागराज भी अपने गुरुदेव नारद की "महती" (वीणा) से प्रभावित होकर वीणा-वादन में न केवल विशारद बन गये, बल्कि उसके तत्व के भी ज्ञाता हुए। इस प्रसंग में याज्ञवल्क्य स्मृति का यह श्लोक भी माननीय है :

"वीणा वादन तत्वज्ञः श्रुति जाति विशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥"

यहाँ पर वीणा-वादन और श्रुति जाति और ताल के ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया गया है। त्यागराज शंकर को भी वीणा-वादन परायण बताते हैं। वास्तव में नाद-साधना की संगति करने वाले प्रत्येक वाद्य यन्त्र को त्यागराज समान महत्व देते हैं। मृदंग के मृदुमधुर निनाद से परमात्मा को प्रसन्न बनाने में कुशल कलाकार की प्रशंसा करते हुए त्यागराज कहते हैं :

"सोगसुना मृदंगतालमु जत मूर्ति निनु
सोक्कजेयु धीरुडेव्वडो ?
गिम शिरोर्थमु गल्गिन निज वाक्कुलतो, स्वर शुद्धभुतो
यति विश्रम सद्भक्ति विरति द्राक्षारस नव रस युत
कृति चे भजियिंचु युक्ति त्यागराजुनि तरमा ? श्रीराम।"

(न जाने कौन कुशल कलाकार मृदंग की आवाज में ताल का लय मिला कर प्रभु को प्रसन्न कर सकता है? वेदान्त का तात्विक विवेचन प्रस्तुत करने वाली रमणीय वाणी से सपंन्न ही स्वरों का उच्चरण शुद्ध हो, ताल की गति नियत हो, ठीक स्थान पर विश्राम हो सच्ची भक्ति भावना हो, सांसारिक प्रलोभन से दूर हों और कृतियों (गीतों) की रचना नव रस बरसाने वाली और द्राक्षापाक जैसी आपातमधुर हो। वहाँ पर इतनी बातों का एक साथ संगम हो, ऐसी एकांत साधना क्या त्यागराज के लिए संभव है?)

इन पंक्तियों में स्वर सिद्ध सम्राट त्यागराज भी अपनी नादसाधना की परिपूर्णता के सम्बन्ध में कुछ अप्रत्यय की भावना प्रकट करते हैं। विवेक वर्द्धिनी वाणी, विशुद्ध स्वर सिद्धि और नव रस निष्यदिनी लयज्ञता के मंजुल सामंजस्य से ही प्रणवनाद राग की निष्पत्ति संभव है यही त्यागराज का प्रतिपाद्य विषय है। इन तीनों के साथ जब तक सच्ची भक्ति भी न हो तब तक नाद योग का सच्चा आशय सिद्ध नहीं होता। साधन की इस गरिमा से परिचित सन्त के मत में सिद्धि के सम्बन्ध में कुंछ संशय का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पर वे अपने संशय को भी बड़ी सात्विक और सारगर्भित भाषा में प्रकट करते हुए कहते हैं कि क्या यह त्यागराज के लिए सम्भव है? उनका आशय था कि इतनी महती साधना केवल त्यागराज के "पुरुषार्थ" से संपन्न नहीं हो सकती। उसके लिए प्रभु का सहारा चाहिए। वास्तव में प्रभु की अनुकम्पा ने त्यागराज को इस स्वर साधना में निष्णात बना दिया था। तभी तो वे सकृतज्ञ स्वर में कहते हैं—"नाद ब्रह्मानन्द रसाकृतिगलनी दयचे राम नित्यानंदुडैति।" (नाद ब्रह्म से निष्पन्न आनन्द रस के रूप में अवतरित आपकी कृपा से मुझे चिरंतन आनन्द की प्राप्ति हुई है, राम!

त्यागराज को प्रभु के वरदान के रूप में जो प्रणव नाद मिला था, उसी से वे प्रभु की अर्चना करते थे। उन्होंने इसी प्रणवनाद की "राग" का रूप दिया और उसे शत-शत भंगिमाओं से अनुरंजित कर सैकड़ों राग रागिनियों से रत्नहार बना कर प्रभु को अलंकृत किया था। "शत राग रत्न मालिकाओं" से समलंकृत अपने प्रभु के रूप वैभव को देखकर वे पुलकित हो कहते हैं—"आइए, हम सब मिलकर इस राग रूपी राम की सेवा करें और जीवन का सौभाग्य प्राप्त करें। वेद, शास्त्र, पुराण आगम-सब का परमार्थ प्रस्तुत करने वाला यह गीतार्थ योगियों को भी परमानन्द प्रदान करता है। पहुँचे हुए भक्त भी इन गीतों को गा-गा कर परमात्मा में एकाकार हो जाते हैं। त्यागराज को इस भव सागर से पार कराने वाली तारक नौका "यही राग रत्नमालिका" है।"

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है की त्यागराज ने अपनी रचना को "राग रत्नमालिका" कह कर राग भाव और लय सामाजिक सुषमा की ओर संकेत किया है। यह कहना कठित है कि त्यागराज के लिए (संगीत) अधिक प्रधान था या भाव

(भक्ति) संगीत और साहित्य दोनों उनके लिए समान महत्व के हैं। उनके मन में भक्ति भावना अपने आप कुछ शब्दों में गुनगुनाती है तो उनकी संगीतज्ञता उन शब्दों को स्वर का परिधान प्रदान करती है। जैसा भाव हो वैसा ही राग निकलता है। भाव स्वयं अपने अनुकूल राग का चयन कर लेता है। जब भाव और राग साथ-साथ चलते हैं तो उनकी अन्तरात्मा में अन्तस्सलिला की तरह निरन्तर चलने वाली लय-सरिता उस भावभीनी रागिनी को सुन्दर समतल में आवश्यक उतार-चढ़ाव के साथ ले जाती है। सरल हृदय से निकलने वाले भाव सरस रागिनी के सहारे समरस लय का आश्रय पा कर सात्विक साधना को सयश उत्तीर्ण बना देते हैं। त्यागराज के किसी भी गीत में यह अद्‌भुत सामंजस्य देखा जा सकता है। गीत का आरम्भ अत्यन्त साधारण होता है जैसे वे अपने प्रभु से आत्मीयता के साथ कुछ कहने जा रहे हों और धीरे-धीरे उसे पल्लवित किया जाता है।

उदाहरण के लिए—

"ब्रोव भारमा? रघुराम!
भुवन मेल्ल नींवे नन्नोकनि।"

यह गीत की प्रारंभिक पंक्ति है जिसको "पल्लवि" कहा जाता है। इसमें त्यागराज अपने प्रभु राम से पूछते हैं, "हे रघुराम! क्या मेरी रक्षा का भार आपके लिए दुर्भर बन गया है? कहते हैं, आप सारे संसार में फैले हुए हैं। फिर क्या मैं अकेला आपके लिए भार बन गया हूँ?"

गीत की दूसरी पंक्ति "अनुपल्लवि" में वे फिर कहते हैं—"आपको वासुदेव कह कर लोग आपकी प्रशंसा करते हैं, क्योंकि आपने अपने अन्दर करोड़ों लोगों को समा लिए थे। फिर मैं अकेला कैसे भार हो गया हूँ।"

गीत की तीसरी पंक्ति में जिसे "चरण" कहा जाता है, त्यागराज कुछ दृष्टांत देते हैं। क्षीर-सागर के मंथन के समय प्रभु ने सभी देवताओं की रक्षा की थी और गोप-गोपीजन की रक्षा के लिए आपने पहाड़ उठाए थे। लेकिन जब त्यागराज की बात आई तो प्रभु के लिए वह भार कैसे बना?

इस प्रकार पल्लवि, अनुपल्लवि और चरण (आवश्यकतानुसार चरण एक या अनेक हो सकते हैं) तीन सोपानों में गायक अपने भावों को पल्लवित करते जाते हैं। इस परम्परा को प्रचलित और प्रशस्त बनाने का श्रेय त्यागराज को है। यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि ऊपर दिया गया गीत गाते समय ही त्यागराज ने एक बहुरंगी राग का प्रयोग किया था जिसे उनके सहगायक समझ नहीं पाये। जैसा भाव, वैसा राग चुनने में स्वतंत्रचेता त्यागराज को एक अपूर्व राग का ही सृजन करना पड़ा जो बाद में बहुदारि (बहुराही) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

त्यागराज उच्चकोटि के गायक और संगीतज्ञ होते हुए भी जन साधारण के उद्धार के लिए ही अपनी गान-कला का उपयोग किया था। प्रभु की आराधना के

लिए ज्ञान का मार्ग सबसे श्रेष्ठ और परिनिष्ठित होते हुए भी, वह सामान्य जनता की पहुँच में नहीं होता। इसलिए सन्त त्यागराज ने "बहुजन हिताय" भक्ति युक्त संगीत के आधार पर "गान मार्ग" का सबसे सरल उपाय निकाला जिससे सभी लोग सनातन सत्ता का साक्षात्कार कर सकते हैं। यही त्यागराज की भजन परम्परा है जो उनकी दिनचर्या का विशिष्ट अंग बन गयी थी। "गीत गाओ और मुक्ति पाओ" का यह आन्दोलन त्यागराज ने अपने समाज में अत्यन्त लोकप्रिय बनाया था। उनकी भजन मंडली की यह विशेषता थी कि उसमें न केवल भक्त लोग सम्मिलित होते थे, बल्कि राजा-महाराजा तक जाते थे। उच्चकोटि के गायक भी उसमें सम्मिलित होकर अपने को सम्मानित समझते थे। प्रख्यात दार्शनिक और सन्त भी इन भजन गोष्ठियों से लाभान्वित हुआ करते थे। इस प्रकार त्यागराज का भजन या कीर्तन का कार्यक्रम भिन्न-भिन्न रुचियों के प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए एक संगम स्थल सा बन गया था।

उन दिनों भजन-कीर्तन करने वालों को "भागवत" कहा जाता था और गान कला का प्रदर्शन करने वालों को संगीतज्ञ। उच्चकोटि के संगीतज्ञ भागवतों की गोष्ठियों में सम्मिलित होना पसंद नहीं करते थे। प्रायः विद्वान समाज में या राजा के दरबार में वे अपनी शास्त्रज्ञता और कलाकौशल को प्रदर्शित करते थे। धीरे-धीरे इन दोनों के बीच में वैषम्य बढ़ता जा रहा था।

ऐसे समय पर त्यागराज ने अपनी उच्च कोटि की नाद साधना और परिष्कृत भक्ति-भावना के आधार पर दोनों को एक मंच पर प्रतिष्ठित किया था। यह त्यागराज का एक अपूर्व योगदान है जिसके लिए दक्षिण भारत का भक्त समाज उनका चिर ऋणी रहेगा।

त्यागराज की भजन मण्डली केवल उनके भजन-मन्दिर या पूजा-गृह तक सीमित नहीं थी। पूजागृह में तो नित्य नियमित रूप से राम पंचायतन की पूजा हुआ करती थी और अवसर के अनुकूल कीर्तन कार्यक्रम भी। इसके अलावा नगर की सड़कों पर भी प्रभु का कीर्तन करते हुए त्यागराज और उनके शिष्य बाहर घूमा करते थे। यह चलता फिरता भजन-समाज त्यागराज के नादब्रह्म का जंगम रूप था जो देखने वालों को नयनाभिराम लगता था। त्यागराज स्वयं हरिदासों की इस मण्डली का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

**"संगतिगानु मृदंग घोषमुल चे पोंचु वीधुल केगुच मेरयुचु।
चक्कनि हरि चे जिक्किकतिमनि मति सोक्कुचु नाममे दिक्कनि पोगडुचु।
दिट्टमुगा नडु कट्टुतो अडुगलु मेट्टचु तालमु पट्टि गलगल्लनग।
ज्ञानमुतो रामध्यानमुतो मचि गानमुतो मने दानमोसंगुचु।
राजराजुनिपै जाजुलु चल्लुचु राजिल्लुचु त्यागराजुनि तो गुडि।
हरिदासुलु वेडले मुच्चट गनि आनंदमाये दयालो।"**

(दयाराम राम! आपका गुणगान करते हुए नगर संकीर्तन के लिए निकली भजनमण्डली को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। मृदंग की संगति में उमंग भरी आवाज में नगर की जगमगाने वाली मण्डली की शोभा देखते ही बनती है। राम के नयनाभिराम रूप और उनके रमणीय नाम के ध्यान में अपने को खोकर परवश मन से परमात्मा की प्रशंसा करने वाले ये भक्त कमर कसकर पग-पग पर पदनिधि का आस्वादन करते हुए नाद सौंदर्य में लीन होकर कदम बढ़ाते जा रहे हैं। सच्चा ज्ञान, राम का ध्यान और मनोहर गान-तीनों बातें उनको आत्मदान के लिए प्रेरित कर रही हैं। राजाओं के अधिराज राजाराम पर जाति कुसुमों की वर्षा करते हुए त्यागराज के साथ अग्रसर होने वाली यह मण्डली सममुच धन्य है।)

धन्य क्यों नहीं। ज्ञान, ध्यान और गान की त्रिवेणी जहाँ बहती हो प्रतिभा प्रभु के ध्यान से जब परिणत और प्रयोजनवती बन रही हो और स्वरार्ण पंचनद की खोज़ में चलकर उसके पग-पग को प्रयाग बना रहा हो, वहाँ की धरती का प्रत्येक कण धन्य है। त्यागराज की नाद साधना में कोई ऐसी स्पर्शविदिता विद्यमान थी जो पंडित और मूर्ख, संत और साधक, गायक और सेवक सबको अपने स्पर्श से हिरण्मय बना देती थी। वाणी के समस्त ऐश्वर्य पर प्रभुता पाने की क्षमता रखने वाला कोई सुवर्ण बिंदु उनकी नाद-बिंदु कला की उदात्त उपासना ने समुपार्जित कर लिया था। इसीलिए उनकी साधना अक्षोभ्य और अपने में साध्य है।

*　　　　*

अन्तिम दशा

"यस्यानुभव पर्यतो बुद्धिस्तत्वे प्रतिष्ठिता
तद्दृष्टि गोचरास्सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै:"

समस्त जीवन परमार्थ चित्त में व्यतीतकर ईश्वर का सन्निधान प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपने आराध्य से प्रार्थना करते हुए अंतिम दशा में कितने ही जागरूक प्रतीत होते हैं। वास्तव में त्यागराज की त्यागनिरति इस प्रसंग से प्रकट होती है कि जिस संसार में जिस शरीर के साथ वर्षों व्यतीत करने पर भी उनके मन में न तो इस संसार के प्रति न ही अपने इस नश्वर शरीर के प्रति किसी प्रकार का मोह रहा। इन्होंने इस शरीर को त्यागकर उसमें स्थित जीव को शाश्वत आनंद प्रदान करना अपना कर्तव्य माना। कितनी आसानी से वे अपने इस कार्य में कृत-कृत्य हो गये हैं? प्रशंसनीय बात यह है इन्होंने तपस्या के द्वारा वह तपस्या प्राप्त की कि जब इच्छा हुई तो शरीर त्याग सकें। उन्हें आभास हो गया कि अंतिम समय आसान होने वाला है। तब से वे अत्यन्त जागरूक हो गये। उसी ध्यान से श्री राम की दिव्य मूर्ति के संदर्शन की अभिलाषा से परवशता की स्थिति

में त्यागराज को भद्रगिरि के राम के दिव्य संदर्शन प्राप्त हुए। सूचना प्राप्त हुई कि उस दिन से ठीक दस दिन के उपरान्त उनका कर्म परिपक्व होगा और मोक्ष की प्राप्ति होगी। राम के दिव्य-दर्शन से पुलकित गात, गद्‌गद कंठ-आनंदाश्रुओं से स्तब्ध होकर त्यागराज परवशता की स्थिति में राम की प्रशंसा में जिस कीर्तन की रचना की है उसमें भक्ति रस की परिपक्व स्थिति, पराकाष्ठा पाई जाती है। "गिरि पर उपस्थित राम के, मैंने दर्शन उस प्रकार किये कि मेरा निशाना नहीं छूटा।"[1] दृढ़ विश्वास के साथ कि राम अपना वचन अवश्य पूरा करेंगे और दस दिन में मोक्ष प्रदान करेंगे, त्यागराज ने संन्यास स्वीकार कर "काषाय" वस्त्र धारण कर भजन-नाम-जप में मग्न होकर ठीक अंतिम दिन अर्थात् पराभवा नाम वर्ष के बहुला पक्ष तिथि पंचमी, वार बुध को राम में लीन हो गये।

✦✦✦

---

1. "गिरि पैनि नेलकोन्ना रामुनि गुरितप्पाका कंटी।"

षष्ठ अध्याय

विनयपत्रिका एवं त्यागराज के कीर्तनों की शिल्पगत विशेषताएँ : साम्य एवं अंतर

भक्त्यात्मक गीतिकाव्य की परम्परा में 'विनयपत्रिका' एवं त्यागराज के कीर्तनों को अपनी शिल्पगत विशेषताओं के कारण संसार में अग्रस्थान प्राप्त है, वास्तव में 'मानस' अपने स्थान पर प्रत्येक भारतवासी के लिए आदरणीय है तो प्रगीतात्मक काव्यों में 'अग्रताम्बूल' (अग्रस्थान) विनयपत्रिका को प्राप्त हुआ है। ठीक उसी प्रकार समस्त दक्षिण प्रान्त में भक्त त्यागराज के कीर्तनों को अग्रस्थान प्राप्त हुआ है। त्यागराज को अत्यन्त आदरपूर्वक 'त्यागराज स्वामी' कहा जाता है। वे जगत् प्रसिद्ध 'नादब्रह्म' हैं। 'कर्नाटक संगीत के 'त्रिमूर्ति' कहलानेवाले 'मुत्तुस्वामी दीक्षितार', 'त्यागराज' एवं 'श्यामशास्त्री' में से दक्षिण में ही नहीं, भारत में ही नहीं, समस्त विश्व में भक्त त्यागराज का अग्रस्थान सुरक्षित है। संसार के कोने-कोने में इनके ही कीर्तन अधिक गूँजते रहते हैं। विनयपत्रिका के गीतों के समान 'कीर्तनों' को भी जनमानस में असाधारण एवं अनुपम धन प्राप्त हुआ है।

इसका सबसे पहला कारण है इनकी शिल्पगत विशेषताएँ। जिस प्रकार तुलसी के अन्य गीतात्मक काव्यों में विनयपत्रिका भिन्न प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार दक्षिण के अन्य संगीतज्ञों एवं भक्तों के कीर्तनों से त्यागराज के कीर्तन नितान्त भिन्न हैं। तुलसी एवं त्यागराज में ढाई सौ वर्षों का अंतर है। कहा जाता है कि त्यागराज पर तुलसी का स्पष्ट प्रभाव है। साहित्यकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करना निश्चित रूप से इनका ध्येय नहीं था। एक भक्त शिरोमणि हैं तो दूसरा 'नादोपासक' 'नादब्रह्म'। परन्तु जन्मसिद्ध एवं व्यक्तिगत विशेष गुणों के कारण, घर के वातावरण के प्रभाव के कारण, अपने गुरु, माता, मातामह, पिता, पितामह के प्रभाव के कारण, अपने-अपने पालन-पोषण की परिस्थितियों के प्रभाव के कारण 'विनयपत्रिका' एवं कीर्तनों में शिल्पगत विशेषताओं ने अनायास ही अपना स्थान सुरक्षित बना लिया। भाषा रस छन्द अलंकार आदि की दृष्टि से इनका साहित्य उच्च कोटि का ही प्रमाणित हुआ। वास्तव में ये दोनों क्रमशः 'लोकनायक' तथा 'नादोपासक' ही थे। इसीलिए कई शताब्दियों तक इन्हें भक्त ही माना जाता रहा तथा इनकी रचनाओं की शिल्पगत विशेषताओं की खोज-बीन का कार्य संपन्न नहीं

हुआ। एक ने समाज सुधारक के रूप में दूसरे ने 'नादब्रह्म' के रूप में जनमानस के अविभाज्य अंग बनकर उसमें सुरक्षित स्थान स्थापित कर लिया। कालान्तर में इनके साहित्य की शिल्पगत विशेषताओं की ओर समीक्षकों एवं शोधार्थियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। तब आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए। काव्य शिल्प की दृष्टि से दोनों वाल्मीकि से अधिक प्रौढ़ एवं सक्षम प्रतीत ही नहीं होते हैं, परन्तु प्रमाणित भी हो चुके। कारण स्पष्ट है। वास्तव में इन दोनों ने जनसाधारण को ही दृष्टि में रखकर अपनी रचनाएँ कीं। अतः कितनी ही जागरूकता से इन्होंने शब्दों का चयन किया; अलंकारों की योजना बनाई; समय एवं संदर्भ के अनुकूल रस-छन्द का प्रयोग किया ताकि उनके विचार, उनका संदेश जनता तक सुव्यवस्थित ढंग से पहुँच सके।

वास्तव में समाज में विचार–विनिमय भाषा पर अधिक निर्भर करता है। संप्रेषणीयता को ठीक बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि विचार-विनिमय का साधन भाषा जनसामान्य की ही हो, विद्वानों की नहीं। तभी लेखक-रचयिता अपना लक्ष्य आसानी से प्राप्त कर सकता है।

तुलसी एवं त्यागराज दोनों संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी इस सच्चाई से, इस रहस्य से सुपरिचित थे कि "संस्कृत भाषा जनता की भाषा नहीं—'पंडित जगत्' की भाषा है। अतः उस भाषा में काव्य रचना करने से अपने ज्ञान एवं पांडित्य का दुरुपयोग ही नहीं होगा, बल्कि लक्ष्य सिद्धि भी नहीं होगी। भक्ति का प्रचार–प्रसार अपने सिद्धान्तों के प्रवचन साधारण जनता तक पहुँच नहीं पायेंगे।" अतः दोनों ने जन भाषा में प्रचलित अत्यंत सरल, मृदु–मधुर 'कोमल कान्त पदावली', मुहावरों, कहावतों लोकोक्तियों से युक्त भाषा का प्रयोग किया तथा अपने लक्ष्य पूर्ति में सफलता प्राप्त की। रस, छन्द अलंकार योजना से बद्ध होकर भी दोनों की भाषा सरल एवं जनसाधारण की सीमाओं के अन्दर ही रही, उनकी समझ से बाहर नहीं गई। भाषागत सौन्दर्य को किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है इससे भी सुपरिचित दोनों कलाकारों ने अपनी भाषा में मुहावरे, कहावतें तथा लोकोक्तियों का भी समावेश कर उसके सौन्दर्य को द्विगुणीकृत किया क्योंकि इनका प्रयोग भाषागत सौन्दर्य को बढ़ाना ही नहीं बात को और स्पष्ट कर देता है। कभी-कभी अभिव्यक्ति पाने में असमर्थ, कठिन–से कठिन भाव भी इनके द्वारा अनायास ही अभिव्यक्ति पाकर स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाते हैं। दोनों भक्तों में यह क्षमता तथा चातुरता पाई जाती है। जनभाषा को अपनाने का तात्पर्य है अपनी अनुभूति को जनता के निकट लाना। 'कबूलत', 'साहेबी', बिरुदैत', 'ख्याल' (तमाशा के अर्थ में) आदि शब्दों के प्रयोग से कवि जनता के हृदय पर प्रभाव डाल कर अपनी बात को वहाँ तक आसानी से पहुँचा पाये। इसी प्रकार की सरल अभिव्यक्ति के द्वारा कवि लोकप्रिय बन पाते हैं। खास-तौर पर 'लोकनायक' लोकमंगल की कामना करने वाले कवि के लिए इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि समय एवं

संदर्भ के अनुकूल भाषा का प्रयोग हो। त्यागराज ने भी अपने समय में समाज में प्रचलित अन्य भाषा शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया। 'फरवा', 'खरारे', 'नाजुक', 'बरबस', 'राजी', 'हरामीपन', 'कारोबार', 'तमाम', 'संतजन', जैसे अनेक शब्दों का प्रयोग कर इन्होंने अपनी भावनाओं को समाज तक पहुँचाने में समर्थता एवं सफलता प्राप्त की।

गीतों की भाषा प्रबन्ध—महाकाव्यों की भाषा से भिन्न होती है। कोई भी कवि व्यावहारिकता, मुहावरें, कहावतें, लोकोक्तियाँ तथा अपने समय समाज में प्रचलित अन्य भाषा शब्दों से युक्त भाषा का प्रयोग करता है ताकि उसका संदेश तथा भक्ति का प्रचार अधिक समय तक अधिक से अधिक जनसंख्या के बीच जीवित रहे। इसके लिए कवि कुछ नये-नये शब्दों को बनाकर प्रयोग में लाता है। त्यागराज ने भी इस दिशा में कुछ ऐसे ही नूतन प्रयोग किये, जैसे 'हनुमानजी' के लिये 'सततयान सुत' (वायुपुत्र के अर्थ में), 'कवीन हृदय लस' (कवि + इन = कवीन = वाल्मीकि) = वाल्मीकि के हृदय में स्थित; क्षत्रिय के लिए बाहुज; चन्द्रमा के लिए भार्य' (भ = नक्षत्र; आर्य = पति = नक्षत्रों का पति); मुख जित भार्ये = मुख से विजित चन्द्रमा आदि।

दोनों ने कभी-कभी भक्ति की परवशता के कारण कुछ ऐसे प्रयोग किये कि अन्वय कुछ कठिन-सा हो जाता है। व्यावहारिक भाषा के साथ कभी-कभी यह कठिनाई हो जाती है कि शब्द जनसाधारण में अधिक व्यवहार में तो रहते हैं पर शिष्ट समाज उनसे अधिक परिचित नहीं रहता। त्यागराज के समय से दक्षिण प्रान्त में एक प्रक्रिया प्रचलित थी जिसे 'यक्षगान' कहा जाता है। उसमें गीतों की भाषा 'व्यावहारिक'—अर्थात् जो व्यवहार में अधिक रही हो—भाषा थी।

तुलसी एवं त्यागराज ने जो गीत शैली अपनायी, उसके कुछ प्रमुख कारण हैं। गेयपद और उनमें व्यक्त भाव तद्वारा कवि, 'आचन्द्रर्क' संसार में जीवित रहेंगे। गेयपद युग-युगों तक गाये जाते हैं। लोगों के द्वारा गीत रचयिता अपने मृत्योपरान्त भी समाज में जीवित रहेगा। उसके 'स्मृतिशेष' रहने का उनके गीत एक माध्यम बन जाते हैं। युग-युगों तक गीतों की 'आयुर्वृद्धि' होती ही रहेगी। समाज भी इनसे लाभान्वित होता रहेगा। जयदेव, विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी जैसे महान हस्तियों का आज हमारे बीच न रहने पर भी "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी", "जाऊँ कहाँ तजि चरण तिहारे", 'तव दासोऽहं" जैसे अनेक अमूल्य पदों को हम गुन-गुनाते ही रहते हैं। आज भी ये गीत हमारे बीच गीतकार-संगीतकार के भक्ति तथा दार्शनिकपरक संदेश का प्रचार करते हैं। युग-युगों तक गाये जाने पर भी इनका रंग या समाज पर इनका प्रभाव फीका नहीं होता। वास्तव में इनका रंग और निखर आता है और प्रभाव और गहरा होता जाता है।

दूसरा उल्लेखनीय कारण यह है कि गीतशैली स्मरण रखने में आसान है। जो जिस राग में इन गीतों को गाना चाहे सो गा सकता है। गीतकार के, इन गीतों को

शास्त्रीय दृष्टि से एक अमुक राग में बिठाने के बावजूद भी एक साधारण व्यक्ति जो इन राग-रागिनियों से अनभिज्ञ है, जो इस झंझट में पड़ना नहीं चाहता—वह अपनी इच्छानुसार किसी भी राग में गुन-गुना सकता है। भक्ति में परवश-तल्लीन भक्त अभिव्यक्ति चाहता है चाहे वह राग शास्त्रीय हो या साधारण। भावों की सरल अभिव्यक्ति का सुगम मार्ग है गीत पद्धति या शैली। इसीलिए यह शैली अत्यंत लोकप्रिय बन गई है। युग-युगों तक गीतों की संख्या कम हो सकती है पर गीतकार का यश दुगुना—चौगुना होता रहता है। सम्भवतः इस सरलता की दृष्टि से ही तुलसी एवं त्यागराज ने इस मार्ग को अपनाया। त्यागराज की राग-बद्धता अपेक्षाकृत अधिक शास्त्रीय जान पड़ती है, क्योंकि जिन राग-रागिनियों में उन्होंने अपने कीर्तनों को बिठाया आज तक उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन दिखाई नहीं देता है। इस प्रकार तुलसी एवं त्यागराज ने क्रमशः गीत एवं संगीत के माध्यम से भक्ति साधना के सरल मार्ग को समाज तक पहुँचाया। इसी माध्यम को अपनाने के कारण भक्ति का स्वरूप सुरक्षित ही नहीं उसका महत्व भी बढ़ गया। सैकड़ों वर्षों के उपरान्त आज भी ये गीत कीर्तन समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रहे हैं। मानव-हृदय के आवेग एवं संगीत का अटूट संबंध है। भक्ति मार्ग जनसाधारण का अधिक होता है। संपूर्ण मानव समाज का होता है क्योंकि वह मोक्ष प्राप्ति का अत्यंत सरल-सुगम तथा ऋजु मार्ग है। अतः वह अत्यन्त व्यापक है। ज्ञान का मार्ग कतिपय बुद्धि जीवियों तक ही सीमित होने के कारण संकुचित है। साधारण जनता के अनुकरणयोग्य नहीं है।

तुलसी एवं त्यागराज दोनों जनमानस के कवि तथा भक्ति मार्गी थे। भक्ति एवं मुक्ति से संबंधित इनकी भावनाएँ सम्पूर्ण मानव समाज के लिए ही नहीं तिर्यक जाति के लिये भी है। उदाहरणार्थ जटायु, काकभुशुंडि, वालि-सुग्रीव, हनुमान, यहाँ तक कि छोटी-सी गिलहरी जिसने सेतु-बंधन के कार्य में यथाशक्ति श्रमदान कर मोक्ष प्राप्ति का अधिकार प्राप्त किया, आदि प्रसंग प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

भक्त्यात्मक गीतिकाव्य की परम्परा में 'विनयपत्रिका' के गीत एवं त्यागराज के 'कीर्तन' संसार को एक विशेष संदेश देते हैं। दोनों भक्तों ने अपने आराध्य को शक्ति शील एवं सौन्दर्य की त्रिगुणात्मकता से परिपूर्ण बताया तथा सफलतापूर्वक यह प्रमाणित किया कि आराध्य की इस त्रिगुणात्मकता के कारण ही राम के दरबार में सभी जीवों को समान रूप से न्याय प्राप्त होता है। निषाद, शबरी जैसे भक्तों को मोक्ष प्रदान कर भगवान् ने यह प्रमाणित कर दिखाया कि उनके दरबार में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है। भक्त कोई भी हो, किसी भी जाति का हो अभिनंदनीय है। इन दोनों की रचनाओं में प्रतिपादित जीवन-दर्शन के अनुसार मानव के व्यक्तित्व के उत्कर्ष का सबसे महत्वपूर्ण साधन और उपादान भगवान् की भक्ति ही है। यह भगवत् भक्ति एक ऐसी मिलन भाव-भूमि है जहाँ सब प्रकार के भेदभाव अपने आप ही मिट जाते हैं। इन दोनों के नायक 'राम' कहीं विष्णु के रूप

में कहीं दशरथ पुत्र के रूप में, कहीं सीतापति के रूप में वर्णित हैं। इनका चरित्र अनुकरणीय है 'विनयपत्रिका' एवं त्यागराज के कीर्तनों में भक्ति, संगीतात्मकता या गीतात्मकता तथा विनय (दास्यभावना) का त्रिवेणी संगम है। दोनों ने इसी अटल विश्वास से 'राम' की शरण ली कि वे 'शरणागत वत्सल' हैं। अपने इस विश्वास को तुलसी ने 'विनयपत्रिका' के द्वारा तथा त्यागराज ने कीर्तनों द्वारा व्यक्त किया। इन कृतियों में भक्ति रस के शान्त, सख्य, वात्सल्य मधुर जैसे अन्य रूपों का समग्ररूप से प्रतिपादन होते हुए भी विनय या दास्य भक्ति रस का प्रतिपादन मुख्य रूप से हुआ है क्योंकि भक्ति की पराकाष्ठा सम्पूर्ण शरणागति में ही निहित है। इसी सत्य का प्रतिपादन दोनों का जीवन-लक्ष्य है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए तुलसी ने गीतात्मकता का सहारा लिया तो त्यागराज ने कीर्तनों की संगीतात्मकता का।

जहाँ तक काव्यगतशिल्प का प्रश्न है तुलसी ने अपनी अन्य रचनाओं में अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन सभी काव्य रचना पद्धतियों को अपनाया जैसे चन्द के छप्पय शैली, विद्यापति कबीर तथा सूर की दोहे गीत शैली, जायसी, ईश्वरदास की दोहा–चौपाई पद्धति, रहीम के बरवै, गंग आदि की कवित्त-सवैया शैली आदि। इतना ही नहीं तुलसी की सूझ-बूझ पर, समन्वय पद्धति पर आश्चर्य होता है कि साधारण जनता में प्रचलित सोहर-नहछू गीत, चामर, बसंत आदि पद्धतियों से लेकर मंगल काव्यों की मंगल-पद्धतियों तक की शैली में रामकथा का निर्माण किया। त्यागराज ने भी साधारण जनता को दृष्टि में रखकर ही परम्परागत संगीत एवं भक्ति का निर्वाह करते हुए 'कृति', छन्द को अपनी रचना का माध्यम बनाया जो कि वेद के २६ छन्दों में से बीसवाँ छन्द है। भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए यह छन्द अत्यन्त उपयुक्त माना जाता है। दीनता अथवा दैन्य के बिना भक्ति का ठीक-ठीक प्रतिपादन नहीं हो पाता है। 'दास्यभक्ति' का प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य 'संकटमोचन' जी को प्राप्त हुआ। सम्भवतः यही कारण है कि वे 'भक्ताग्रेसर' हैं। तुलसी एवं त्यागराज इन्हीं के अवतार के रूप में आराधित है। कितना आश्चर्य-जनक साम्य!

कीर्तन एवं विनयपत्रिका में अन्य सभी रसों का समग्र रूप से निर्वाह अपने अनुपात में होते हुए भी संदर्भ एवं इतिवृत्त के अनुरूप दास्यभक्ति का प्रतिपादन प्रधान रूप से हुआ है। वास्तव में दोनों भक्तों के कुशल हाथों से कोई भी भाव रस स्थिति तक पहुँचता हुआ दृष्टगोचर होता है। शृंगार (मधुर) वीर, हास्य, वात्सल्य जैसे अनेक रसों का सांगोपांग प्रतिपादन हुआ है। इन दोनों भक्तों की रचनाओं की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें वेद-कालीन-ऋग्वेद से निष्पन्न भक्ति-रसधारा का समृद्ध एवं प्रामाणिक रूप पाया जाता है। दोनों भक्तों के दास्यरस की अभिव्यक्ति में इतना साम्य है कि इन दोनों की दास्याभिव्यक्ति में अन्तर पाना कठिन कार्य है। शरणागति की सभी अवस्थाओं का सांगोपांग वर्णन इन दोनों ने

कुशलता पूर्वक किया।

दोनों की अलंकार योजना को देखकर आश्चर्य होता है कि, इसमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। संदर्भ के अनुरूप अलंकारों का प्रयोग करने की चतुरता दोनों में पाई जाती है। आश्चर्य इस बात का होता है कि जिस संदर्भ में जिस अलंकार का प्रयोग तुलसी ने किया ठीक उसी संदर्भ में उसी अलंकार का प्रयोग त्यागराज ने भी किया। दोनों कलाकारों के समय में लगभग 250 वर्षों का अंतर है; दोनों भिन्न प्रान्त के कलाकार हैं। तो भी इतना साम्य आश्चर्यजनक ही है। अलंकार शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान इन दोनों की रचनाओं में प्राप्त होता है शब्दालंकार–अर्थालंकार दोनों का समग्ररूप से प्रयोग विनयपत्रिका एवं कीर्तनों में पाया जाता है। लगता है कि शब्दालंकारों में अन्त्यानुप्रास दोनों को अधिक प्रिय हैं। कहीं-कहीं वृत्यानुप्रास भी। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्पेक्षा का अधिक से अधिक प्रयोग इनकी रचनाओं में पाया जाता है। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन अलंकारों का अधिक प्रयोग करने में भी दोनों का उद्देश्य साधारण जनता है जिनके समझ में ये अलंकार अन्य अलंकारों की अपेक्षा आसानी से आ जाते हैं।

तुलसी एवं त्यागराज की रचनाओं में इतना साम्य होते हुए भी किंचित् अंतर भी दृष्टिगत होता है। उसके भी कुछ कारण हैं। समय में जो अंतर है वह एक उल्लेखनीय कारण है। भौगोलिकता में भी अंतर है जिसका प्रभाव कवि या रचयिता की रचनाओं पर अवश्य पड़ता है। कवि के व्यक्तित्व का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रहता है जिसकी झलक कृतित्व में स्पष्ट दिखाई देती है। संसार में कोई भी दो व्यक्ति शत–प्रतिशत एक जैसे नहीं होते। यही अंतर उनकी रचनाओं में भी दृष्टगोचर होती है। तदुपरान्त पारिवारिक, सामाजिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रभाव लेखक की रचनाओं पर अनिवार्यतः पड़ जाता है।

तुलसी तथा त्यागराज के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त परिस्थितियों का प्रभाव इनकी रचनाओं पर पड़ा।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय अंतर यह है कि तुलसी 'लोकनायक' थे तथा समाज-सुधार के लिए उन्होंने अपने साहित्य को माध्यम बनाया। उन्होंने अपना लक्ष्य साधने में इसे उत्तम मार्ग समझा। हिन्दू धर्म का ह्रास जब हो रहा था तब तुलसी ने उसकी रक्षा का बीड़ा उठाया। त्यागराज के समय में भी हिन्दू धर्म का ह्रास हो रहा था। परन्तु त्यागराज प्रधान रूप से 'नादोपासक' होने से संगीत के अभ्यास में ही तल्लीन रहे। क्योंकि उनका प्रधान लक्ष्य 'स्वर साधना' ही रहा। उनके कीर्तनों में यह दुख यत्र-तत्र व्यक्त हुआ कि समाज पर कलि का अत्याचार हो रहा है पर उसके प्रति अपना दुख अपनी रचनाओं में व्यक्त करने की सिवा उन्होंने अन्य किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया। उनके अनुसार संगीत का ज्ञान तथा भक्ति ये दो ही मोक्ष प्राप्त करने के दो सन्मार्ग हैं।

तुलसी का प्रधान लक्ष्य समाज–सुधार था। उसके लिए उन्होंने विनयपत्रिका को माध्यम बनाया तथा उसका सहारा लिया। तुलसी ने गीतात्मकता के द्वारा अपने संदेश को युग-युगों तक जनता के पास पहुँचाना चाहा। इस प्रकार राम की कृपा दृष्टि को अस्त-व्यस्त समाज की ओर आकर्षित कर उनसे उसे सुधरवाना तुलसी का प्रधान लक्ष्य रहा।

महान् संगीतज्ञ देवर्षि नारद के आदेश का पालन करते हुए त्यागराज भक्ति-रस में निमग्न होकर 'स्वर साधना में आपाद मस्तक' तल्लीन थे। अतः समाज-सुधार की ओर उनका ध्यान कम गया। कलियुग के करामातों से दोनों दुखी थे, उससे संसार को बचाने की विनती अपने आराध्य से दोनों ने की। विनयपत्रिका एवं कीर्तनों का प्रतिपाद्य 'दास्यभक्ति' के होते हुए भी लक्ष्य में अंतर होने के कारण यह अंतर आ गया कि त्यागराज पहले 'नादोपासक' तथा 'नादब्रह्म' माने जाते तदनन्तर भक्त जब कि तुलसी पहले भक्त तदनन्तर लोकनायक। त्यागराज के संबंध में यह कहा जाता है कि महाशिव, महान संगीतज्ञ देवर्षि नारद, माँ सरस्वती तथा आदिकवि वाल्मीकि के अंशों से उनका जन्म हुआ। उन्हें नारद महर्षि का स्वर साधना संबंधी आदेश भी प्राप्त हुआ। इन कारणों से त्यागराज का पहले 'नादब्रह्म' होना अस्वाभाविक नहीं था। तुलसी का जन्म भी वाल्मीकि के अंश से हुआ यह माना जाता है, फिर भी समाज की अस्त-व्यस्तता को देखकर उनके मन का 'लोकनायक पक्ष' विचलित हो उठा–फलतः 'विनयपत्रिका' को माध्यम बनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस प्रकार तुलसी एवं त्यागराज ने काव्य रचना करते समय सदा उस समाज को ध्यान में रखा जिसके लिए वे काव्य रचना करना चाहते थे। इसलिए इनके काव्य की सभी शिल्पगत विशेषताएँ लोकप्रिय बन गयीं। किसी भी कवि की रचना की शिल्पगत विशेषताओं पर उस समय की सभी प्रकार की परिस्थितियों का प्रभाव तो होता ही है साथ-साथ ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रभाव भाषा पर अवश्य होता है और उस समय की भाषा में उस समय समाज में प्रचलित अन्य भाषा शब्द भी अपना स्थान बनाकर संप्रेषणीयता को सशक्त बना लेते हैं। तुलसी एवं त्यागराज की भाषा पर भी इसी प्रकार का प्रभाव स्पष्ट है। त्यागराज की भाषा में संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी शब्दों के अलावा तमिल शब्द, कहावतें तथा मुहावरों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कारण है उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ जिन पर तमिल भाषा का प्रंभाव अधिक था और उस समय मद्रास प्रान्त या आज का तमिल प्रान्त अलग नहीं था, आन्ध्र प्रान्त का ही एक भाग था। अतः तमिल भाषा एवं संस्कृति का प्रभाव त्यागराज पर अत्यंत स्वाभाविक था।

विनयपत्रिका एवं कीर्तनों में एक और उल्लेखनीय साम्य है विषय की अनेकरूपता। जिस प्रकार 'विनयपत्रिका' का प्रत्येक गीत स्वतंत्र है ठीक उसी प्रकार

कीर्तन भी अपने आपमें स्वतंत्र है। भाव या शिल्प की दृष्टि से विषय की एक तंतु जैसी कोई वस्तु इनमें दृष्टिगत नहीं होती। हाँ एक तंतु अवश्य इन गीतों को बाँध रखती है—दोनों भक्त कवियों को बाँध रखती है—वह है भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की मूलभूत एकता।

तुलसी एवं त्यागराज जगत् प्रसिद्ध ही नहीं अत्यंत लोकप्रिय भी हैं। इनकी इस लोकप्रियता के अनेक कारण हैं जिनमें से इनकी भक्ति संगीतज्ञता आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा कई ऐसी विशेषताएँ इनकी रचनाओं में इनके व्यक्तित्व में पाये जाते हैं जिनके कारण ये अत्यंत लोकप्रिय बनें। हरि-हरों में भिन्नता जैसे कई विषमताओं के बीच समन्वय स्थापित कर समाज को सन्मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करना, मानवता के व्यापक क्षेत्र में हिन्दू धर्म को जीवित रखने की आवश्यक पृष्ठभूमि बनाना, रामभक्ति के इस वास्तविक अर्थ को समाज के सामने रखना कि मानव के सदाचार, सांसारिकता के प्रति निष्काम भाव, सरल एवं सादा जीवन से, संसार से, अन्याय, अत्याचार अभाव जैसे विनाश जड़ समेत नष्ट हो जाते हैं—तद्वारा सम्पूर्ण मानव समाज में सुख एवं शान्ति की स्थापना हो जाती है। भक्ति का लोककल्याणकारी रूप यही है। इस वास्तविकता की स्थापना ही इन दोनों का ध्येय रहा। विध्वंसक क्रान्ति में इनका कोई विश्वास नहीं था। 'पिपीलिकादि ब्रह्मांड पर्यंत्' के जगत् में इन्होंने राम के दर्शन किये। हरि-हरों को 'राममय' जाना। आराधना की दृष्टि से दोनों रामभक्त थे और साधना की दृष्टि से वैष्णव भक्ति के मूल में निहित स्मार्त सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सर्वधर्म समन्वय, ज्ञान-भक्ति-कर्म का समन्वय हरि-हरों में समन्वय "द्वैत-अद्वैत विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत मुद्धाद्वैत जैसे अनेक मार्गों का मूल भक्ति ही है" कह कर तद्वारा अनेक लोककल्याणकारी तत्वों का प्रतिपादन कर दोनों ने समाज को ठीक मार्गदर्शन किया। वास्तव में यही समन्वय भावना भारतीय संस्कृति का मूलतत्व है, उसकी विशिष्टता एवं विशेषता भी। ये दोनों अपने आराध्य से यही चमत्कारपूर्ण प्रार्थना करते हैं कि वे धर्म के इस समन्वित रूप को और स्पष्ट करने तथा, उसे सुरक्षित रखने की शक्ति दें—

अन्य किसी धर्म की निन्दा किये बिना कई दार्शनिक सिद्धान्तों में कई उपासना पद्धतियों में कई धर्मों में निर्वाण के कई मार्गों में समन्वय स्थापित कर इन्होंने समाज की धार्मिक स्थिति को सुधारा। समन्वय का तात्पर्य है 'सहिष्णुता'। भारत में जन्में कितने-कितने ही मुनि-ऋषियों ने, भक्त-कवियों ने, समाज-सुधारकों ने इसी समन्वय सिद्धान्त के द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया। इसीलिए भारत एक 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' है। इसकी रक्षा करने हेतु कितने ही महान हस्तियों ने अपने प्राणों की आहुति दे दीं।

इस प्रकार की सहिष्णुता, समन्वय, कर्मवाद जैसी भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताओं की झलक दोनों की रचनाओं में दृष्टिगत होती है। भारतीय संस्कृति

की मात्र झलक ही नहीं उसकी रक्षा का बेड़ा भी उठाते हुए दोनों साधक पाठक के सामने आते हैं। यह उनकी राष्ट्रीयता की भारत की संस्कृति, सभ्यता एवं मूलभूत एकता की रक्षा का बेड़ा है जो देश भक्ति का एक अटूट अंग है। कदम-कदम पर काशीनगर, चित्रकूट, तिरुवायूर जैसे स्थानों तथा गंगा, गोदावरी, कावेरी जैसी नदियों का वर्णन करते हुए दोनों भक्त अघाते नहीं। तल्लीनता एवं तन्मयता की स्थिति में दोनों भक्तों ने इन प्रदेशों के सौन्दर्य एवं महत्व का जो वर्णन किया है वह इनकी देशभक्ति का परिचायक है। इन प्रसंगों को पढ़ते समय पाठक को आभास हो जाता है कि इन संदर्भों में 'विभावानुभाव संचारी संयोगात्' देशभक्ति रस निष्पन्न हो जाता है। अपने-अपने जन्म स्थानों के प्रति, प्रान्तों के प्रति अपने इन प्रान्तों के सौंन्दर्य के कारण उद्दीप्त उनका देश-प्रेम, देश-भक्ति रस का रूप धारण कर प्रवाहित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्लावित एवं आह्लादित कर देता है।

शिल्पगत विशेषताओं में साम्य—अंतर पर दृष्टि डालते समय इन दोनों महान हस्तियों के व्यक्तित्व के साम्य एवं अंतर के प्रति सहजरूप से ध्यान आकृष्ट हो जाता है। इन दोनों के व्यक्तित्व का उल्लेखनीय साम्य है कि इन्होंने किसी लौकिक आलम्बन का गुणगान कर कुछ सोने-चाँदी को प्राप्त करने से, अपने अलौकिक आलंबन का गुणगान करते हुए भिक्षाटन से संतुष्ट होकर अपना जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझा। इसे ही दोनों ने अपना जीवन-लक्ष्य बनाया। घोर मर्यादावादी होकर दोनों ने "बन्दौ सन्त-असज्जन चरना" कहकर पिपीलिकादि ब्रह्मांड पर्यंत की वन्दना की। शास्त्र-ज्ञान के अव्यावहारिक रूप का तद्वारा बाह्याडम्बरों का विरोध दोनों ने किया। समन्वय भावना, परधर्म सहिष्णुता, सदाचार की भावना, सांसारिकता के प्रति निष्कामभाव, सरल एवं सादा जीवन आदि जनकल्याणकारी तत्वों को इनकी रचनाओं में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। वास्तविक रामभक्ति के ये ही मूल आधार हैं।

दोनों के सिद्धान्त निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति-सभ्यता पर आधारित मानवता के सिद्धान्त हैं। मानवता पर आधारित सनातन धर्म को इन्होंने अपनाया जिसकी नींव भारतीयता है जो अत्यंत व्यापक है। इन दोनों ने मानवता के व्यापक क्षेत्र में हिन्दू धर्म को जीवित रखने की पृष्ठभूमि बनाई। इनका विश्वास है कि रामनाम के महत्व से स्वस्थ मानव समाज की स्थापना संभव है। 'विनयपत्रिका' एवं कीर्तनों के मूल में भक्ति-संगीत एवं सदाचार का महत्व, उसका लोक-कल्याणकारी रूप आदि का अथाह संदेश निहित है।

रचनाओं की दृष्टि से दोनों साधकों के रचना-व्यासंग में भी पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। राम के अनन्य आराधक होते हुए भी दोनों ने अन्य देवी-देवताओं का स्मरण करना उनकी कथाओं को अपनी रचनाओं-कृतियों का इतिवृत्त बनाना

नहीं छोड़ा। सम्भवतः इन्होंने अपने समाज को केवल राम कथा सम्बन्धी ज्ञान देना ही नहीं; कृष्ण की लीलाओं का भी आस्वादन अपने समाज को कराना चाहा। कारण यह हो सकता है कि उस समय की जनता में संस्कृत भाषा के ज्ञान का अभाव था। अतः वह रामायण, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थों की कथावस्तु से अनभिज्ञ थी। त्यागराज भागवतोत्तम 'प्रह्लाद का चरित्र' (प्रह्लाद की कथा), सीता-राम की कथा आदि के प्रचार के द्वारा समाज में भक्ति की, सुगमतर ढंग से स्थापना कर पाए। त्यागराज का 'नौका चरितम' कृष्ण कथा पर आधारित श्रृंगार रस प्रधान काव्य है। त्यागराज की एक और स्वतंत्र रचना है—'प्रह्लाद भक्ति विजयमु' जो शान्त रस प्रधान काव्य है तथा 'सीतारामविजयमु' 'मानस' का स्मरण दिलानेवाला प्रबंध काव्य कहा जा सकता है। लगता है कि इन तीनों रचनाओं द्वारा त्यागराज ने समाज को यह बतलाना चाहा कि भक्ति की सदा विजय होती है।

त्यागराज के समय तक, दक्षिण में एक प्रक्रिया प्रसिद्ध हो चुकी थी, जिसे 'यक्षगान' कहा जाता है। यह एक 'लोक नाट्य' की प्रक्रिया थी जो उस समय केवल मनोरंजन के साधन के रूप में प्रचलित थी। परन्तु धीरे-धीरे इसका साहित्यिक महत्व बन चुका और इसने लोक साहित्य का एक महत्वपर्ण रूप धारण कर लिया। इस प्रकार मनोरंजन के साधन के रूप में आरम्भ किये गये यक्षगान लोक साहित्य के स्तर को प्राप्त कर एक विशेष साहित्यिक प्रक्रिया के रूप में प्रसिद्ध हुए। कठिन से कठिन विषय को भी अनपढ़ अज्ञानी सधारण से साधारण जनता की समझ में आसानी से लाने की इस प्रक्रिया का साहित्य के क्षेत्र में भी भव्य स्वागत हुआ क्योंकि इसने लेखक की उद्देश्य पूर्ति का एक सफल साधन बनकर लोक साहित्य के विशेष साहित्यिक प्रक्रिया का रूप धारण कर लिया। इसका लेखक यही चाहता है कि उसकी रचनाओं का इतिवृत्त अधिक से अधिक लोगों में प्रचलित हो और वे उसका लाभ उठाएँ। इसी उद्देश्य से भक्ति कि अधिक से अधिक प्रचार के लिए त्यागराज ने अपनी उपर्युक्त तीनों रचनाओं को यक्षगान के रूप में प्रस्तुत किया तथा इसी माध्यम से सीताराम, कृष्ण-गोपिकाओं तथा भागवतोत्तम प्रह्लाद का परिचय समाज को कराते हुए भक्ति की सदा विजय को प्रमाणित किया कि सदा भक्ति की ही विजय होती रहेगी। इतना ही नहीं उन्होंने भक्ति को ज्ञान तथा योग से अधिक सरल एवं सुगम प्रमाणित किया।

अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि त्यागराज ने साधारण जनता की भाषा को ही नहीं उनकी बुद्धि एवं मानसिक स्तर को पहचान कर, उनकी रुचि को समझ कर भक्ति का प्रचार करने का सुलभ से सुलभ मार्ग का चयन किया, जबकि तुलसी ने भी जनता के स्तर को पहचान कर ही भाषा की दृष्टि से जागरूकता से काम लिया, मगर किसी अन्य साहित्यिक प्रक्रिया का सहारा लेना सम्भवतः आवश्यक नहीं समझा।

समाज के सहज प्रहरी, जागरूक विचारक, मानव-मनोविज्ञान के गहरे पारखी, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के प्रतीक, उसके निष्ठावान् पुजारी, महान् स्रष्टा जीवन द्रष्टा, दोनों भक्त कवि यह भलीभाँति जानते थे कि जनकल्याण के लिए लोकमर्यादा का पालन कितना ही आवश्यक है। इनकी रचनाओं में आध्यात्मिकता, सांस्कृतिकता, सामाजिकता एवं धार्मिकता की व्यापक ही नहीं गहनतम चर्चा-विश्लेषण पाया ज़ाता है। साथ-साथ नैतिक मूल्यों की उदात्तता का प्रतिपादन भी।

संस्कृति-सभ्यता, संगीतज्ञता, विद्वत्ता, भक्ति, गीतात्मकता, समन्वय आदि सद् लक्षण साधारणतया एक स्थान पर एकत्रित होकर पाए नहीं जाते हैं। परन्तु हमारे भारतवासियों के सौभाग्यवश ये सारे सद् लक्षण हमें इन दोनों व्यक्तियों में एक स्थान पर पाये गये हैं।

इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा दो या दो से अधिक कवियों के व्यक्तित्व कृतिव के साम्य एवं अंतर ही हमारे समाने नहीं लाये जाते हैं, बल्कि उनके कारणों पर भी प्रकाश डाला जाता है। तब हमें पता चलता है कि साम्य के मूल में किस प्रकार की भावात्मक एकता निहित है जो भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर आधारित है। जो भी अन्तर कवियों की रचनाओं में पाया जाता है। वह कवि के व्यक्तित्व और कुछ उनके अपने-अपने प्रान्तों की भौगोलिकता और कुछ प्रान्तीय संस्कृति-सभ्यता के कारण है जिसका प्रभाव अनिवार्यतः लेखक पर रहता है।

✦✦✦

उपसंहार

भारतीय रस प्रक्रिया की अपनी सुदीर्घ परंपरा रही है। जो एक ओर द्रुहिण (ब्रह्मा) तथा दूसरी ओर वासुकी की परम्परा से जुड़ी है। अपनी-अपनी परिधियों में रहते हुए रस परिकल्पना मूल्यांकन की धारणा लेकर चली है। द्रुहिण ने आठ रसों को मान्यता प्रदान की है, तथा वासुकी ने नौ रसों को। "नौ रसों" में शान्त को स्थान प्राप्त हुआ। रस संख्या की इस भिन्नता को भरत ने भी द्रुहिण की परम्परा में स्वीकारा। "एको रसः करुणएव" से आरम्भ होकर रस-भेदों की यह स्वीकृति आज तक चली आ रही है। संस्कृति परिवेश युगबोध के कारण साहित्य की भावधारा में परिवर्तन, पाश्चात्य चिंतन का संपर्क एवं प्रभाव, आधुनिक काव्य क्षेत्र में रस-संख्यान् के विकास की मूल प्रेरणाएँ हैं। फलस्वरूप रस राज शृंगार, एक ही रस माने जाने वाला करुण आदि के स्थान पर अनेक स्वतंत्र रसों की परिकल्पना हमें दृग्गोचर होती है। भरत के द्वारा उल्लिखित आठ रस, तदनन्तर नाटकों में भी स्थान प्राप्त शान्त, फिर प्रेयान वात्सल्य आदि ने इस संख्या में जुड़कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया है। तदनन्तर ये रस संख्या की वृद्धि में सहायक बने। इनके साथ-साथ भक्ति, प्रकृति, देश भक्ति, मराठी काव्य शास्त्र में उदात्त रस के सदृश गणना की गई। "नाट्य-रस", "काव्य-रस" भाव रस का भेद-भाव समाप्त हो गया। अधुनातन धारणा यह है कि कोई भी भाव रसत्व की योग्यता के निर्णायक तत्वों के आधार पर खरा उतरने के उपरान्त रसत्व प्राप्त कर सकता है। स्वतंत्र रस के रूप में घोषित हो सकता है।

त्यागराज के कीर्तन बिहारी के दोहों की तरह देखने में छोटे होने पर भी "गागर में सागर" कहलाने योग्य हैं। मन पर इनका प्रभाव भी अत्यंत गम्भीर होता है। ये कीर्तन "मुक्त मौत्तिक" होते हुए भी उन्हें "एकान्तिका" "सात्विक" भक्ति के सुनहरे सूत्र में बाँधकर रामचन्द्र के चरणों में अर्पित किये हैं। इनके कीर्तनों में पाये जाने वाले भक्ति रस के अनेक रूपों के असंख्य विभावादि की जितनी शायद ही सम्भव हो। प्रत्येक रस का प्रतिपादन भक्तिरस के अन्तर्गत कर उनसे संबंधित असंख्य विभावानुभावों को बटोर कर वे स्वयं धन्य होकर संसार को भी मुक्ति का मार्ग दिखाया।

वैदिक ऋषियों की सर्वप्रथम यह अनुभूति रही कि उद्‌गान से ही देवताओं को मनुष्य के निकट लाया जा सकता है। उदगान हृदय और कंठ का गान नहीं है। उदगान या उदगीक तो मस्तिष्क के अज्ञात स्वरों में बँधकर, ब्रह्मरन्ध्र में गुंजित होता है। ये उदगान मानस के समस्त द्वारों को खोजकर, आनन्दातिरेक की धारा में प्रवाहित होता है। वैष्णव संतों ने भी इसी संगीत को अपनी भक्ति का सोपान बना डाला। किन्तु त्यागराज और तुलसी के संगीत देह और प्राण की क्रियाओं को सुप्त कर, मानस की अन्धशून्यता में आत्मा के सम्पुट को मुक्त करने का एक अद्‌भुत प्रयास है। उनके संगीत में अद्वैत वेदान्त का रूपान्तरण है। वह तो मूलराग का प्रसार है।

संगीत के क्षेत्र में कई "नाद"—रागों की सृष्टि कर त्यागराज "नादब्रह्म उपाधि से विभूषित हुए हैं। ये जितने संगीतज्ञ थे उतने ही भक्त भी। अपने समय में ही नहीं आज भी त्यागराज इन दोनों क्षेत्रों में जगत् प्रसिद्ध हैं। कालान्तर में इन्हें साहित्यकार का रूप भी प्राप्त हुआ है। आज साहित्यकार के रूप में उतने ही प्रसिद्ध हैं जितने कि संगीतज्ञ एवं भक्त के रूप में। बाल्यावस्था से ही उन्हें संगीत एवं भक्ति का वातावरण प्राप्त था। संगीत के प्रति उनका आकर्षण उनके लिए जन्मजात वरदान था। भक्ति के वातावरण ने उसे उद्दीप्त कर दिया। अतः संगीत की साधना के आलंबन के रूप में राम को प्रधानता दी। इनके अनुसार "ओऽम्" नाद से ही सभी प्रकार के शब्द उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि निगमागम तथा वेदशास्त्रों का मूलभूत आधार यही "ओऽम्" है। संगीत इसी "ओऽम्" का परमसार है, मानव को, विश्व को अखिल आनन्द एवं अपार शांति प्रदान करने वाला है। अतः त्यागराज इसे "दिव्य" मानते हैं। त्यागराज के अनुसार यही दिव्यसंगीत धरती पर राम के रूप में अवतरित है। इन्होंने राम के धनुष-बाण से संगीत की तुलना कर सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया। इस प्रकार भक्ति त्यागराज की "द्वितीय प्रकृति बन गई। फलतः भक्ति ही उनका सर्वस्व बनकर आलम्बन राम के अवतार की विशिष्टता के वर्णन का साधक बन गया। संगीत से उसे प्रोत्साहन मिला। पूर्व जन्म के सुकृत से श्री रामकृष्णानन्द स्वामीजी के द्वारा "तारकनाम" का उपदेश भी प्राप्त हुआ। "सोने पर सुहागा"—की तरह इस संगीत-भक्ति की अकुंठित साधना से 21 वर्ष 15 दिन में 96 करोड़ तारकमंत्र का जप समाप्त कर त्यागराज ने अपने आराध्य के दिव्य-दर्शन प्राप्त किये।

भक्ति मार्गीय सभी महात्माओं ने भक्ति रस की पुष्टि की प्रक्रिया का वर्णन किया है। इन दोनों साधकों के गीतों में इसी प्रक्रिया के शास्त्रीय अध्ययन पर आधारित अनेकानेक सुंदर उदाहरण प्राप्त होते हैं। विभावानुभाव संचारियों के साथ भक्ति को प्रतिपादित कर भक्ति रस वारिधि को प्रवाहित किया तथा इसे श्रोता एवं समाज तक भी पहुँचाया। उस समय भक्ति रस की प्रतिष्ठा उनका लक्ष्य नहीं था। परन्तु आज ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि भक्ति रस के प्रतिपादन की

दृष्टि से इनका काम कितना ही स्तुत्य है। प्रत्येक पद-कीर्तन स्वतंत्र होते हुए भी रसत्व प्रतिपादन की दृष्टि से समृद्ध भी हैं। "इस प्रकार के स्वतंत्र-मुक्तक रचनाओं में भी रससिद्धि संभव है" यह प्रतिपादन इनके गीतों में हुआ है। भक्ति में परवश होकर श्रद्धा पूर्वक इन्होंने जो काम किया है उसके फलस्वरूप ही उनके गीतों में "भक्ति-रस" प्रवाहित हुआ है।

इस पुनीत भारत में कविता और कालिदास में अभेद माना जाता है। उसी प्रकार दक्षिण भारत में संगीत और त्यागराज में कोई भेद नहीं देखा जाता है। दोनों का इतना अटूट संबंध है कि निश्चय ही त्यागराज के बिना दक्षिण के कर्णाटक संगीत का कोई महत्व नहीं है। संगीत के क्षेत्र में "कर्नाटक संगीत के त्रिमूर्ति", "त्रेताग्नी" कहलाने वाले तीनों महारथियों में—"श्याम शास्त्री", "मुत्तुस्वामी दीक्षितार" तथा त्यागराज—त्यागराज आज भी अपनी भक्ति एवं संगीतज्ञता के कारण लोकप्रिय हैं। इनका तपोनाद तीन उपशाखाओं में प्रवाहित है। संगीत, भक्ति एवं साहित्य। जीवन में इसी क्रम से इन्होंने इन तीनों को स्थान दिया है। मोक्ष के साधनों के रूप में प्रथम दोनों को महत्वपूर्ण माना गया है। संगीत त्यागराज का छठा प्राण है। क्योंकि वह "ब्रह्मानंद स्वरूपा" है जो स्वरों पर आधारित है। ये स्वर ही मानव का जीवन हैं। हृदय की धड़कन तथा नब्ज़ के स्पंदन में भी एक लययुक्त नाद सुनाई देता है। यही नाद संगीत की आत्मा है। अग्नि में उष्ण, हिम में शीतलता, जल में तरलता के समान यह नाद संगीत में व्याप्त है। मानव-जीवन में इसका महत्वपूर्ण स्थान तो है ही। विचित्र-सी बात यह है कि पशु-पक्षी तथा सर्प जैसे विषधर जंतु को भी यह नाद अपने वश में कर लेता है।

तुलसी एवं त्यागराज संसार के सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रामभक्त हैं। विनयपत्रिका एवं कीर्तनों के माध्यम से राम कथा के भीतर ही इन दोनों भक्तों के चरित्र का विकास हुआ। विशिष्ट एवं सामान्य जनता में इनकी लोकप्रियता का यही कारण है। यह इनके चरित्र की सर्वप्रथम विशेषता है। इन दोनों की उल्लेखनीय दूसरी विशेषता यह है—लोक-वेद की मर्यादा के प्रति उनकी आस्था। तीसरी विशेषता है—विश्वकल्याण की कामना। वास्तव में इसके कारण ही ये दोनों राम के अनन्य उपासक बनें। ये दोनों उस विश्व का कल्याण चाहते हैं जिसमें लोक एवं वेदों की मर्यादा को स्थान न मिला हो, जो संसार इस मर्यादा से वंचित रहा हो। इस दृष्टि से यह लोक प्रथम विशेषता मानी जा सकती है, क्योंकि वैयक्तिक सुख शान्ति इनके जीवन का लक्ष्य नहीं था। "स्वान्तः सुखाय" जो काव्य रचना हुई उसने "समपिर सुखाय" का रूप धारण कर समाज कल्याण का मूल बन गया।

आत्म निवेदन या नैवेद्य नित्य एवं नैमित्तिक पूजा विधान का अंतिम चरण है जिसमें भक्त-भगवान को जो भी समर्पित कर सकता है, पकवान, मेवा-मिठाई,

फल-तांबूल आदि समर्पित करता है। इस प्रकार के नैवेद्य की शक्ति न होने पर वह अपने आपको निवेदन करता है—अपने आपको भगवान को समर्पित करता है जो अत्यंत महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान निवेदन है और यह एक ऐसा निवेदन या नैवेद्य है जो वास्तव में भगवान अपने भक्तों से चाहता है। इससे बढ़कर ईश्वर को तृप्त करने वाला कोई अन्य पदार्थ इस संसार में नहीं है। भक्त के लिए यह ही मोक्षप्रदायिनी है। भगवान यही चाहते हैं कि भक्त सारे संसार को, सांसारिकता को त्याग कर आत्म निवेदन करें—ऐसा ही भक्त, "भागवतोत्तम" कहलाता है तथा मोक्ष का सर्वप्रथम अधिकारी बन जाता है। शबरी ने इसी प्रकार के आत्म निवेदन से मोक्ष प्राप्त किया। भगवान को आँख भर देखकर, स्वादिष्ट फल समर्पित कर, पुलकितगात होकर, भगवान के चरणारविन्दों को अपने आपको समर्पित कर इन कुल के स्वामी रामचन्द्रजी के समक्ष ही "पुनरावृत्ति रहित (जनन-मरण के चक्कर से निवृत्त होकर) पद को उसने प्राप्त किया। विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से भक्ति रस का प्रवाह इस प्रकार के कीर्तनों में दृग्गोचर होता है।

"आत्म निवेदन" कर सात्विक एवं एकान्तिक भक्ति को अपनाने वाले भक्तों में अग्रगण्य है भक्त प्रह्लाद। तुलसी एवं त्यागराज दोनों ने इन्हें अपना मार्गदर्शक बनाया। इनके बतलाए हुए मार्ग पर चलकर इन्हीं की भाँति दोनों ने मोक्ष प्राप्त किया।

तुलसी एवं त्यागराज के समय में ढाई सौ वर्षो का अंतर है। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दोनों के समय की परिस्थितियों में ही नहीं, भावनाओं में, जीवन विधानों में समानता दिखाई देती है। समकालीन कवियों की रचनाओं में यह भाव-साम्य संभव है। इसके कारण अनेक हो सकते हैं, परन्तु इतना अंतर होने पर भी दिखाई देने वाला भाव साम्य यही प्रामाणित करता है कि "भारत की संस्कृति एवं सभ्यता देश काल की परिस्थितियों से बँधी हुई नहीं है। एक भावात्मक एकता जो भारत की मूलभूत एकता का परिचायक है, इनमें विद्यमान है। इस भावात्मक एकता के कारण ही भारत की अखंडता चली आ रही है। इस अध्ययन से एक ओर सत्य प्रकाश में आया है। वह यह है कि तुलसी के भव्य व्यक्तित्व ने प्रत्येक समय में प्रत्येक सामाजिक प्राणी को प्रभावित किया है। उनके परवर्ती प्रत्येक भक्त ने यह प्रभाव ग्रहण किया है उनमें से त्यागराज का नाम उल्लेखनीय है। आज भी तुलसी के इस प्रभाव से, उनसे प्रभावित त्यागराज के प्रभाव से सारा भारत महक उठा है। तुलसी के "मानस" सरोवर में स्नान कर हर दिन विनयपत्रिका या त्यागराज के गीतों के पाठ से एक विनती भगवान के दरबार में प्रस्तुत करने की दिनचर्या बनाकर प्रत्येक भारतवासी धन्य हो जाता है। इस प्रकार इनके "कारण जन्मी" रचनाएँ आज भी अपने प्रभाव से साधारण मानव को भी भक्ति रस में स्नान कर तन-मन से पवित्र होने का सौभाग्य प्रदान करती है।

"यदि सम्पूर्ण मानव-समाज भक्तिपूर्ण जीवन को अपना ले तो संसार की सारी विषमताएँ दूर हो सकती हैं। राम की कृपा दृष्टि उसे संप्राप्त हो सकती है। राम की "कृपा दृष्टि" का तात्पर्य उस प्रकार के जीवन से है जो उच्चतम मानव जीवन का आदर्श हो।" इन दोनों भक्तों का यही अमर संदेश है।

✦✦✦